NARAYAN

DHARAM JYOTI

(HINDI)

IGNCA

धर्म-ज्योति

जगत नारायण

With best Compliments
to
Dr. Suniti Kumar Chatterji.
Jagatnarayan.
Theosophical Building,
P.O. Bankipore,
Patna,
29.4.34

धर्म-ज्योति

॥ ॐ ॥

धर्म-ज्योति

लेखक—

जगत नारायण,
बी० एस्-सी०, एफ़् ० टी० एस् ० ।

प्रकाशक—

बिहार प्रान्तीय थियोसौफ़िकल फेडरेशन,
पटना ।

प्रथम संस्करण] [मूल्य १)

१९३४

विषय सूची

भूमिका

इस पुस्तक में हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की गई है, और यह दिखलाया गया है कि इसके आदर्श तथा सिद्धान्त किस उच्च कोटि के हैं और हम ने इनको कितना नीचे गिरा रखा है। आज भी हमारे साधारण सामाजिक जीवन में उन सिद्धान्तों की नक़ल वर्त्तमान है। पर असलियत को हम प्रायः बिल्कुल भूल गये हैं। इस लिये इस पुस्तक में अपने समाज के साधारण विश्वासों तथा रस्म रिवाजों को लेकर इस बात पर विचार करने की कोशिश की गई है, कि वास्तव में इनके भीतर क्या तथ्य छिपे हैं, हमने इनको कितना नीचे गिरा रखा है और इनका असली आशय अथवा अभिप्राय क्या होना चाहिये।

इस पुस्तक में इस बात के दिखलानें की भी कोशिश की गई है, कि धर्म का प्रत्येक सिद्धान्त किसी न किसी प्राकृतिक नियम के आधार पर अवलम्बित है। धर्म में अन्ध-विश्वास का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि धर्म का तो आशय अज्ञानता के अन्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाना है। इस लिये धार्मिक सत्यों को ठीक वैज्ञानिक नियमों की नाईं मानना चाहिये। कर्म, पुनर्जन्म, विकास, युगधर्म, आदि, केवल तर्क वितर्क के ही विषय नहीं हैं; बल्कि वास्तव में सब के सब एक २

प्राकृतिक नियम हैं। योग बल द्वारा इनका अनुभव किया जा सकता है; और इस लिये वैज्ञानिक नियमों की नाईं इनकी सत्यता की जांच भी की जा सकती है। हां, दोनों की जांच की रीतियों में अन्तर अवश्य है, जो इस पुस्तक के अवलोकन से विदित होगा। यह सुन कर साधारणतः आश्चर्य होता है कि भला कोई मनुष्य जीते जी पुनर्जन्म अथवा मृत्यु पश्चात् जीवन की जांच कैसे कर सकता है। पर योग बल द्वारा ऐसा किया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का भली भांति समर्थन होता है; और आज भी हमारे मध्य में ऐसे अनेक व्यक्ति वर्त्तमान हैं, जिन्हों ने योग बल द्वारा अपनी आन्तरिक गुप्त शक्तियों का विकास किया है, और उन शक्तियों के प्रयोग द्वारा अपने २ निजी अनुभव के अवलम्ब पर इन धार्मिक सिद्धान्तों की सत्यता की भी जांच की है और इनका पूर्ण रूप से समर्थन किया है।

इस लिये यद्यपि इस पुस्तक में वर्णित सभी नियमों को केवल हिन्दू धर्म के साधारण विश्वासों तथा वर्त्तमान विधि विधान से ढूंढ़ निकालने की कोशिश की गई है; पर वास्तव में इनमें से प्रत्येक नियम को प्राकृतिक समझ कर उसे व्यापक रूप में देखने की कोशिश करनी चाहिये, अर्थात्, प्रत्येक नियम को मनुष्य मात्र के लिये लागू समझना चाहिये। इसमें धर्म परिवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म परिवर्तन का प्रचलित भाव कैसा निरर्थक है, यह भी आगे पढ़ने से प्रगट होगा। पर

आशा की जाती है कि उदार भाव से लेने से मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी मूल सिद्धान्तों पर इस पुस्तक द्वारा कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

इस पुस्तक से हिन्दू धर्म की विचित्रताओं के साथ २ थियौसोफ़ी (Theosophy) के मूल सिद्धान्तों पर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा। वास्तव में थियौसोफ़ी और ब्रह्म-विद्या में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों केवल दो भिन्न २ भाषाओं के शब्द हैं। नहीं तो अर्थ दोनों का एक ही है। खेद की बात है कि बहुत लोग थियौसोफ़ी का नाम ही सुन कर भड़क जाते हैं। पर ऐसा करना ठीक नहीं है। लेखक को धर्म सम्बन्धी जो कुछ थोड़ा ज्ञान प्राप्त हो सका है, वह अधिकतर अङ्गरेज़ी भाषा में प्रकाशित थियौसोफ़ी के ही पुस्तकों से हुआ है; और इस पुस्तक में जो कुछ दिया गया है, वह भी प्रायः उन्हीं पुस्तकों के आधार पर है। उन पुस्तकों के पढ़ने से अपने धर्म की ख़ूबियां विशेष रूप से देखने में आईं, और धर्म के अनेक गहन विषयों पर विशेष प्रकाश पड़ा। थियौसोफ़ी की पुस्तकों की शैली कुछ ऐसी विचित्र है, कि प्रत्येक धर्म के मनुष्यों को इनके पढ़ने से अपने ही अपने धर्म की विशेषतायें प्रगट होने लगती हैं। इस पुस्तक के पढ़ने से भी विदित होगा, कि इतना ही नहीं कि थियौसोफ़ी और हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों में कुछ अन्तर नहीं है, बल्कि हमें यह भी कहना पड़ेगा कि थियौसोफ़ी की पुस्तकों से हमारे धर्म के अनेक गूढ़ तथा गहन विषयों पर विशेष प्रकाश

पड़ा है, जो पहिले हमें उतने स्पष्ट तथा संस्कृत रूप में उपलब्ध नहीं था। खेद की बात है कि अभी तक हिन्दी भाषा में इन पुस्तकों का अनुवाद बहुत कम हो पाया है।

ऐसे कठिन विषय की व्याख्या कुछ सहज बात नहीं है। इसमें मत भेद का भी काफ़ी मौक़ा है। इसलिये इन सत्यों को इस भाव से पाठकों के सामने उपस्थित नहीं किया जाता है कि बिना समझे बूझे वे इन्हें अन्तिम सत्य समझ कर अपना लें। वास्तव में सत्य के अनेक रूप हैं और सत्य को देखने के दृष्टिकोण भी अनेक हैं। एक विशेष दृष्टि-कोण से देखने से सत्य का जो रूप प्रगट हुआ है, उसे इस पुस्तक में देने की कोशिश की गई है। प्रत्येक पाठक को अपना अन्तिम निर्णय स्वतः करना चाहिये। पर आशा की जाती है कि साधारण भाव से इस पुस्तक से भी प्रत्येक व्यक्ति को धर्म तथा जीवन सम्बन्धी नियमों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

हां, लेखक की अल्पज्ञता के कारण इस पुस्तक में अनेक प्रकार की त्रुटियां अवश्य रह गई होंगी। धार्मिक सिद्धान्तों को यथा शक्ति शुद्ध रूप में दिखलाने की कोशिश की गई है। हो सकता है कि वर्णन करने की शैली में कुछ भूलें हो गई हों, पर शायद मूल सिद्धान्त अपने शुद्ध रूपों में पाये जा सकेंगे। आशा है, पाठक गण भाषा तथा भाव की अशुद्धियों को क्षमा करेंगे और उन अशुद्धियों के सुधार के निमित्त अपनी योजनाओं को भेजने की कृपा करेंगे। उन्हें धन्यवाद पूर्वक स्वीकार किया

जायगा और यदि सम्भव होगा तो अगले संस्करण में उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

शायद यहां पर इस बात का भी संक्षेप से वर्णन कर देना अनुचित नहीं होगा कि इस पुस्तक के लिखने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ। सन् १९३२ के दिसम्बर महीने में कुछ मित्रों के साथ मैं भी अड्यार, जो थियोसौफिकल सोसाइटी का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है, थियोसौफिकल कान्वेन्शन (Convention) अर्थात् वार्षिकोत्सव में शरीक होने गया था। पहिले से ही राय थी कि कान्वेन्शन तथा कृष्ण जी (मि० जे० कृष्णमूर्त्ति) का स्टार कैम्प समाप्त होने पर भी स्वास्थ्य लाभ तथा अन्य विचारों से वहां एक महीने तक और रहूँगा। वहां रह कर मि० सी० जिनराजदास की अनुमति के अनुसार कुछ कार्य करने का विचार था। कान्वेन्शन के दिनों में ही जब मैं अपने बिहार प्रान्त के कुछ अन्य सदस्यों के साथ उनसे मिलने गया, तो यह प्रश्न उठा कि वहां रह कर मैं क्या कार्य करूँगा। कई प्रकार की योजनाओं के बाद थियौसोफ़ी के आधार पर हिन्दी में कोई पुस्तक लिखने की राय ठहरी। इसकी अभिलाषा मुझे बहुत दिनों से थी, पर कभी अवसर नहीं मिलता था। इस बार यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ। मि० जिनराजदास ने इस कार्य में विशेष सहायता दी। उन्हों ने अपने कुछ प्राचीन नोटों को मुझे दिया, कि उन्हीं के आधार पर अथवा वैसा ही कुछ लिखूँ। मैं ने सोच बिचार कर इस पुस्तक की विषय सूची उन्हें दिखलायी।

उन्हों ने इसे बहुत पसन्द किया और कहा कि हिन्दी भाषा में ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही उन्हों ने बहुत प्रोत्साहन भी मुझे दिया। मैं ने स्टार कैम्प समाप्त होने पर इस काम में हाथ लगाया, और उन्हीं के आशीर्वाद का यह फल था कि केवल तीन ही सप्ताहों में मैं समस्त पुस्तक को आद्योपान्त लिखने में समर्थ हो सका। अड्यार के पवित्र, शान्ति पूर्ण तथा सद्प्रेरक बातावरण से भी विशेष सहायता मिली।

सन् १९३३ के फरवरी महीने के आरम्भ में मैं अड्यार से पटना वापस आया और उसी महीने में यह पुस्तक छपने के लिये प्रेस में दी गई। छपाई भी शुरू हो गई। पर मैं पुनः ज़ोरों से बीमार पड़ गया। इस लिये छपाई का काम स्थगित रहा, क्योंकि मैं प्रूफ नहीं देख सकता था। कई महीनों के बाद जब कुछ स्वास्थ्य अच्छा हुआ, तो फिर छपाई का कार्य आरम्भ हुआ। यही कारण है कि क्यों इस पुस्तक के प्रकाशित होने में इतना बिलम्ब हुआ है—एक वर्ष से भी अधिक समय लगा है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में बिहार प्रान्तीय थियोसौफ़िकल फ़ेडरेशन (Theosophical Federation) के संयुक्त मन्त्री, बाबू राधाकान्त शरण, ऐसिस्टैन्ट कमिश्नर, इन्कम् टैक्स, पटना, तथा बाबू राम जीवन सिंह, मुन्सिफ़, (हाल मुक़ाम) गया; तथा इसके प्रधान मन्त्री बाबू चन्द्र देव नारायण, वकील, छपरा, से विशेष सहायता मिली है। इनकी सहायता के बिना छपाई के आर्थिक प्रश्न का हल होना असम्भव था। इस लिये मैं इन

का बहुत अनुगृहीत हूँ। मैं अपने प्रान्त के अनेक टी० एस्० लौजेंज़ (T. S. Lodges) का भी अनुगृहीत हूं, जिन्हों ने आर्थिक सहायता के विचार से इस पुस्तक के कुछ जिल्दों की क़ीमत पेशगी जमा कर दी है। इस पुस्तक के मुद्रक, बाबू रमेश प्रसाद, बी० एस्-सी०, का भी मैं कुछ कम अनुगृहीत नहीं हूँ, क्योंकि उन्हों ने कई प्रकार से मेरी सहायता की है।

आशा है, हिन्दी भाषा-भाषी जनता, त्रुटियों को क्षमा कर, हिन्दू धर्म तथा हिन्दी भाषा की सेवा के नाते, इस पुस्तक को अपनाने की उदारता दिखलायेगी। थियौसोफ़ी की पुस्तकों में अनेक अमूल्य रत्न छिपे पड़े हैं। इनके ज़रिये से अनेक मार्मिक तत्त्वों का रहस्य उद्घाटन पहिले पहिल संसार के सामने स्पष्ट रूप से हुआ है। पर हिन्दी भाषा में उनके अनुवादों को प्रकाशित करने में आर्थिक कठिनाइयों की बाधायें विशेष रूप से उपस्थित होती हैं। इस लिये यदि इस बार इस पुस्तक को अपना कर हिन्दू समाज ने मुझे प्रोत्साहित किया, तो अवसर पा कर उपरोक्त अमूल्य रत्नों में से कुछ को अपनी भाषा में अवतरित करने की अवश्य चेष्टा करूँगा।

मु० व डा० घ० दोन,
ज़िला सारन,
ता० २५-३-१९३४।

जगत नारायण

धर्म-ज्योति

पहिला अध्याय

धर्म का पतन–निर्जीव रूढ़ियां

किसी धर्म के जीवित्त अथवा निर्जीव होने का, किसी धर्म की गुरुता अथवा लघुता का, पता उस धर्म पर चलने वालों के जीवन से चलता है। अगर इस कसौटी पर आज हिन्दू धर्म को कसा जाय तो साफ़ २ ज़ाहिर हो जायगा कि आज हमारे धर्म का कैसा घोर पतन हुआ है। एक समय था जब हमारे यहां धर्म का सच्चा प्रचार था, जब धर्म ही जीवन था। इतिहास तथा धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने से ऐसा पता चलता है। पर बहुत दिन नहीं हुए बीच में ऐसा भी समय आ गया था जब पढ़े लिखे विद्वान हिन्दू अपने को हिन्दू कहने से शर्माते थे। विदेशी लोग हिन्दू धर्म को जंगली, असभ्य लोगों का प्रारम्भिक धर्म बतलाते थे। भगवान की असीम कृपा से आज समय का रुख़ बदला हुआ दिखाई पड़ता है और हिन्दू धर्म की ओर विदेशियों का भी ख़्याल बदल गया है। आज सारे संसार में इस धर्म की महत्ता, गम्भीरता और सत्यता की चर्चा है। वेही विदेशी जो एक समय इसकी इतनी निन्दा करते थे, आज इसकी ओर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते हैं और भारतवर्ष को तीर्थस्थान समझते हैं। पर हम हिन्दुओं ने क्या

किया है ? ग़ौर से देखा जाय तो मालूम होगा कि हम जहां के तहां पड़े हुए हैं । समय का प्रवाह सारी मनुष्य जाति को आगे की ओर बढ़ाये लिये चला जा रहा है, पर हम अभी भी बेख़बर सोये पड़े हैं । हमारे जीवन ने धर्म के तत्त्वों से प्रायः नाता तोड़ रखा है । हम आंख बन्द किये बिना सोचे समझे केवल लकीर के फ़क़ीर बने चले जा रहे हैं । धर्म को हमने केवल गुड़ियों का खेल बना रखा है । कैसे दुःख की बात है । ये कोई बनावटी बातें नहीं हैं । आगे पढ़ने से अथवा थोड़ा भी सोचने विचारने से प्रत्येक मनुष्य इन बातों की सचाई को स्वयं देख सकता है ।

सोचने की बात है कि हमारे धर्म का बड़प्पन किस बात में है । क्या कारण है कि जिस को दूसरे देश तथा दूसरे धर्म वाले पहले घृणा एवं अवहेलना की दृष्टि से देखते थे, वेही पीछे उस को श्रद्धा के भाव से देखने लगे ? संक्षेप में, कारण यह है कि जीवन सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों का जितना ख़ज़ाना हिन्दू धर्म की पुस्तकों में आज भी वर्त्तमान है उतना अन्य प्रचलित धर्मों की पुस्तकों में नहीं पाया जाता । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य धर्मों की पुस्तकों में सत्य अथवा ईश्वरोपासना का मार्ग नहीं है । हम आगे चल कर देखेंगे कि प्रत्येक धर्म अपनी २ जगह पर ठीक है । प्रत्येक में सत्य है । पर हिन्दू धर्म में जीवन सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों का विशेष अंशों में और अधिक विस्तार से वर्णन है ।

हम बहुधा ऐसी बातें सुन कर फूल जाया करते हैं और समझने लगते हैं कि हम से बढ़ कर कौन है, क्योंकि हमारा धर्म तो

सबसे बढ़ कर है। यह हमारी भूल है। धर्मों का एक दूसरे के साथ तुलना करके एक को बड़ा और दूसरे को छोटा बतलाना समझ की गलती है। वास्तव में सभी अपनी अपनी जगह पर ठीक हैं। इसलिये फूलने की कोई जगह नहीं। धर्म तो हमारा वही है जिसको हम जीवन में वर्त्तते हों। जिन सिद्धान्तों का, जिन आदर्शों का जीवन से सम्बन्ध नहीं वे हमारे नहीं।

एक बात और देखने की यह है कि प्रत्येक प्राकृतिक नियम शक्ति का एक २ अस्त्र है। यह एक साधारण कहावत है कि 'ज्ञान शक्ति है'। तो क्या हिन्दू धर्म के महान् प्राकृतिक नियमों के कारण हमारी शक्ति उसी परिमाण से बढ़ी हुई है? नहीं, हमारी नाईं शक्तिहीन जाति प्रस्तुत समय में इस संसार में दूसरी कौन है! इसका प्रधान कारण यही है कि हमने धर्म को अर्थात् प्राकृतिक नियमों को जीवन से अलग हटा रखा है।

फिर भी परम्परा से ये नियम हमारे रगोरेशे में, अङ्ग २ में प्रवेश कर गये हैं। किसी साधारण से साधारण अनपढ़े आदमी के पास चले जाइये और वह भी ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्म, इत्यादि महान् सत्वों की चर्चा साधारण बोलचाल में नित्य प्रति करता पाया जायगा। वह इन में से किसी के महत्त्व को नहीं जानता। लेकिन ये बातें उसके रक्त में प्रवेश कर गई हैं। समझे अथवा न समझे, पर वह अपने को इन से अलग नहीं कर सकता। इन में से एक २ नियम का ज्ञान ऐसा शक्तिशाली है कि ठीक से समझ में आ जाने पर वह सारे जीवन को बदल देता है, सारी दुनिया को पलट देता है। दूसरे देशवाले इस बात को देख कर

दंग रहते हैं कि भारत का एक साधारण से साधारण आदमी जीवन के इन गहन सिद्धान्तों को कैसे जानता है। इन सिद्धान्तों का थोड़ा भी ज्ञान पा कर वे जीवन में कहां से कहां पहुंच जाते हैं और रात दिन इन में रहते हुए भी हम ज्यों के त्यों ही पड़े रहते हैं, बल्कि दिनोंदिन नीचे ही की ओर खिसकते जा रहेहैं। पर हताश होने की कोई बात नहीं। बात असल यह है कि भीतर में हीरा मौजूद है पर उस पर कीचड़ों की तहें, काइयां जम गई हैं। इन को धोकर साफ करना होगा और फिर हीरे की झलक ज्यों की त्यों छिटक पड़ेगी।

हम जीवन के साथ तथा जीवन के नियमों के साथ बच्चों की तरह खेल कर रहे हैं। असलियत खो बैठे हैं। नक़ल करते चले जा रहे हैं। लेकिन ग़ौर करने से मालूम होगा कि हमारी रस्म रेवाजात रूपी खिलौनों के भीतर प्रकृति के गहन गम्भीर तत्त्व छिपे पड़े हैं।

इस पुस्तक में जितने नियमों का वर्णन किया गया है—चाहे वह कर्म का नियम हो, अथवा पुनर्जन्म का अथवा वर्णाश्रम धर्म का, अथवा और कोई—वे सभी प्राकृतिक नियम हैं। इस बात को सुन कर साधारणतः आश्चर्य होता है क्योंकि हम धर्म अथवा इन नियमों के मूल तत्त्व को नहीं जानते और उदार भाव से देखने के बदले सभी वस्तुओं को संकीर्ण भाव से देखा करते हैं। हमारे आश्चर्य-चकित होने का सब से बड़ा कारण यह है कि हम इन्हींको हिन्दू धर्मका प्रधान स्तम्भ समझते हैं और इसलिये ऐसा सोचते हैं कि येही तो हिन्दूधर्म को और धर्मों से भिन्न रखते हैं।

इन को व्यापक भाव से देखने से तो हमारे धर्म का अवलम्ब ही नाश हो जायगा। पर हम यह नहीं समझते कि इसी संकीर्णता के कारण हम अपने धर्म के महान् सत्यों को समझने से और समझ कर उनको व्यवहार में लाने से अपने आप को बंचित कर रहे हैं। इन सत्योंको ठीकसे समझने के लिये सबसे पहले हृदयमें उदारता और मन में निष्पक्षता के भावों को लाने की आवश्यकता है। यदि हम ऐसा कर सकें, तो आगे चल कर हम देखेंगे कि ऐसा करने से हमारे धर्म में कुछ क्षति नहीं आयेगी, बल्कि इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जायगा।

इसलिये यहां पर हमें ध्यान देकर समझ लेना चाहिये कि प्राकृतिक नियमों की ओर हमारा भाव कैसा होना चाहिये। समझने के लिये उदाहरणार्थ आधुनिक विज्ञान द्वारा स्थापित कुछ प्राकृतिक नियमोंको लीजिये, जैसे आकर्षण शक्ति अथवा विद्युत शक्ति। इन शक्तियों के बारे में हमारे ख्याल क्या हैं? सबसे पहले हम इनको व्यापक समझते हैं। इन पर किसी विशेष देश अथवा काल का अधिकार नहीं हो सकता। चाहे कोई इन्हें जाने अथवा न जाने, पर ये सदा हर जगह पर एक भाव से अपने नियमानुकूल कार्य करते रहते हैं। पाश्चात्य देशों में एक विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन महोदय ने पहिले पहिल इस आकर्षण शक्ति का आविष्कार किया। इसका यह मतलब थोड़े ही हो सकता है कि उन देशों में पृथ्वी की आकर्षण शक्ति ने उसी समय से कार्य करना आरम्भ किया जब से न्यूटन ने इस का पता लगाया; उसके पहिले वहां पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कार्य नहीं करती

थी। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति तो प्राकृतिक शक्ति है। देश, काल आदि कोई इसको बाधित नहीं कर सकते। यही हाल विद्युत तथा अन्य प्राकृतिक नियमों का भी है, जिन का पता आधुनिक विज्ञान ने हाल ही में लगाया है। उनके व्यापक और देश काल से अबाधित होने में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं होता। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि यदि योग्यता हो और वैज्ञानिक सामान मौजूद हों तो जो कोई जहां जिस समय चाहे इन नियमों की सत्यता की जांच कर ले सकता है। इन विचारों से नतीजा यह निकलता है कि प्राकृतिक शक्तियां व्यापक होती हैं, देश काल इनको बाधित नहीं कर सकते। कोई जाने अथवा न जाने इन का कार्य अपने नियमानुकूल सदा होता रहता है और जांच द्वारा इनकी सत्यता स्थापित की जा सकती है।

अब धार्मिक प्राकृतिक नियमों की ओर ध्यान ले जाइये। कर्म, पुनर्जन्म आदि नियमों को हम प्राकृतिक नियम क्यों नहीं समझते ? पहिला कारण यह है कि इनका जिक्र एक भाव से सभी धर्मों की पुस्तकों में नहीं पाया जाता और दूसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक नियमों की नाईं इनकी सत्यता की जांच होते नहीं देखा जाता। पर आगे हमलोग देखेंगे कि इनकी सत्यता की भी जांच की गई है और अगर कोई जांच करने के लिये अपने को तैयार करना चाहे तो वह ख़ुद भी जांच कर के देख ले सकता है। इस समय इसी पृथ्वी पर कितने ही ऐसे आदमी मौजूद हैं जिन्होंने इन नियमों की जांच की है। इनका कुछ विस्तार से

ज़िक्र आगे मिलेगा। यहां के लिये इतना ही काफ़ी है कि इन धार्मिक नियमों की भी जांच की गई है और की जा सकती है।

इसी प्रकार वैज्ञानिक नियमों के सम्बन्ध में और भी जो नतीजे निकाले गये थे, उन को भी धार्मिक नियमों के सम्बन्ध में पूर्णरूप से लागू समझना चाहिये। क्योंकि आधुनिक विज्ञान हो अथवा प्राचीन योग शास्त्र हो दोनों ही एक प्राकृतिक विज्ञान के अङ्ग है। इन के तरीक़ों और क्षेत्रों में अन्तर अवश्य है, पर इस की वजह से इन की सचाई में कोई अन्तर नहीं आ सकता। इस का अधिक वर्णन योग साधन के अध्याय में पाया जायगा।

इस लिये धार्मिक नियमों के सम्बन्ध में भी हम को जानना चाहिये कि ये व्यापक हैं, देश अथवा काल इन को बाधित नहीं कर सकते, कोई जाने अथवा न जाने—किसी धर्म ग्रन्थ में इनका ज़िक्र हो अथवा न हो–ये बराबर एक भाव से अपना कार्य करते रहते हैं। जिस प्रकार भिन्न २ देशों में किसी नियम विशेष का वैज्ञानिक अविष्कार आगे पीछे होता रहता है, उसी प्रकार इन का ज़िक्र भी कहीं आगे आता है, कहीं पीछे। दुःख की बात तो यह है कि साधारण प्राकृतिक वस्तुओं—जैसे हवा, पानी, प्रकाश, आकाश, आदि–को तो हम अपना अथवा दूसरे का नहीं समझते; लेकिन जहां जीवन सम्बन्धी अत्यन्त गहन गम्भीर प्राकृतिक नियमों का सवाल आता है, वहां हम उन को अपना और दूसरे का समझने लगते हैं। हा! अविद्या तथा संकीर्णता ने कैसी गहरी छाप हमारे ऊपर जमा रखी है!

साथ ही हम यह भी देखेंगे कि साधारण प्राकृतिक नियमों

का पता चल जाने पर संसार के हाथों में कितनी अधिक शक्ति आ जाती है। वाष्पीय तथा विद्युत शक्ति को देखिये। संसार को किस प्रकार इन शक्तियोंने बदल दिया है। यदि पार्थिव शक्तियों की यह दशा है तो धार्मिक, अध्यात्मिक शक्तियों के बारे में तो कहना ही क्या है। इन नियमों को समझ कर व्यवहार में लाने से कितना बड़ा परिवर्तन संसार में आ सकता है उस का अन्दाजा नहीं किया जा सकता।

प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में यहां पर कुछ विस्तार के साथ लिखना आवश्यक था। कारण यह है कि जैसा ऊपर कहा जा चुका है सभी धार्मिक नियम प्राकृतिक हैं, व्यापक हैं। इसलिये जब तक ऊपर लिखी बातों को ध्यान में रख कर उदारता के साथ उन पर विचार नहीं किया जायगा, तब तक उन का असली तत्त्व समझ में नहीं आ सकता और न उन से पूरा लाभ ही उठाया जा सकता है। इसलिये पाठकों से विशेष अनुरोध है कि आगे दिये गये नियमों पर विचार करते समय इन बातों को अवश्य ध्यान में रखें।

अन्ध-विश्वास से बड़ी हानि होती है। जो धर्म को नहीं जानता है उस का सुधार धर्म के नाम पर किया जा सकता है। लेकिन जो धार्मिक नियमों को उलटा पुलटा समझ कर उसी को अपना धर्म बना लेता है उस का सुधार अत्यन्त कठिन है, और हम हिन्दुओं की आज यही दुर्गति है। हमारी धर्म पुस्तकें जीवन की गहन से गहन नियमों से भरी पड़ी हैं। उन का यथार्थ ज्ञान तो हमें है नहीं। पर उलटा पुलटा कुछ अर्थ उन का निकाल कर

हमने रस्म रेवाजात क़ायम कर ली है। इन्हीं को हम आज हिन्दू-धर्म समझ रहे हैं। अधिकांश क्या, प्रायः सभी धार्मिक झगड़े इन्हीं नासमझियों तथा अन्ध-विश्वासों के कारण होते हैं। इस प्रकार धर्म ही के नाम पर धर्म का नाश किया जाता है।

ख़ैर, अब देखना चाहिये कि धर्म की सच्ची समझ कैसे आ सकती है। हमारे यहां सभी धर्म-पुस्तकों से बढ़ कर उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। आप इन पुस्तकों को उलट पुलट कर एक सिरे से दूसरे सिरे तक देख जाइये, पर, यद्यपि उन में ज्ञान कूटकूट कर भरा हुआ है, तथापि शायद ही बहुत कुछ समझ में आये। अनेक स्थानों पर तो बातें बिलकुल बे सिर पैर की मालूम होती हैं। इससे यह अभिप्राय नहीं कि उन में ज्ञान का भण्डार नहीं है। उन के समझ में नहीं आने का प्रधान कारण यही है कि उन में इतना गहरा ज्ञान भरा है कि वहां तक हमारी विचारशक्ति की पहुंच नहीं होती।

प्राचीन काल में विद्या पढ़ाने का वह तरीक़ा नहीं था जो आज प्रचलित है। आज की नाईं पुस्तकों की भरमार उस जमाने में न थी। उस समय गुरु शिष्य को एक सूत्र बतला देते थे और वर्षों तक वह उस पर मनन करता था तथा उसी के अनुकूल अपने जीवन को बनाता था। तब उसको अपने ही भीतर से उस सूत्र का अर्थ झलक पड़ता था। उस के बाद वह दूसरे सूत्र को सीखने के लिये फिर गुरु के पास जाता था। वेदान्त ऐसे ही सूत्रों से भरा पड़ा है। पर आज हमको विचारने तथा अपने भीतर ध्यान द्वारा उन सूत्रों के यथार्थ अर्थों को जानने की शक्ति नहीं रही।

इसी कारण ये सूत्र ऊपर से ऐसे बे-मतलब के मालूम होते हैं।

उन के स्पष्ट न होने का एक दूसरा कारण भी है। गुप्त रूप से ये जीवन के महान सत्य शिष्यों को बतलाये जाते थे और सो भी उस समय कि जब वे उन के ग्रहण करने के योग्य पाये जाते थे। आज तो हर कोई प्रत्येक ग्रन्थ को पढ़ना चाहता है। योग्यता की बात कोई देखता ही नहीं। पर ऋषि महात्माओं ने इसी कारण बहुत गहन तथ्यों को संकेतिक रूप में दिया है। ठीक है बमगोला बनाने के मसाले को कोई बच्चे के हाथ में खुले तौर से थोड़े दे सकता है और अगर देगा भी तो मसालों को इस प्रकार छिपा देगा कि बच्चा उस का वास्तविक तात्पर्य न समझ सके। यही हालत इन उपदेशों के साथ भी है, क्योंकि यह बात तो निर्बिवाद है कि कितने ही मन्त्र, कितनी ही योग की रीतियां ऐसी हैं कि जिनसे थोड़े ही परिश्रम में मनुष्य बहुत शक्ति हासिल कर ले सकता है। पर यदि उस में काफ़ी तौर से आत्मत्याग, आत्म-समर्पण तथा सेवा के भाव मौजूद न हों तो वह उन शक्तियों का बहुधा दुरुपयोग ही करेगा।

जो हो इन पुस्तकों में एक बात साफ़ २ पाई जाती है। प्रत्येक उपनिषद में बार २ ऐसे शब्दों का प्रयोग आता है जैसे वायु, जल, आकाश, अग्नि तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा, आदि। इससे साफ़ २ मालूम होता है कि इन शब्दों का स्पष्ट ज्ञान हुए बिना धर्म के गूढ़ रहस्यों का पता नहीं लगाया जा सकता। इन का जानना धर्म को समझने के लिये अनिवार्य है। ठीक है तत्त्वों के भलीभांति समझने ही से तो तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान

अथवा ब्रह्मविद्या के रहस्य समझे जा सकते हैं। येही धर्म की भाषा के क, ख, ग, घ मालूम होते हैं। इसलिये पहिले इन्हीं को समझने की कोशिश करनी चाहिये।

पर धार्मिक पतन को कुछ और स्पष्ट करना आवश्यक है। इसलिये अगले दो अध्यायों में पतन का घोर रूप दिखला कर आगे इन तत्त्वों के समझने की कोशिश की जायेगी। भोजन के लिये भूख का होना आवश्यक है। इसलिये जब पहिले अपने पतन अथवा ह्रास का स्पष्ट चित्र आंखों के सामने आ जायगा तो सच्चे धर्म को ढूंढ़ निकालने की अभिलाषा भी जाग्रत होगी। तभी आगे आने वाले सत्यों की यथार्थता का तार्किक-ज्ञान तथा समर्थन हो सकेगा। क्योंकि सदा याद रखने की आवश्यकता है कि हमारा धर्म आज चाहे कितना ही गिरा क्यों न हो पर इस में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। इसलिये यह हमारा परम कर्त्तव्य है कि जो कूड़े करकट उन पर जम गये हैं उनको दूर कर हम उन्हें उन के अपने चमकीले रूप में झलकने दें और तब उन को हृदयङ्गम कर अपने को कृतार्थ करें।

दूसरा अध्याय

वर्णाश्रम धर्म तथा संस्कार।

वर्णाश्रम-धर्म तथा संस्कार हिन्दू धर्म के असूल्य रत्नों में से हैं। इन सभों का अवलम्ब प्राकृतिक, वैज्ञानिक नियमों के आधार पर है। यदि हम निष्पक्ष भाव से देखेंगे तो हम को साफ २ मालूम हो जायगा कि प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में जितनी बातें पहिले अध्याय में कही जा चुकी हैं, वे सभी इन में से प्रत्येक नियम के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से लागू होंगी। इस बात को बार २ दुहराने तथा इस पर विशेष ज़ोर देने का कारण यह है कि हम इन्हें प्राकृतिक नियम नहीं समझते, और संकुचित भाव से इन का अर्थ लेने से अनेकों प्रकार के झगड़े उपस्थित हो जाते हैं। याद रखना चाहिये कि वास्तव में धर्म के सभी नियम वैज्ञानिक तथा प्राकृतिक हैं। सच्चे धर्म और सच्चे विज्ञान में कोई अन्तर नहीं। उसी प्रकार धार्मिक तथा प्राकृतिक नियम भी एक ही हैं। हम अपने अन्ध-विश्वास, नासमझी तथा संकीर्णता के कारण इन को दूसरे भाव से देखते हैं और इसीलिये इन के सच्चे तत्त्वों को नहीं समझते। नाम के लिये तो हम अपने को सनातनधर्मावलम्बी कहते हैं, और सनातन धर्म के नाम पर लड़ाई झगड़ा, दंगा फ़साद, मार-काट भी कर बैठते हैं, पर यदि सोच कर देखा जाय तो मालूम

होगा कि वास्तव में अपने संकीर्ण तथा असत्य जीवन द्वारा हम सनातनता के उच्च पद को कलंकित कर रहे हैं।

वर्ण, आश्रम तथा संस्कारों के भीतर भेद की बात क्या है? इन का इतना प्रधान महत्व क्यों है? इस प्रधानता को समझने के लिये हमें सदा याद रखनी चाहिये कि धर्म का सम्बन्ध केवल शरीर–स्थूल-शरीर– से ही नहीं रहता है। धर्म का सम्बन्ध ईश्वर, आत्मा, जीव तथा शरीर के साथ एक सा लगा रहता है। यह बात सभी धर्मों के बारे में लागू होगी, लेकिन हिन्दू धर्म ने तो इन के पारस्परिक सम्बन्धों को बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है, और साधारण व्यक्तिगत अथवा सामाजिक नियमों के बनाने में हमेशे इन्हीं सम्बन्धों का आधार लिया है। पर आज तो हम इस स्थूल शरीर को ही अपना सर्वस्व समझ रहे हैं। हम जीव हैं, शरीर नहीं, ऐसा भाव बहुत कम हमारे ख्याल में आता है। पर धर्म सिखलाता है कि हम वास्तव में जीव हैं। शरीर तो उस जीव के अनेक वाहनों में से केवल एक वाहन है, अथवा उसके व्यवहार के लिये केवल एक वस्त्र है। जैसे इस शरीर के लिये एक कुर्ता अथवा कोट है, वैसे ही जीव के लिये यह शरीर है। इसलिये धर्म के मूल रहस्यों को समझने के लिये हमें अपने को जीव स्वरूप में देखना होगा और इस शरीर को उस का केवल एक वाहन समझना होगा, तभी व्यावहारिक जीवन के लिये धर्म द्वारा जो नियम निश्चित किये गये हैं, उनके आशय को हम ग्रहण कर सकेंगे।

यह विषय अत्यन्त कठिन है और रहस्यपूर्ण है, पर साथ ही

अत्यन्त रोचक और उपदेशप्रद भी है और जीवन को सार्थक बनाने के लिये ते। इन बातें का स्पष्ट ज्ञान होना अनिवार्य है। यह सम्भव नहीं कि एक छोटी पुस्तक में जीवन के सभी रहस्यों का सविस्तार वर्णन हो सके, पर संक्षेप में ईश्वर, जीव और शरीर आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को आगे दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा। उनका थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त करने से प्रगट होगा कि इन धार्मिक नियमों के भीतर कितना सत्य भरा हुआ है, और इन के द्वारा जीवन के जटिल प्रश्नों पर कितना प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से देखने से एक साधारण से साधारण रस्म भी ज्ञान का प्रकाश देने के लिये एक ज्योतिर्मय दीपक बन जायगा।

यहां पर तो इन विषयों का स्थान केवल इसी लिये दिया गया है कि जिस में हम इस बात को देख सकें कि हिन्दू धर्म के नियमों को हमने कितना नीचा गिरा दिया है, फिर भी उन की जड़ों में कोई न कोई महत्वपूर्ण प्राकृतिक सन्देश भरे पड़े हैं। इसलिये यहां वर्णन अत्यन्त संक्षेप में पाया जायगा। विस्तार तथा पूर्ण ज्ञान के लिये अन्य पुस्तकों को—हिन्दू धर्म के मूल पुस्तकों को—पढ़ना आवश्यक होगा। पर आशा की जाती है कि इस पुस्तक के पढ़ जाने पर उन मूल ग्रन्थों को समझने में बहुत कुछ सुविधा हो सकेगी। सुभीते के लिये पहिले संस्कारों को लिया जायगा, उस के बाद आश्रम को और अन्त में वर्ण व्यवस्था पर कुछ विचार किया जायगा।

संस्कार

संस्कार अनेक हैं, पर उन में प्रधान दस हैं: यथा, गर्भाधान,

पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नाम करण, अन्न प्राशन, चूड़ा करण, उपनयन, समावर्तन और विवाह। इन के अतिरिक्त और भी अनेक संस्कार हैं, जिनका सम्बन्ध मृत्यु तथा उसके बाद वाले जीवन से भी रहता है। इस प्रकार हिन्दू धर्मानुसार प्रत्येक मनुष्य के लिये गर्भाधान से लेकर मृत्यु तथा उस के पश्चात् श्राद्ध तक के प्रधान अवसरों के लिये भिन्न २ संस्कार हैं।

गर्भाधान का संस्कार हमें यह सिखलाता है कि गर्भाधान की क्रिया को हमें पवित्रता और उच्च भावनाओं के साथ करनी चाहिये, बुरे भावों अथवा विचारों के साथ नहीं। इस को हल्का, तुच्छ समझ कर नहीं, बल्कि एक महत्वपूर्ण, पवित्र कार्य समझ कर; विलास के लिये नहीं, बल्कि सन्तानोत्पत्ति के लिये करना चाहिये। इन पवित्र उच्च कोटि के भावों को आज कल कितने आदमी व्यवहार में लाते हैं?

इस के बाद जो दो संस्कार हैं वे गर्भावस्था के लिये हैं। उन का अभिप्राय यह है कि माता के गर्भ में आने वाले जीव के लिये जिन शरीरों का निर्माण होता है, वे पवित्र शरीर हों तथा उन की बनावट में ऊंचे दर्जे के प्रभाव पहुंच सकें। इसी प्रकार और सब संस्कार भी हैं और सभों का प्रधान अभिप्राय यही है कि जिस में इस शरीर में बास करने वाले जीव के लिये अच्छा शरीर बन सके, इस पर उसका पूरा अधिकार हो सके, अर्थात् जिस अभिप्राय से जीव इस पृथ्वी तल पर उतरता और रहता है, उस अभिप्राय के पूरा करने में यह शरीर अथवा इस के साथ और जिन शरीरों को वह धारण करता है—जिनका वर्णन आगे

मिलेगा — ये सभी उनके सहायक बन सकें, बाधक नहीं।

क्या इन संस्कारों को, इन उच्च भावों को, अपने सामने रख कर हम आज बर्त्त रहे हैं? एकदम नहीं। पहली बात तो यह है कि नई रोशनी के प्रकाश में — जो वास्तव में अन्धकार है — पड़ कर हम इन धार्मिक बातों को बिल्कुल भूल गये हैं। जहां कहीं ये संस्कार कुछ माने भी जाते हैं, वहां अधिकतर उन की नक़ल ही की जाती है। असलियत से कोई सरोकार नहीं। भिन्न भिन्न स्थानों में इन नक़लों के करने की भी भिन्न भिन्न रीतियां निश्चित हो जा चुकी हैं। पर कहीं के एक ऐसे उत्सव को लेकर देखने से पता चल जायगा कि हमारे व्यवहार में इन संस्कारों की कहां तक असलियत बाक़ी रह गई है।

उदाहरणार्थ एक स्थान के चूड़ाकरण तथा उपनयन संस्कार को देखिये। यहां पर एक ख़ास जगह का तरीक़ा वर्णन किया जाता है, पर और जगहों के तरीक़ों की भी प्रायः एक ही हालत है।

जिस स्थान तथा परिवार का यहां ज़िक्र किया जाता है वहां चूड़ाकरण तथा उपनयन दोनों एकही समय किये जाते हैं। वास्तव में हैं तो दोनों दो समय के लिये, दो भिन्न २ अवस्थाओं के लिये, लेकिन किये जाते हैं एक ही साथ। कारण यह कहा जाता है कि बाप दादे के समय से ऐसा ही होता चला आया है। समय निश्चित करने में एक और भी बन्धन यह है कि यह सम्मिलित उत्सव केवल उसी समय मनाया जा सकता है कि जब उस घर अथवा परिवार के किसी लड़के अथवा किसी लड़की की शादी हो। दूसरे समय

में नहीं हो सकता, क्योंकि उस परिवार में ऐसा सहता ही नहीं! ऐसा समय किसी बच्चेके लिये पांच ही छ वर्षों की अवस्था में आ जाता है और किसी २ के लिये दस बारह वर्षों तक इस की राह देखनी पड़ती है! चूड़ाकरण तो उस समय के लिये है जब बच्चे का पहले पहल बाल काटा जाता है। भला दस बारह वर्षों तक एकही बाल बढ़ाया हुआ कैसे रखा जाय। इसका रास्ता इस प्रकार निकाला गया है कि हजाम को हेदायत कर दिया जाता कि बच्चे के सिर का बाल कैंची से तो काटना, पर छूरा नहीं लगाना! छूरा पहले पहल उसी समय लगता है जब चूड़ाकरण और उपनयन का सम्मिलित उत्सव मनाया जाता है!

इन बातों पर कुछ टीका टिप्पणी नहीं की जाती। पाठकगण स्वयं सुगमता से समझ ले सकते हैं कि इस में कहां तक सत्य का भाग है और इसमें कितना असत्य घुस गया है। इन बातों को सोचने से बहुत दुःख होता है! जो हो पर यही हमारा, वर्तमान जीवन है!

अच्छा अब उस उत्सव का संक्षेप वर्णन सुनिये। ज़ात बिरादरी तथा नगर गांव के लोगों को पहिले से ही हजाम बुलावा दे आया रहता है। चारों ओर से आंगन में लोग आ जुटते हैं। पुरोहित जी महाराज कुछ पूजा करते हैं। उसके बाद हजाम छूरे से बच्चे का मुण्डन कर देता है। स्नान कराने के बाद सोनार दोनों कानों को छेद कर बाले पहिना देता है।

इस के बाद शंख बजता रहता है और पुरोहित जी बच्चे को जनेऊ पहिना कर नवीन पीत वस्त्र से उसका और अपना

सिर ढक कर उसके कानों में कुछ कहते हैं, जिसे वह बहुधा नहीं ही सुनने पाता है। बस, उपनयन हो गया।

तत्पश्चात् बच्चा ब्रह्मचारी बन कर विद्याध्ययन करने जाता है। इस की विधि यह है कि उसी समय उसके हाथों में काठ की एक तख्ती और एक डंड धरा दिया जाता है और वह उस आंगन में घूमना शुरू करता है, मानो यही उसके लिये ऋषिकुल है और भिक्षाटन द्वारा रह कर वह विद्याध्ययन कर रहा है। जैसे २ वह इधर उधर घूमता है उस परिवार के रिश्तेदार तथा सरोकारी लोग उस को रुपया देते जाते हैं। कुछ देर घूमते हुआ कि लड़के के मामूं उठते हैं और बच्चे को यह कह कर बुला लेते हैं कि चलो तुम्हारी शादी करा देंगे!

इस प्रकार जो कार्य लगभग सोलह वर्षों में पूरा होता उस की नक़ल तीन चार घन्टों के भीतर पूरी कर ली जाती है। इतने ही समय में बच्चे का चूड़ाकरण होता है, उपनयन होता है, विद्याध्ययन आरम्भ होता है, ऋषिकुल का बास होता है, भिक्षाटन होता है, अन्त में अध्ययन समाप्त हो जाता है और शादी का विश्वास भी करा दिया जाता है! आह! कितना अनर्थ, असत्य जीवन है! फिर भी हम आंख बन्द किये चले जा रहे हैं। न जानें भगवान कब हमें ऐसी सद्बुद्धि देंगे कि हम इन नक़ल तमाशों को, अर्थात् बच्चों की तरह गुड़ियों के खेलों को छोड़ कर इन के तथ्य को समझेंगे और तदनुसार अपने जीवन को बनायेंगे!

आश्रम

अब लीजिये आश्रम की बात। आश्रम चार हैं: ब्रह्मचर्य,

गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और सन्यास। कैसा स्वाभाविक, प्राकृतिक विभाग है। चाहे कोई कहीं किसी देश का रहने वाला हो, किसी धर्म का मानने वाला हो, ये चारों अवस्थायें स्वाभाविक रूप से प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आती हैं। हां, नाम भले ही सब जगह ये ही नहीं दिये जाते। बच्चा बढ़ कर युवावस्था को प्राप्त होता है। युवावस्था से प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है और अन्त में वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। कोई ऐसा देश नहीं जहां सभी कुमार ही अवस्था में, युवा ही अवस्था में, प्रौढ़ा ही अवस्था में अथवा वृद्धा ही अवस्था में रहते हों। इस शरीर की उम्र के लेहाज़ से आप से आप सब किसी की अवस्थायें इस प्रकार बदला करती हैं। यह एक ऐसी प्रत्यक्ष बात है जिस को हर कोई देख सकता है। इस लिये इन अवस्थाओं के व्यापक तथा प्राकृतिक होने में किसी को सन्देह नहीं होता। पर फिर भी क्या हम लोग ऐसा नहीं समझते हैं कि आश्रम प्रणाली हम्हीं हिन्दुओं के लिये है, दूसरे धर्मावलम्बियों के लिये नहीं? यह कितनी भारी भूल है!

खैर, अब भिन्न २ अवस्थाओं के धर्म पर ग़ौर कीजिये। वे भी प्राकृतिक ही हैं। संक्षेप में ब्रह्मचर्यावस्था विद्याध्ययन अर्थात् शक्ति-वर्द्धन और शक्ति-संचय का समय है। इस के बाद आता है गार्हस्थ्य जीवन जो द्रव्योपार्जन, विवाह, सन्तानोत्पादन तथा सन्तान के पालन पोषण अर्थात् पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का समय है। तीसरा है वाणप्रस्थ, जब बाल बच्चों पर घर के काम काज का भार सौंप कर संसार में भ्रमण कर सामाजिक तथा अन्य वृहत् क्षेत्रों में सेवा करने का समय है। और अन्त में

आती है संन्यास की अवस्था। वृद्धावस्था में मनुष्य सांसारिक सेवा करने से मजबूर हो जाता है। उस समय संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त हो प्राणीमात्र पर आशीर्वाद देने तथा विशेष रूप से भगवत भजन करने का समय है।

देखिये एक २ आश्रम में कार्यक्षेत्र कैसे आप से आप बढ़ता जाता है। पहले अपनी तैयारी, उस के बाद परिवार की सेवा, फिर समाज की सेवा और अन्त में प्राणीमात्र की सेवा अथवा भगवत भजन—भगवत भजन और प्राणीमात्र की सेवा में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर हम लोगों ने अपनी ना समझी की वजह से बना रखा है। यह कैसा अच्छा सिलसिला-बद्ध प्रोग्राम है।

पर याद रखनी चाहिये कि यद्यपि ये अवस्थायें शरीर की अवस्थाओं पर निर्भर है, फिर भी इस शरीर में रहने वाले जीव का इनके साथ बड़ा घना सम्बन्ध है। शरीर की ये अवस्थायें तो प्राकृतिक रूप से बदलती हैं। इसलिये प्राकृतिक नियमानुसार इन अवस्थाओं के अपने २ ख़ास २ धर्म भी हैं, जिन के अनुसार चलने से जीव को इस पार्थिव सफर में अपना कार्य पूरा करने में बहुत सहायता मिल सकती है। इसी से यह भी नतीजा निकलता है कि उन धर्मों का नियमित रूप से पालन न करने से उसी प्रकार जीव के रास्ते में बाधायें, अड़चनें भी उपस्थित होती हैं। इस लिये हमारा कर्त्तव्य है कि प्रत्येक अवस्था के धर्मों को जानें और उनके अनुसार चलें।

हम आज भी इन अवस्थाओं को एक न एक रूप में अवश्य मानते हैं। पर हमने इन आश्रमों को इस तरहसे एक दूसरेके साथ

मिला दिया है कि इन आश्रमों का जो प्राकृतिक लक्ष्य है वह पूरा नहीं हो पाता है। कारण यह है कि इनके प्राकृतिक रूप तथा प्राकृतिक धर्मों का कभी हमें ठीक से ज्ञान भी नहीं कराया जाता। यही कारण है कि हमारे देश की मानव शक्ति इतना नीचे गिरती जाती है। दूसरे देश वाले इन आश्रमों को अपने धर्म ग्रन्थों द्वारा इतने स्पष्ट शब्दोंमें नहीं जानते। पर जीवन को देखते २ इन प्राकृतिक नियमोंका कुछ अंशोंमें उन्होंने निजी अनुभव द्वारा पता लगा लिया है, जिस की वजह से उन का सांसारिक जीवन इतना उन्नत दीख पड़ता है। क्योंकि यह बात तो ऊपर बतलाई जा चुकी है कि किसी नियम के धर्म पुस्तकों से पढ़ लेने ही से कुछ लाभ नहीं हो सकता। लाभ तभी हो सकता है कि जब उनके अनुसार रहा जाय। नियमानुकूल रहने वाला चाहे उस नियम को जानता हो अथवा न जानता हो, उस का लाभ आप से आप अवश्य पायेगा। यह प्राकृतिक नियम है। इस के विपरीत कभी कुछ हो नहीं सकता।

देखिये बाल्यावस्था में हम आज भी बच्चों को विद्या सिखाते हैं। पर पढ़ना अभी पूरा नहीं हुआ और उसकी शादी कर देते हैं। इस बाल विवाह के कारण हमारे देश तथा जाति की कितनी क्षति हो रही है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। जहां कहीं कुछ देर कर के भी शादी की जाती है, वहां भी बालकों के पढ़ने के समय पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन पर ज़ोर नहीं दिया जाता, जिस की वजह से बहुत कुरीतियां युवकों में फैल जाती हैं। उन के जीवन की नींव ही कमज़ोर रह जाती है, फिर वे समुचित रीति से आगे

बढ़ें कैसे । इस क्षति का घोर दुष्परिणाम कम से कम इस जन्म भर तो उन्हें अवश्य भोगना पड़ता है ।

इस प्रकार गार्हस्थ्य जीवन का आरम्भ अपने उचित समय से पहिले ही हो जाता है । नतीजा यह होता है कि ऐसे युवक का जीवन कहीं का नहीं रहता । न तो वह निश्चिन्त होकर पढ़ सकता है, न पारिवारिक जीवन को ही अच्छी तरह से चला सकता है । तिस पर भी आज कल एक नई चाल यह निकल गई है कि गार्हस्थ्य जीवन में ही वाणप्रस्थ जीवन भी प्रायः मिला दिया जाता है । अभी गृहस्थी का सिलसिला ठीक नहीं होने पाया और लोग त्यागी, देश-सेवक इत्यादि बन बैठते हैं । यहां देश-सेवा अथवा त्याग पर कोई आक्षेप नहीं है । वह तो प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है । लेकिन अगर ऐसे त्याग करने वाले ठण्ढे दिल से सोचें तो उनको साफ़ २ मालूम हो जायगा कि कहां तक उनका त्याग सच्चा और कहां तक झूठा है । अधिकांश लोग तो ऐसा बहुधा इसीलिये करते हैं कि पारिवारिक जीवन झंझटों से भरा मालूम होता है । लेकिन ऐसे कमज़ोर दिल वाले लोगों को समझना चाहिये कि यदि वे पारिवारिक झंझटों का सामना नहीं कर सकते तो देश अथवा समाज के उलझनों को सुलझाना उन के लिये असम्भव ही है । इसके अलावे परिवार से इस प्रकार भागने से पारिवारिक जीवन से जो पाठ सीखना था उससे भी वे अपने को वञ्चित करते हैं ।

आज कल के ज़माने में जिस प्रकार गार्हस्थ्य जीवन का आरम्भ अपने समय से बहुधा पहिले हो जाया करता है, वैसे ही

इसका दूसरा छोर भी आगे की ओर बढ़ता जाता है और प्रायः मृत्यु ही इसका अन्त करती है। पाश्चात्य देश वालों ने भारत-वासियों के लिये निश्चित किया है कि पचपन वर्ष के बाद इन से पूरी ड्यूटी नहीं चल सकती। इसलिये यदि पहले नहीं तो पचपन साला लगते ही ज़रूर इनको पेन्शन देकर हटा देना चाहिये। यही वाणप्रस्थ का प्रतिरूप है और ऐसा भी देखा जाता है कि नौकरी छोड़ने पर बहुत लोग सामाजिक सेवाओं में लग जाते हैं, पर साधारण तौर से समाज इस को नहीं बर्तता।

अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर मजबूरी लोगों को सब कुछ छोड़ छाड़ कर बैठ जाना पड़ता है। ऐसे वृद्धों से लोग केवल आशीर्वाद लिया करते हैं। पर पहिले के आश्रमों का जीवन विशुद्ध तथा परिपक्व नहीं होने से अन्तिम अवस्था का भी पूरा फल नहीं निकलता।

इस से यह नहीं समझना चाहिये कि सभी आश्रमों का पूरा पालन करने से मनुष्य एक ही जीवन में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यह तो कई जन्मों का काम है। पर ऐसा करने से कम से कम इस जीवन से तो वह पूरा लाभ उठा सकता है और इसलिये प्रत्येक जीवन में तीव्रता के साथ पूर्णता की ओर बढ़ सकता है।

वर्ण

अब लीजिये वर्ण को। वर्ण भी चार हैं:--शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मण। साधारणतः इन के क्रम को उलट कर ब्राह्मण से शुरू करते हैं और शूद्र पर अन्त करते हैं। मन में भाव यह रहता है कि ब्राह्मण सर्व श्रेष्ठ विभाग है और शूद्र सब से नीचा

और इसलिये घृणित बिभाग है। हम अभी देखेंगे कि यह भाव कितना गलत है और साथ ही यह भी देखेंगे कि इस क्रम को शूद्र से आरम्भ कर के ब्राह्मण पर ही अन्त करना प्राकृतिक बिभाग के अनुकूल है।

वर्ण बिभाग के वास्तविक तत्त्व को समझने के लिये हमें अपने को देहात्मक भाव से ऊंचा उठाना पड़ेगा। क्योंकि वर्ण बिभाग का सम्बन्ध देह में बास करने वाले जीव से है, देह से नहीं। इस का कुछ स्पष्ट ज्ञान तो आगे चल कर देह और जीव के स्वरूप तथा सम्बन्धको समझने पर ही होगा। पर यहां इतना ही दिखलाना काफ़ी होगा कि वर्ण बिभाग के अन्तर्गत जो यह जीव का भाव लगा हुआ है, इसी को नहीं जाननें से वर्ण के सम्बन्ध में आज इतना झगड़ा होता है। यदि हम इस बात को अच्छी तरह से समझ लें तो इतना ही नहीं कि हमारे आपस के इस झगड़े की जड़ ही कट जाय, बल्कि संसार के सामाजिक नव-निर्माण सम्बन्धी जटिल प्रश्नों के हल करने में भी बड़ी सहायता मिले।

इस बात पर विचार करने के लिये प्राचीन प्रणाली से दो एक उदाहरण यहां दिये जाते हैं। पहिले ऐसी प्रथा थी कि पढ़ने के योग्य होने पर बालकों को सभी लोग गुरुकुल में भेज दिया करते थे। वहां बालकों में नीच ऊंच, जाति पांति का कुछ भी भेद भाव नहीं रखा जाता था। सब एक भाव से रखे जाते थे। राजा से लेकर रङ्क तक, सब के बालकों की एक श्रेणी थी। सभी बालक साथ रहते थे, गुरु की सेवा करते थे, भिक्षाटन द्वारा

निर्बाह करते थे और गुरु से जो शिक्षा मिलती थी उसका पालन करते थे। कई वर्षों तक रहने के बाद जब विद्याध्ययन का कार्य समाप्त कर के चलने लगते थे तब उनका वर्ण निश्चित किया जाता था। सोचने की बात है कि ऐसा क्यों होता था। जन्म से ही उनका वर्ण क्यों नहीं निश्चित माना जाता था। कारण यह है कि बाल्यावस्था में जीव का शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर पूरा अधिकार नहीं रहता है। धीरे २ जैसे २ इन अङ्गों तथा शरीरों की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे जीव का अधिकार भी इन पर जमता जाता है। ऐसा क्यों होता है, इस से यहां मतलब नहीं, इस बात को हम आगे देखेंगे। ख़ैर, चूंकि प्राचीन शिक्षा का यही लक्ष्य रहता था कि जिसमें धीरे २ जीव का पूरा आधिपत्य शरीर पर हो जाय, इसलिये शिक्षा का समय समाप्त होते २ जीव का पूरा रंग शरीर, मन तथा हृदय पर जम जाता था और भिन्न २ वर्णों के लक्षण ऐसे स्पष्ट हैं कि जहां जीव का अधिकार शरीर पर जमा कि फिर उन वर्णों के पहिचानने में कोई दिक्कत नहीं होती। इसलिये गुरु कोई मनमाना वर्ण भिन्न २ विद्यार्थियों को नहीं देते थे। उनकी शिक्षा का प्रभाव ही उन पर ऐसा पड़ता था कि अपनी आन्तरिक सत्ता की पूरी २ छाप उन पर जम जाती थी और वे स्वतः पहिचान लेते थे कि वे किस वर्ण के हैं और इस जीवन संग्राम में उनका क्या कर्त्तव्य है। यहां नोट करने की एक बात यह भी है कि वर्ण शब्द का अर्थ भी रंग ही होता है।

इस के अतिरिक्त धर्म पुस्तकों में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि जहां मनुष्यों के वर्ण एक ही जन्म में बदले हों। पर यह एक

दुर्लभ घटना है, जिसका कारण हम अभी देखेंगे। जो हो, यदि वर्ण का सम्बन्ध शरीर से होता तो एक ही शरीर धारण करते हुए एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाना असम्भव हो जाता।

इस तथ्य के नहीं जानने ही के कारण हिन्दू समाज में अनेकों प्रकार के सामाजिक झगड़े उठा करते हैं। बहुत लोग मानते हैं कि वर्ण का सम्बन्ध जन्म से है। पर कोई तर्क संगत प्रमाण इस का नहीं मिलता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः"

अ० ४, श्लो० १३।

अर्थात्, 'गुणों तथा कर्मों के विभाग के अनुसार चार वर्णों की सृष्टि मुझ से ही हुई।' फिर भी आगे अ० १८, श्लो० ४१ में कहा है—

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥"

अर्थात्, 'हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कर्मों का विभाग उनके अपने २ स्वभावों से उत्पन्न गुणों के अनुसार किया गया है।' इन प्रमाणों से भी वही भाव निकलता है। और गीता एक ऐसा धर्म ग्रंथ है जिस के प्रमाण पर कोई हिन्दू प्रश्न नहीं कर सकता, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता को सभी उपनिषदों का सार कहा गया है।

जन्म के साथ जो वर्ण का सम्बन्ध कुछ लोग मानते हैं, वे एक भारी भूल करते हैं। एक समय था जब आर्य लोग इस नियम

के साथ रहते थे कि ब्राह्मण कुल में प्रायः ब्राह्मण ही कोटि के जीवों का जन्म होता था, क्षत्रिय कुल में क्षत्रिय ही कोटि के जीवों का, इत्यादि! पर अब वह समय नहीं रहा। हम स्वयं देख सकते हैं कि किसी भी जाति में इस समय ऐसी पृथकता नहीं पाई जाती, बल्कि सभी जातियों में सभी वर्णों के लोगों का मेल जोल हो गया है। ऐसी परिस्थिति में लकीर का फक़ीर बनने से काम नहीं चल सकता। हमारा तो कर्त्तव्य है सत्य को ढूंढ़ निकालना और उसी के ढांचे में अपने जीवन को ढालना। जाति तो दूर रहे घर घर की दशा देखिये। प्रायः प्रत्येक घर में भिन्न २ वर्णों के धर्म पालन करने वाले प्राणी एक साथ एकत्र हो गये हैं। इस लिये अब पुरानी बात जो नहीं है उस को छोड़ कर नई बात जो मौजूद है उस के अनुकूल सामाजिक नवनिर्माण करना आवश्यक है।

अस्तु, वर्ण विभाग के सम्बन्ध में एक बात जानने की यह भी है कि जीव भी छोटे बड़े, नये पुराने होते हैं। शरीर के साथ मिलान करने से यह बात सहज में समझी जा सकती है। जिस प्रकार शरीर की चार अवस्थायें होती हैं, जिन का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उसी प्रकार जीव की भी चार अवस्थायें होती हैं। अन्तर दोनों में यह है कि इस शरीर की अवस्थायें चन्द वर्षों में बदलती हैं और जीव की अवस्थायें अनेक जन्मों में बदलती हैं। जैसे शरीर के लिये एक दिन है वैसे ही जीव के लिये एक जन्म हैं। इस प्रकार जीव जब मनुष्य योनि में पहुंचता है तो कई जन्मों तक शूद्रावस्था में रहता है जो उस की

बाल्यावस्था कही जा सकती है। उस के बाद वह वैश्यावस्था में प्रवेश करता है, जिस को उस की युवावस्था कह सकते हैं और उस में भी अनेक जन्मों तक रह कर उस से जो विशेष पाठ ग्रहण करना है उस को ग्रहण करता है। इसी प्रकार इस के बाद क्षत्रियावस्था और अन्त में ब्राह्मणावस्था में पहुंचता है।

इस शैली से विचार करने से साफ़ साफ़ ज़ाहिर हो जायगा कि एक वर्ण को छोड़ दूसरे वर्ण में जाने की अथवा एक वर्ण को दूसरे वर्ण से नीच ऊंच समझने की बात कैसी नासमझी और बेवकूफ़ी की बात है। शरीर की अवस्थाओं में बालक तो युवकों से नहीं लड़ते कि वे बालक नहीं रहेंगे, युवक कहलायेंगे, न युवक बालकों तथा अन्य अवस्था वालों से लड़ते हैं कि वे युवक क्यों कहलायेंगे, उन को प्रौढ़ अथवा वृद्ध कहना चाहिये। हम ऐसा झगड़ा कभी नहीं करते क्योंकि हम समझते हैं कि यह तो प्राकृतिक अवस्थायें हैं। सभी अपनी अपनी जगह पर ठीक हैं, न कोई किसी से बड़ी है न छोटी, समय आने पर आप से आप अवस्थायें क्रमानुसार बदल जायेंगी। पर वर्ण के सम्बन्ध में हम ऐसा झगड़ा करते हैं, क्योंकि इस में अपनी अज्ञानता के कारण हम ने बड़ा छोटा होने का भाव मिला रखा है और हम इस को शरीर की अवस्थाओं की नाईं प्राकृतिक नियमानुकूल नहीं समझते। पर ऊपर कहा जा चुका है कि ये सारे नियम प्राकृतिक हैं और इसलिये हम तभी इन को समझ सकेंगे जब उदार तथा निष्पक्ष भाव से हम इन को प्राकृतिक रूप में देखने की कोशिश करेंगे। यदि हम इन को प्राकृतिक रूप में देखेंगे तो

हम .खुद अपनी बेवकूफी पर हंसने लगेंगे और बच्चों की तरह ऐसी भद्दी भूलें अधिक न कर इन से अवश्य परहेज़ करने की कोशिश करेंगे।

ऊपर के ही वर्णन से यह भी जान पड़ेगा कि शूद्र को क्रमानुसार क्यों पहले स्थान देना चाहिये। शरीर के आश्रमों का वर्णन करते समय वृद्धावस्था को तो हम पहले स्थान नहीं देते, वाल्यावस्था से ही आरम्भ करते हैं। उसी प्रकार वर्ण रूपी जीव की इन अवस्थाओं का भी आरम्भ शूद्रावस्था से ही करना चाहिये। जहां वर्णों का वर्णन आता है वहां भी साफ २ बतलाया गया है कि समाज में भिन्न २ वर्णों का सम्बन्ध एक दूसरे के साथ वैसा ही है जैसा एक शरीर के भीतर भिन्न २ अङ्गों का। समाज रूपी शरीर का ब्राह्मण सिर है, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जांघ, और शूद्र पांव। हम तो सिर्फ इसके एक भाग को लेकर उड़ जाते हैं कि ब्राह्मण सिर है जो सब से ऊंचा है और इसलिये सब को उसकी पूजा करनी चाहिये और शूद्र पांव है जो सब से नीचा है और इसलिये उसे सभी को कुचलना चाहिये। इस से बढ़ कर भूल की कोई बात हो नहीं सकती। हम भूल जाते हैं कि सिर और पांव दो अङ्ग होते हुए भी एक दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं कि उन में कोई एक दूसरे को अलग नहीं कर सकता, घृणा करना तो दूर रहे। बल्कि हमें तो समझना चाहिये कि जो जीव समाज के भीतर अभी शूद्रावस्था में हैं, वे ठीक उसी प्रकार हमारे विशेष प्रेम के पात्र हैं जैसे हमारे घरों के बच्चे हमारे प्रेम के पात्र होते हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि

यदि हम आज युवा, प्रौढ़ अथवा वृद्धावस्था को प्राप्त कर गये हैं, अर्थात्, वैश्य, क्षत्रिय, अथवा ब्राह्मण अवस्था को पहुंचे हैं, तो कई जन्मों तक हम भी इस शूद्र वर्ण में रह चुके हैं और जो आज समाज के बच्चे शूद्रावस्था में हैं वे भी एक न एक दिन ऊपर की अवस्थाओं को अवश्य प्राप्त करेंगे।

अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण वर्णों के स्वभाव क्या २ हैं। शूद्रावस्था में जीव का स्वभाव सेवा करने का होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बाल्यावस्था में ब्रह्मचारी का स्वभाव होना चाहिये। वैश्यावस्था में द्रव्योपार्जन तथा धन वितरण करने का स्वभाव होता है जो गार्हस्थ्य आश्रम के धर्म से मिलता जुलता है। क्षत्रियावस्था का धर्म राज्य-शासन तथा रक्षा करने का है, अर्थात्, इस समय कार्य का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जैसे वाणप्रस्थावस्था में परिवार से बढ़ कर सामाजिक सेवा का कार्य आ जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मणावस्था में जीव का धर्म पढ़ने पढ़ाने, मनुष्यमात्र की सेवा करने का आ जाता है, जैसा सन्यास आश्रम में होता है।

यदि वर्णों के इन गुणों तथा कर्मों पर हम विचार करें तो देखेंगे कि ये चार वर्ण हिन्दू समाज के ही नहीं, वरन् मनुष्य मात्र के लिये हैं। गीता में भी जहां कहीं वर्णों का ज़िक्र भगवान ने किया है कहीं नहीं कहा है कि ये केवल भारतवासियों अथवा हिन्दुओं ही के लिये हैं। बल्कि हर जगह यही कहा है कि वर्ण भेद मनुष्यों के लिये अर्थात् मनुष्य मात्र के लिये हैं। हां, यह दूसरी बात है कि और देशों तथा धर्मों में लोग इन को

इस रूप में नहीं जानते जैसा हम को बतलाया गया है। पर खेद की बात है कि हम जानते हुए भी इन प्राकृतिक नियमों के ठीक प्रतिकूल आचरण कर रहे हैं और दूसरे न जानते हुए भी ऐसा ही रहने की चेष्टा कर रहे हैं।

किसी भी जाति, देश अथवा समाज के लोगों को लीजिये, आप देखेंगे कि उनमें कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वभावतः पढ़ने, पढ़ाने, धर्म प्रचार आदि के कार्य करते हैं। दूसरे किसी काम में उनका चित्त नहीं लगता। येही उस जाति, देश अथवा समाज के सच्चे ब्राह्मण हैं। एक दूसरे दर्जे के आदमी भी पाये जायेंगे, जिन की रुचि शूरता, वीरता, संरक्षण, शासन आदि कार्यों की ओर रहती है। न उनसे पढ़ने पढ़ाने का काम हो सकता है, न शिल्प, व्यापार आदि का। येही वहां के सच्चे क्षत्रिय हैं। एक तीसरे दर्जे के लोग भी पाये जायेंगे जिनको व्यापार, रोज़गार, तेजारत, कृषि आदि के ही कामों में स्वभावतः मन लगता है। इनसे भी दूसरा काम नहीं हो सकता। येही वहां के सच्चे वैश्य हैं। और एक चौथे दर्जे के भी आदमी हर जगह पाये जायेंगे जिनको सेवा, मज़दूरी आदि के कामों की ही ओर अभिरुचि रहती है। येही वहां के सच्चे शूद्र हैं। इन भिन्न २ श्रेणी के लोगों से दूसरा काम नहीं हो सकता है इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि अपने काम को छोड़ कर वे दूसरे वर्णों के कामों को बिल्कुल कर ही नहीं सकते। कर ज़रूर सकते हैं पर उनकी प्रधान अभिरुचि अपने ही स्वाभाविक कार्यों की ओर होगी।

इस लिये अपने संकुचित विचारों को छोड़ कर वर्ण व्यवस्था को व्यापक रूप में सभी मनुष्यों के लिये लागू समझना चाहिये और अपने यहां भी इनको प्राकृतिक नियम समझ कर इनके सम्बन्ध में जो झगड़े हम किया करते हैं उनसे हमें परहेज़ करनी चाहिये, क्योंकि वास्तव में ये अत्यन्त ही बेवकू़फी के झगड़े हैं।

अपने यहां किसी भी एक जाति अथवा किसी एकही घर के लोगों को लेकर देखिये। क्या उस जाति अथवा परिवार के सभी लोग एक ही अर्थात् उस वर्ण के ही कर्म को कर रहे हैं? कहीं भी नहीं। ब्राह्मण के घरों में ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनको यदि व्यापार से हटा दीजिये तो वे बेकार हो जायेंगे, क्योंकि उनकी अभिरुचि दूसरी ओर है ही नहीं। साथ ही जिन्हें हम शूद्र समझ रहे हैं उन के मध्य भी एक से एक विद्वान, शासक, संरक्षक मौजूद हैं और वैसा ही कर रहे हैं। इस लिये हम को अपने कृत्रिम विभागों का ख़्याल छोड़ कर प्राकृतिक विभागों की ओर ख़्याल जमाना चाहिये। तभी हम असली उन्नति कर सकेंगे।

देखिये, हमारे देश में जो अन्त्यजों का झगड़ा है कितना रोमाञ्चकारक,. हृदय-द्रावक झगड़ा है। अन्त्यज शब्द और अन्त्यज जाति आगे पर लोगों की बनावट है। भगवान ने मनुष्यों को चार ही विभागों में बांटा और तिस पर भी यदि हम अपने अन्त्यज अथवा अस्पृश्य कहलाने वाले भाइयों को शूद्र श्रेणी में रखें तौ भी ऊपर के वर्णन से मालूम होगा कि हमारा कर्त्तव्य और भाव उनके प्रति कैसा प्रेमपूर्ण होना चाहिये। सोचिये तो सही, यदि किसी परिवार के लोग अपने बच्चों के साथ घृणा करने

लगें तो क्या उस परिवार की उन्नति हो सकती है? कदापि नहीं। उस परिवार का तत्काल ही नाश हो जायगा। ऐसा सोचना ही असम्भव मालूम होता है। पर अपने सामाजिक बच्चों के साथ हम ऐसा ही कर रहे हैं। कहिये अगर अब भी हम न समझें तो क्या हमारी जाति नाश हुए बिना रह सकती है? इस के अलावे जिन्हें हम अन्त्यज कह कर घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं उन के भीतर भी अमूल्य रत्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि के स्वभाव वाले भरे पड़े हैं। क्या हम इस हिन्दू समाज रूपी उपवन के उन कोमल पुष्पों को बढ़ने तथा फूलने, खिलने न देंगे? हा, अज्ञान तथा अन्धविश्वास ने हमें कितना नीचे गिरा दिया है! भगवान ही हमारी रक्षा करें!

तीसरा अध्याय

पञ्च महायज्ञ

पांच महायज्ञ हैं जिन्हें धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार प्रत्येक हिन्दू को नित्य करना चाहिये। इन के भीतर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गूढ़ रहस्य भरे पड़े है। हां, समझना ज़रा कठिन है, क्योंकि इन यज्ञों का सम्बन्ध विश्व की उन शक्तियें अथवा उन प्राणियों से है जिन से किसी न किसी रूप में मनुष्य का सम्बन्ध प्राकृतिक रूप से लगा हुआ है। इसलिये जब तक हमें ऐसी शक्तियों अथवा ऐसे प्राणियों का कुछ ज्ञान न होगा तब तक हम इन यज्ञों के रहस्यों को न समझ सकेंगे।

सब से पहिले इस बात के समझने की आवश्यकता है कि यज्ञ से क्या अभिप्राय है। साधारणतः यदि किसी के घर कोई कथा, पूजा अथवा उत्सव होता है तो हम कहते हैं कि आज उन के यहां यज्ञ होनेवाला है। कोई २ यज्ञ से अभिप्राय हवन से लेते हैं और अक्सर यज्ञ का अर्थ किसी पूजा निमित्त पशुवध समझा जाता है। इस प्रकार यज्ञ शब्द अनेक अर्थों और अनेक भावों में व्यवहृत होता है।

यज्ञ में जीवन के बलिदान का भाव अवश्य मिला हुआ है। लेकिन उस बलिदान के भाव को हमें समझ कर काम में लाना

चाहिये। इस से एक-ब-एक इस नतीजे पर नहीं कूद पड़ना चाहिये कि जीवन बध तो धर्म सिखलाता है और इसलिये चलो जानवरों को मारो और खावो। साधारण भाव से हम प्रकृति में ऐसा ज़रूर देखते हैं कि बनस्पति खनिजवर्ग के बलिदान से बढ़ती है, अर्थात् बनस्पति का भोजन खनिज है। वैसे ही पशु साधारणतः बनस्पतियों को खाकर जीते हैं और जंगली असभ्यावस्था में मनुष्य भी पशुओं को ही खा कर रहते हैं। कहा भी गया है कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्', अर्थात्, जीवों का जीवन जीव पर ही निर्भर है। पर मनुष्य को भगवान ने और प्राणियों से कुछ अधिक उन्नत इसलिये बनाया, उसको सोचने विचारने की शक्ति इसलिये दी कि वह अन्धे की नाईं काम न करे, बल्कि सोच विचार कर काम करे। देखिये, इस संसार में सब तो जीवन का ही खेल है, क्योंकि सब में एक ही जीवन व्याप रहा है। किसी कवि ने कैसा सुन्दर कहा है :

"हम में, तुम में, खड्ग खम्भ में घट घट व्यापे राम।"

यहां राम से अभिप्राय ईश्वर अर्थात् एक जीवन से है। इसलिये हम को अपना जीवन भी जीवों द्वारा ही चलाना है, पर हमें ख़्याल रखना चाहिये कि हम को ऐसे ही जीवों को ग्रहण करना चाहिये कि जिसमें प्राकृतिक प्राणियों का कम से कम बलिदान हो। इस पर ग़ौर करने से पता लगेगा कि हमारे लिये अन्नों का ही बलिदान पर्याप्त है। हम आगे चल कर देखेंगे कि इस स्थूल शरीर को इसी कारण अन्नमय कोष कहा गया है।

ख़ैर, यज्ञ का तत्त्व बलिदान में है। पर बलिदान का मूल

रहस्य क्या है ? सब से पहिला बलिदान सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म का ही है, क्योंकि ब्रह्म ने अपने को स्वेच्छापूर्वक बन्धनों में डाला। यदि ऐसा नहीं हुआ रहता तो सृष्टि का अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिये सृष्टि के आदि में बलिदान का भाव भरा है। बलिदान ही सृष्टि की नींव है। पर कैसा बलिदान ? ब्रह्म का बलिदान, सृष्टि सञ्चालन निमित्त और सो भी स्वेच्छापूर्वक, स्वाभाविक। इस से हम बलिदान के दो मूल भाव निकाल सकते हैं। एक तो यह कि बलिदान स्वेच्छापूर्वक होना चाहिये और दूसरे दूसरों के हित के लिये—विशेषतः बड़े का छोटे के हित के लिये। साधारणतः हम ठीक इसके उल्टा अर्थ लगाते हैं और छोटे का ज़बरदस्ती बलिदान बड़े के लिये करते हैं। पर यह भूल है। यज्ञ का जो असली मतलब समझेगा, उसके लिये आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान, आत्म-समर्पण उसका स्वाभाविक जीवन हो जायगा।

यज्ञ में असली भाव है जीवन समर्पण का, पर उसका अर्थ जान मारना नहीं हो सकता। शुद्ध समर्पण भाव से कोई भी कार्य किया जाय वह यज्ञ है। देखिये श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक ९ में भगवान कहते हैं—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।"

अर्थात्, 'यदि कर्म यज्ञ छोड़ कर अन्य किसी भाव से किया जाय तो संसार कर्म बन्धन में पड़ जाता है।' इस से साफ मालूम होता है कि प्रत्येक कर्म यज्ञ भाव से किया जा सकता है। इसी भाव को और भी स्पष्ट कर के आगे नवें अध्याय, श्लोक २७ में भगवान ने फिर कहा है:—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

अर्थात्, 'हे कौन्तेय, जो कुछ तुम करो, जो कुछ तुम खाओ, जो कुछ तुम दान करो, जो कुछ तुम दो, जो कुछ तपस्या करो, वह सब तुम मुझे समर्पण कर के करो।' इस प्रकार प्रत्येक काम यहां तक कि खाना पीना, उठना बैठना, देना लेना, सब कुछ समर्पण अर्थात् यज्ञ भाव से किया जा सकता है। समर्पण किस को? मुझ को, अर्थात्, सर्वव्यापी ब्रह्म को, अर्थात्, प्राणीमात्र की सेवा के निमित्त।

यज्ञ के बारे में इतना लिखने की इस कारण आवश्यकता हुई कि इसके सम्बन्ध में बहुधा बहुत ग़लतफ़हमी फैली हुई है। अब पंच महायज्ञों की ओर ध्यान लेजाना चाहिये। ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य के जीवन का सम्बन्ध भिन्न २ कोटि की शक्तियों अथवा प्राणियों से है। वे सदा मनुष्य के हितार्थ किसी न किसी रूप में कार्य कर रहे हैं। इस लिये मनुष्य के ऊपर—प्रत्येक मनुष्य के ऊपर, केवल हिन्दुओं पर नहीं, क्योंकि यह भी एक व्यापक, प्राकृतिक नियम है—उनका ऋण है और मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उन ऋणों को चुकाये।

अब ज़रा सोचिये कि कितने प्रकार के ऋण हम मनुष्यों पर हो सकते हैं। दूसरे मनुष्य हमारे साथ दया, प्रेम, साहाय्य का भाव रखते हैं, इसलिये यह एक प्रकार का ऋण हुआ जिसे औरों के साथ दया, प्रेम तथा साहाय्य का भाव दर्शा कर हम चुका सकते हैं। पूर्वजों ने कठिन परिश्रम द्वारा, बड़ी २ मुसीबतों

को झेल कर पृथ्वी और समाज को इस रूप में पहुंचाया है जैसा हम आज इसे पाते हैं। यदि वे ऐसा नहीं किये होते तो हम को आज आसाइश, आराम, सुभीते के इतने सामान न मिले होते जिन्हें हम देख रहे हैं। याद रखनी चाहिये कि प्रारम्भ काल में खेती बारी, भोजन वस्त्र, मकान सहन, कल मशीन इत्यादि कोई वस्तुयें न थीं। धीरे २ इनका वर्त्तमान रूप प्राप्त हुआ है। इन सभी आराम के सामानों के लिये हमें पूर्वजों का ऋणी होना आवश्यक है। पशुओं का भी मनुष्य जाति पर ऋण है, क्योंकि पशुओं की सहायता से मनुष्य का बहुत काम चलता है। बनस्पतियों का भी हमारे ऊपर ऋण है, क्योंकि उन्हीं के ज़रिये हम को भोजन मिलता है, वस्त्र मिलता है और रंगने के लिये और आराम की वस्तुयें मिलती हैं।

यहां तक मनुष्य का ऋण मनुष्यके साथ हुआ, चाहे वे आज जीवित हों अथवा जीवित न हों और भिन्न २ दर्जे के मनुष्य से नीचे की योनियों के साथ हुआ। इन ऋणों को तो हम आसानी से समझ ले सकते हैं। पर मनुष्य के ऋण यहीं समाप्त नहीं हो जाते। हम आगे देखेंगे कि यह दृश्य जगत् विश्व का एक बहुत ही छोटा अंश है। विश्व का प्रधान अंश अदृश्य है और उन अदृश्य भागों में भी भिन्न २ कोटि के प्राणी हैं जिनका मनुष्य से सम्बन्ध है।

उन अदृश्य कोटि के प्राणियों को हम तीन मुख्य श्रेणियों में बिभक्त कर सकते हैं। पहला बिभाग पितृगण का है। साधारणतः हम पितृगण से अपने बाप दादों को ही समझते हैं जिन

से हमें क्रमशः स्थूल शरीर मिलते गये हैं। पर आगे चल कर हम यह भी देखेंगे कि मनुष्य की रचना अत्यन्त विचित्र है। उसके भीतर केवल एक यही स्थूल शरीर ही नहीं है, वरन् और अनेक शरीर हैं। जिस प्रकार जगत् का अधिकांश और प्रधान भाग अदृश्य है, उसी प्रकार मनुष्य का भी अधिकांश और प्रधान भाग अदृश्य है। और उस अदृश्य भाग के भीतर मनुष्य के—प्रत्येक मनुष्य के—अनेक कोष, बाहन अथवा शरीर छिपे पड़े हैं, जिनके ज़रिये वह अदृश्य लोकों से अपना सम्बन्ध रखता है। उन कोषों अथवा बाहनों के बनाने में भी अनेक कोटि के अदृश्य प्राणियों के हाथ हैं। इसलिये उनका ऋण भी प्रत्येक मनुष्य धारता है। इन पितृगणों की भी अनेक श्रेणियां हैं—जैसे, सोमसद पितृगण, अग्निश्वाता पितृगण, बर्हिषद् पितृगण, हविर्मुख पितृगण, इत्यादि, इत्यादि, पर इस छोटे पुस्तक में इनका अधिक वर्णन असम्भव है।

दूसरी उच्च कोटि की अदृश्य श्रेणी देवगण की है। और योनियों की नाईं इनकी भी एक खास योनि है और ये दृश्य प्रकृति के और अदृश्य के भी भिन्न २ रचना कार्यों में लगे रहते हैं। गर्भ के भीतर इस स्थूल शरीर की रचना कौन करता है? फूलों के रूप रंगों को कौन बनाता है? इत्यादि, इत्यादि अदृश्य रूप से सदा किसी न किसी बिभाग में ये लगे रहते हैं। साधारणतः हम समझते हैं कि प्राकृतिक रूप से आप से आप सभी दृश्य जगत् की वस्तुयें बनती रहती हैं। उनको हम प्राकृतिक शक्तियों का कार्य कह कर जी को शान्त्वना दे लेते हैं। पर वास्तव में सभी

प्राकृतिक नियमों का संचालन तथा पालन इन देवगण के द्वारा होता है। इसलिये देवगण का भी एक प्रधान ऋण मनुष्य जाति पर है और यज्ञ द्वारा इसका निपटेरा करना हमारा कर्त्तव्य है।

भगवान ने गीता में बहुत स्पष्ट शब्दों में इस सम्बन्ध का वर्णन किया है। कहते हैं:

"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पाप ये पचन्त्यात्म कारणात्॥"

—अ० ३, श्लो० १०-१३।

अर्थात्, "पुरातन काल में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजाओं अर्थात् मनुष्य जाति की सृष्टि करके कहा: 'इसीके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी, यह तुम्हारे लिये कामधेनु हो। इस के द्वारा तुम देवगण का पालन करना और देवगण तुम्हारा पालन करें, इस प्रकार एक दूसरे का परस्पर पालन कर तुम परम श्रेय को प्राप्त करोगे। क्योंकि यज्ञ द्वारा प्रतिपालित होकर देवगण तुम्हारे इच्छित भोगोंको प्रदान करेंगे।' जो कोई उनके द्वारा दी हुई भोगों को भोगता है और उनको बदले में कुछ नहीं देता, वह वास्तव में चोर है। सन्त गण जो यज्ञ से बचा हुआ प्रसाद पाते हैं सभी

पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु अघ लोग जो केवल अपने ही लिये भोजन बनाते हैं वे वास्तव में पाप को ही भक्षण करते हैं।" इस से स्पष्ट शब्दों में मनुष्य तथा देवगण के पारस्परिक सम्बन्धों तथा पारस्परिक कर्त्तव्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अब रह गई उच्च कोटि की तीसरी अदृश्य श्रेणी। वे हैं ऋषि, महात्मा गण, जो सतत प्रयत्न द्वारा पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं। आवागमन के बन्धन से रहित हो जा चुके हैं। वे ही संसार के सच्चे सञ्चालक हैं। उनकी भी अनेक श्रेणियां हैं। उन में से कुछ के साथ मनुष्य का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। वे ही सद्गुरु हैं जो ईश्वर प्राप्ति के पथ-प्रदर्शक हैं। इन का कुछ विस्तार पूर्वक वर्णन आगे मिलेगा। इन के सम्वन्ध से ही ज़ाहिर होता है कि इनका कितना बड़ा ऋण मनुष्यों के सिर पर है।

इस प्रकार हम पांच प्रधान कोटि के ऋणों को देख चुके। इन्हीं ऋणों को चुकाने के निमित्त हिन्दू धर्मशास्त्रों ने पञ्च महायज्ञों का निर्माण किया है। उन के नाम ये हैं:—ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ। ब्रह्म यज्ञ को ऋषि यज्ञ अथवा वेद यज्ञ भी कहते हैं। यह यज्ञ वेदाध्ययन तथा अध्यापन द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार देवयज्ञ होम द्वारा, पितृ यज्ञ श्राद्ध तर्पण द्वारा, भूत यज्ञ बलि द्वारा और नृ यज्ञ अतिथि सेवा द्वारा किया जाता है।

होम अग्नि में घी डाल कर किया जाता है, तर्पण जल देकर और बलि करने का साधारण तरीक़ा यह है कि भोजन करते समय थोड़ा सा भोजन ज़मीन पर धर दिया जाता है और साथ२

कुछ मंत्रोंका उच्चारण किया जाता है। ऐसा करने का एक अभिप्राय तो यह है कि इनके ज़रिये हम अन्तर्जगत के प्राणियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं और साथ ही प्रकृति से उनके अनुकूल शक्तियों को उनके पास भेजते हैं, जिनसे उनके निजी विकास में सहायता पहुंचती है। पर आज हमारे ख़्याल इतने बदल गये हैं कि सज्ञान रूप से ऐसा कर के अपना कर्त्तव्य पालन करना तो दूर रहे, हम इन बातों को ही सुन कर हंस दिया करते हैं। ऐसे लोगों से बिनम्र निवेदन है कि वे धर्मग्रन्थों का अवलोकन करें और उन के तथ्यों को समझ कर वैसा ही जीवन बना कर चलने की कोशिश करें और फिर वे देखेंगे कि ये बातें हंस कर उड़ा देने की नहीं, बल्कि ग्रहण करने, अपनाने की है, क्योंकि इनके भीतर सत्य तथा जीवन का सार भरा है। मन्त्रों तथा कई प्रकार की वस्तुओं का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उचित रीति से उन का व्यवहार करने से भिन्न २ लोकों में प्राकृतिक शक्तियां उत्तेजित हो जाती हैं। आज तो हम को इस सिद्धान्त के समझने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वैज्ञानिक रीति से भी बिना तार के तार द्वारा बात की बात में ख़बरें एक देश से दूसरे २ देशों में उड़ाई जा रही हैं। ऐसा कैसे होता है? कुछ वैज्ञानिक शस्त्रों तथा विधियों द्वारा ईथर (आकाश) तत्त्व में लहरें पैदा कर दी जाती हैं। ईथर ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है कि इस की गति में कोई ठोस, तरल अथवा वायु रूपी वस्तुयें बाधक नहीं हो सकतीं। इसलिये जल की लहरों की नाईं ये लहरें दसो दिशाओं में फैल जाती हैं और जो कोई इन लहरों को अनूकूल शस्त्रों द्वारा ग्रहण कर सकता है वह

उन बातों को सुन सकता है। इसी प्रकार ईथर से भी सूक्ष्म तत्त्व अनेक हैं और उन में भी लहरें पैदा की जा सकती हैं और ग्रहण की जा सकती हैं। हमें अभी व्यापक रूप से इन बातों के मानने में संकोच होता है क्योंकि आधुनिक विज्ञान की छाप इन पर अभी तक नहीं लगी है। हम आगे देखेंगे कि आधुनिक विज्ञान तथा पूर्वीय प्राचीन विज्ञान की रीतियों में क्या अन्तर है। जो हो, इस विषय पर आगे कुछ विशेष विचार किया जायगा, यहां इतना ही दिखला देना काफ़ी है कि प्राचीन प्रथा के अनुसार लोग नित्य प्रति अदृश्य लोकों के प्राणियों के साथ पारस्परिक सम्बन्ध रखते थे और आज भी वैसा किया जा सकता है, क्योंकि ये प्राकृतिक रीतियां हैं।

इन विधियों को जो थोड़ा बहुत कहीं २ आज भी लोग करते हैं वे निर्जीव भाव से करते हैं, जैसे यह बहुधा रिवाज सा हो गया है कि खाने के पहिले कुछ थोड़ासा भोजन ज़मीन पर गिरा दिया जाय। इस का अर्थ लोग बहुधा यही समझा करते हैं कि ऐसा करने से उस भोजन का जो कुछ ख़राब प्रभाव डालने वाला अंश होगा वह निकल जायगा अथवा इसी से भूत यज्ञ पूरा हो जायगा। पर यह विधि तो भूतों के प्रति अपने कर्त्तव्य को प्रकट करने के लिये केवल एक संकेत मात्र है। वास्तव में भिन्न भिन्न भूतों के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन तभी हो सकेगा जब समझ बूझ कर उन की आवश्यकताओं को पूरी करने की कोशिश की जायेगी : उदाहरणार्थ, पशुओं का भलीभाँति पालन पोषण करना, उन पर दया तथा प्रेम का भाव दर्शाना, बनस्पतियों

के विकास का समुचित प्रयत्न करना, वैसे ही अन्य अदृश्य भूतों पर भी सद्भाव दर्शाना, इत्यादि । ऐसा सज्ञान रूप से वर्तने से भूत यज्ञ पूरा हो सकता है। इसी प्रकार अन्य यज्ञों के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों को समझना चाहिये। इसलिये इन विधियों के तात्पर्य को समझ कर ही करने से उचित लाभ हो सकता है। यदि ये पांचों यज्ञ नित्य प्रति नियमित रूप से किये जायं तो हम विश्व की सारी शक्तियों अथवा प्राणियों के साथ अपना उचित कर्त्तव्य पालन कर सकते हैं और इस प्रकार अपने भिन्न २ अङ्गों का भी पूरा २ विकास नित्य प्रति करने में सहायक बन सकते हैं। दैनिक, व्यावहारिक जीवन के लिये इन से बढ़ कर कोई दूसरी रीति हो नहीं सकती।

इनके भीतर एक और तत्त्व भरा है जो थोड़ा सोचने से ज़ाहिर हो जायगा। आज कल इस बात को लोग प्रायः आसानी से समझ जायेंगे कि हम कोई भी काम करते हैं तो उससे सारे विश्व की शक्तियां कुछ न कुछ अंशों में अवश्य सञ्चालित हो जाती हैं। आधुनिक विज्ञान कहता है कि एक तिनके के हिलने से भी इस पार्थिव जगत की सारी शक्तियों की समानता में अन्तर आ जाता है। धार्मिक विज्ञान का भी यही कहना है। अन्तर दोनों में यही है कि आधुनिक विज्ञान केवल बाहरी स्थूल संसार से सम्बन्ध रखता है और धार्मिक विज्ञान का सम्बन्ध विश्व की दृश्य तथा अदृश्य सारी शक्तियों से है। जब एक तिनके के हिलने से इतना बड़ा प्रभाव पड़ सकता है तो मनुष्य के कार्यों, भावों तथा विचारों के असर तो अवश्य अधिक परिणाम में पड़ते

होंगे। इसलिये हमें सज्ञान रूप से ऊपर वर्णित पांच श्रेणी के प्राणियों के साथ सदा अपना सम्बन्ध समझना चाहिये और अपने सभी कामों को अपने इन सम्बन्धों का स्मरण रखते हुए करना चाहिये। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध बाह्य जगत से लेकर अन्तर जगत तक पहुंचता है, अपने सहवर्गीय प्राणी अर्थात् मनुष्यों से लेकर नीचे पशुओं, बनस्पतियों, खनिजों तथा अन्य अदृश्य वर्गों के भूतों अथवा प्राणियों तक पहुंचता है और वैसे ही ऊपर पितृगण, देवगण तथा भिन्न २ श्रेणी के ऋषि महात्माओं से होता हुआ परब्रह्म परमेश्वर तक हमारा अटूट सम्बन्ध लगा हुआ है। अहा! कैसा सुन्दर और उदार भाव है!

एक समय था जब हम अपने इन सम्बन्धों को जानते थे और नित्य के जीवन में इन सम्बन्धों के अनुकूल व्यवहार करते थे। पर आज उनका नाम तक हमें मालूम नहीं। आज तो पशुओं, बनस्पतियों और खनिजों के साथ ऐक्य स्थापित करना दूर रहे, हम मनुष्यों में भी इतना भेद कर देते हैं कि जिसका ठिकाना नहीं। भला जिस देश का धर्म, विज्ञान, तर्क इतना उन्नत हो कि कंकड़ पत्थर तक के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया गया हो और व्यवहार में बर्त्ता जाता हो, वहां मनुष्य के साथ इतना भेद कि करोड़ों भाइयों को अस्पृश्य कह कर उनको अपने दायरे से नीचे गिरा दिया जाय? क्या यह बात समझ में आ सकती है? पर आज तो हमारे हिन्दू समाज की यही वर्त्तमान परिस्थिति है। न जानें हम ने कौन सा घोर पाप किया था कि जिस का यह बुरा परिणाम भोगना पड़ा कि अपने सबर्गीय प्राणियों

में भी इस प्रकार का कांटछांट हो गया। और न जानें आगे और क्या हमें भोगना बाक़ी है कि आज भी हम अपनी भूलें को सुधारने पर तैयार नहीं। सच्चे हिन्दुओं का परम कर्त्तव्य है कि वे उठें और जिनको उन्होंने सदियें से नीचे गिरा रखा है उन को हृदय से लगायें, अपनी भूलें के लिये हार्दिक पश्चाताप करें और उन पददलित भाइयें की उन्नति का साधन बनें। वैसे ही उन्हें चाहिये कि अन्य कोटि के प्राणियें के साथ भी उचित सम्बन्ध स्थापित कर समस्त मानव जाति के सामने फिर एक बार केवल महत्त्व पूर्ण धर्म ग्रन्थें द्वारा ही नहीं, बल्कि अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा वे अपने प्राचीन, सनातन, प्राकृतिक धर्म के उज्ज्वल प्रकाश को संसार भर में दर्शायें। संसार इन सत्यें के लिये तरस रहा है।

अहा! विश्व-बन्धुत्व का कैसा अच्छा परिचय यहां मिलता है। वास्तव में एक जीवन सभी प्राणियें में व्याप रहा है। हमें तो पुनः प्रह्लाद का वह पद याद आता है—"हम में, तुम में, खड्ग खम्भ में, घट घंट व्यापे राम"। प्राणी मात्र से, पदार्थ मात्र से—क्योंकि कोई पदार्थ निर्जीव नहीं है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन—अपने इस गुप्त सम्बन्ध को हम पुनः स्थापित करें। सब में एक जीवन, एक ब्रह्म व्याप रहा है। हमारे भीतर जो जीवन है और पत्थर के भीतर जो जीवन है दोनों एक है, अन्तर केवल बाहरी, ऊपरी है। प्राणी मात्र प्रेम तथा जीवन के एक सूत्र में बंधे हुए हैं। इस रहस्यमय जीवन के तत्त्व को जान कर वैसा ही रहने ही में जीवन की सार्थकता है और यदि इस प्रकार हम

अटल प्रेम तथा दृढ़ विश्वास के साथ रहने लगेंगे तो हम देखेंगे कि आज भी अवसर पड़ने पर भगवान खम्भ फाड़ कर निकल आ सकते हैं और हमारी रक्षा कर सकते हैं, जैसे उन्होंने प्रह्लाद भक्त को काल के गाल से उबारा था। पर यह बात तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारा हृदय, हमारा मन सच्चा न हो जाय, जब तक हम अस्पृश्यों तथा अन्य प्राणियों को अपनी घृणा के बन्धनों से मुक्त न कर दें, जब तक प्राणीमात्र के साथ हमारा सच्चा प्रेम न हो जाय।

इन दो अध्यायों से हिन्दू धर्म के महत्त्व का कुछ पता पाठकों को अवश्य मिल गया होगा और यह भी मालूम हो गया होगा कि हमने अपने धर्म को कितना नीचे गिरा रखा है। अब धर्म के अमूल्य रत्नों, मूल सिद्धान्तों को समझने की कूंजी ढूंढ़नी चाहिये। इसलिये अगले अध्याय में तत्त्वों का वर्णन किया जायगा।

चौथा अध्याय

पञ्च तत्त्व–प्राकृतिक लोक

पहिले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि धर्म का मूल तत्त्व ग्रहण करने के लिये तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान अनिवार्य है। दर्शन, शास्त्र, उपनिषद्, गीता किसी धर्म ग्रन्थ को लीजिये जिसमें मनुष्य के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन हो और आप देखेंगे कि तत्त्वों की ही भाषा में उनके सूत्रों का वर्णन है। तत्त्व ही धार्मिक ज्ञान के मूल स्तम्भ हैं। इसलिये इन को भली भांति समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

साधारणतः पांच तत्त्व माने जाते हैं–पृथिवी, अपस्, अग्नि, वायु और आकाश। तुलसी दास जी ने भी रामायण में एक जगह कहा है:—

"छिति जल पावक गगन समीरा।
पञ्च रचित यह अधम शरीरा॥"

इस प्रकार देखा जायगा कि पञ्च तत्त्व की जानकारी हमारे देश में बहुत व्यापक भाव से है। लेकिन दुःख की बात है कि साधारण मनुष्यों के बारे में तो कहना ही क्या है, आज कल के बड़े २ विद्वान् पण्डित भी इनके असली अर्थ को नहीं जानते। कारण यह है कि ऋषि महात्मा लोग तत्त्वों के भेदों को अत्यन्त गुप्त रखते थे, केवल अधिकारी पुरुषों को ही गुप्त रूप से बतलाया

करते थे। वह असली ज्ञान तो किसी अनुभवी गुरु अथवा अनुभवी गुरु के सच्चे शिष्य से ही मिल सकता है, केवल धर्म-ग्रन्थों के पढ़ने से नहीं। चूंकि आज हमारे समाज में प्रत्यक्ष रूप से ऐसे ऋषि महात्मा नहीं देखे जाते और इन तत्त्व ज्ञानों के खोजी भी कम ही दीख पड़ते हैं इसलिये बहुत कुछ पढ़ लिख जाने पर भी पण्डित लोग इन ज्ञानों से प्रायः अनभिज्ञ ही पाये जाते हैं।

इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि पाण्डित्य कुछ और वस्तु है और तत्त्व ज्ञान कुछ और ही। जिस प्रकार विद्याध्ययन द्वारा पाण्डित्य प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार योगाभ्यास तथा आत्म अनुभव द्वारा तत्त्व ज्ञान हासिल किया जाता है।

इसी कारण से श्रीमद्भगवद्गीता में जहां कहीं आत्म अनुभव का ज़िक्र आया है, वहां भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह ज्ञान विद्याध्ययन, यज्ञ, तप आदि उपायों से नहीं हासिल किया जा सकता। उदाहरणार्थ उनके एक श्लोक को देखिये:–

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥"

अ० ११, श्लो० ५३।

अर्थात्, "जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, उस प्रकार मैं न तो वेदों अर्थात् वेदाध्ययन द्वारा देखा जा सकता हूँ, न तपस्या द्वारा, न दान द्वारा और न यज्ञ द्वारा।" और अनेक स्थानों पर भी इस आशय की बातें आई हैं।

हाल में कुछ महात्माओं ने जीवन के बहुत कुछ रहस्यों को संसार के सामने प्रकट कर दिया है, क्योंकि उन लोगों ने देखा है कि अब इन गुप्त रहस्यों का प्रचार संसार भर में कर देना ही उचित है। वे व्यापक दृष्टि से सारे संसार की आवश्यकताओं को देखते हैं और उनको पूरा करने के लिये जिस हद तक जीवन के गुप्त रहस्यों से पर्दा उठाना आवश्यक प्रतीत होता है, वहां तक पर्दा उठाते चले जा रहे हैं। दिनोंदिन नये २ भेद खोले जा रहे हैं। पर इस बार उनका प्रचार संसार भर में करने के हेतु अंग्रेज़ी भाषा का व्यवहार किया गया है, क्योंकि अंग्रेजी ही एक ऐसी भाषा है जिस का प्रचार आज कमोवेश समस्त संसार में है। हिन्दी भाषा में अब तक उन पुस्तकों का बहुत कम उल्था हुआ है। इस पुस्तक में जितनी बातें दी गई हैं उनका विशेष ज्ञान अङ्गरेज़ी पुस्तकों से ही हासिल हुआ है। आप आगे देखेंगे कि उन के सहारे हम अपने धर्मग्रन्थों के मूल सिद्धान्तों को किस ख़ूबी के साथ समझ सकते हैं। उनके प्रकाश में साधारण रस्म रेवाजों का ऐसा सुन्दर अर्थ निकलता है कि हृदय गद्गद हो जाता है और अपने धर्म की ओर और भी अभिरुचि तथा श्रद्धा बढ़ जाती है। खेद की बात है कि पक्षपात, स्वार्थ तथा अन्ध-विश्वास के कारण हम अंग्रेज़ी भाषा से इन रत्नों को ग्रहण करने की कोशिश नहीं करते हैं। सिर्फ घमण्ड से फूले बैठे रहते हैं कि हमारे धर्म ग्रंथों तथा संस्कृत भाषा से बढ़ कर ज्ञान कहां मिल सकता है। बात सही है, पर पुस्तकों में ज्ञान भरे रहने से क्या होगा। लाभ तो होगा उन के समझने से ही। इसलिये यदि अन्य

भाषा के द्वारा हम को अपने धर्म का महत्त्व समझ में आ सके, तो हम क्यों उसे छोड़ें ?

ख़ैर, तत्त्वों के सम्बन्ध में बहुत तरह की ग़लत फ़हमियां फैली हुई हैं। तत्त्व शब्द का व्यवहार आधुनिक रसायन शास्त्र में भी किया जाता है। वैज्ञानिक लोग उन वस्तुओं को तत्त्व कहते हैं जो मौलिक हैं, अर्थात्, जो और किसी दूसरी वस्तुओं से मिल कर नहीं बनी हैं, जैसे हाइड्रोजेन, औक्सिजन, लोहा, चांदी, इत्यादि। इस प्रकार प्रायः अस्सी नव्वे तत्त्वों का पता उन्होंने लगाया है। अब देखिये, धर्म शास्त्रों में केवल पांच ही तत्त्वों का वर्णन है और उन में से एक तत्त्व जल है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि जल तो कोई मौलिक वस्तु नहीं है। यह तो दो प्रकार की वायु रूपी वस्तुओं अर्थात् हाइड्रोजेन और औक्सिजन के मिलने से बनता है। इसलिये जल एक मिश्रित वस्तु है, मौलिक नहीं, और इसी कारण से जल को तत्त्व कहना भूल है। जल तत्त्व के असली तात्पर्य को तो उन्होंने समझा नहीं और चूंकि साधारण जल दो भिन्न २ तत्त्वों से बना हुआ है, इसलिये वे इस बात को लेकर उड़ गये कि प्राचीन लोग कितने बेवक़ूफ़ थे कि वे जल को एक तत्त्व समझते थे; और इस भाव के साथ ही साथ उन को अपने अन्वेषण तथा अपने प्राकृतिक ज्ञान पर गर्व भी होने लगा, क्योंकि प्राचीन प्रणाली में तो लोग केवल पांच ही तत्त्वों को जानते थे, पर इन्होंने तो अस्सी नव्वे तत्त्वों का पता लगा लिया। हम आगे देखेंगे कि इस भाव में कितनी भारी भूल भरी है; और यह भी देखेंगे कि पांच ही तत्त्वों के द्वारा प्राचीन

ऋषिगण प्राकृतिक रहस्यों के किस हद तक अथवा किस गहराई तक पहुंच गये थे और अस्सी नव्वे तत्त्वों को जानते हुए भी आज के वैज्ञानिक किस प्रकार प्राकृतिक ज्ञान सागर के एक किनारे पर ही केवल उसके सतह पर हिलोरे खा रहे हैं।

तह तो वैज्ञानिक लोगों का अर्थ तत्त्वों का हुआ। आज कल के धार्मिक लोग इनका क्या अर्थ करते हैं? पर उस पर विचार करने के पहिले तत्त्वों का सामान्य ज्ञान कर लेना आवश्यक है। तभी तत्त्वों के भिन्न २ अर्थों की तुलनात्मक सत्यता की जांच हो सकेगी। इसलिये अब संक्षेप में तत्त्वों के सम्बन्ध में जो सामान्य ज्ञान धर्म पुस्तकों में दिया गया है, उसका वर्णन किया जायगा।

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि पांच तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। इन में से प्रत्येक तत्त्व का एक एक विशेष गुण होता है जिसे तन्मात्रा भी कहते हैं। वास्तव में पहिले क्रमशः पांच तन्मात्राओं की सृष्टि हुई, जिन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध कहते हैं, और फिर इन तन्मात्राओं के अनुकूल पांच तत्त्वों की सृष्टि हुई। इसलिये यद्यपि साधारणतः इन तन्मात्राओं अथवा महाभूतों को तत्त्वों के गुण रूप ही वर्णन किया जाता है, पर इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि सृष्टि के क्रम में तन्मात्राओं का स्थान तत्त्वों के पहिले है। इन पांच तत्त्वों में से सब से पहला तत्त्व आकाश समझा जाता है। जगत की सृष्टि का आरम्भ उसी तत्त्व से माना जाता है। उस का विशेष गुण है शब्द।

आकाश तत्त्व से वायु तत्त्व की उत्पत्ति हुई। उसका विशेष

गुण है स्पर्श। पर नियम है कि पीछे आने वाले तत्त्वों में पहिले के तत्त्वों के भी गुण वर्त्तमान रहते हैं। इस प्रकार वायु में स्पर्श के साथ २ शब्द का गुण भी रहता है।

वायु तत्त्व से उत्पत्ति है अग्नि तत्त्व की। इस का विशेष गुण है रूप, पर ऊपर बतलाये नियमानुसार रूप के साथ २ इस में शब्द तथा स्पर्श के गुण भी होते हैं।

अग्नि तत्त्व उत्पत्ति है अपस् अर्थात् जल तत्त्व की। उस का प्रधान गुण है रस, पर रस के साथ २ इसमें शब्द, स्पर्श, तथा रूप के गुण भी वर्त्तमान रहते हैं।

जल तत्त्व से उत्पन्न हुआ पृथिवी तत्त्व। इसका विशेष गुण गन्ध है। पर इसमें ऊपर के भी चारों तत्त्वों के गुण पाये जाते हैं, अर्थात् पृथिवी तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पांचों गुण पाये जाते हैं।

कहा जाता है कि इसी क्रम से सृष्टि हुई, अर्थात्, सब से पहले आकाश की उत्पत्ति हुई, उस के बाद आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। इससे समझा जा सकता है कि एक समय ऐसा कि था जब पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायुका अस्तित्व न था, केवल आकाश ही आकाश था। उसी तरह से पृथिवी तत्त्व की सृष्टि के पहले सब कुछ जलमय ही होगा, हां, उस के साथ २ ऊपर वाले तत्त्व अर्थात् अग्नि, वायु और आकाश भी वर्त्तमान होंगे, पर पृथिवी तत्त्व न होगा। इसी प्रकार जब प्रलयका समय आयेगा तो पृथिवी जल में बिलीन हो जायगी, फिर क्रमशः जल अग्नि में विलीन हो

जायगा, अग्नि वायु में और वायु आकाश में। आगे समझने के लिये इन क्रमों को स्मरण रखना आवश्यक है।

गुणों के सम्बन्ध में भी ऊपर के वर्णन से मालूम होगा कि आकाश में केवल एक शब्द का ही गुण पाया जायगा; स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के गुण उसमें नहीं पाये जायेंगे। वायु में दो गुण पाये जायेंगे, शब्द और स्पर्श के, पर रूप, रस और गन्ध के गुण नहीं पाये जायेंगे। इसी प्रकार अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप के तीन गुण पाये जायेंगे, पर रस और गन्ध के दो गुण नहीं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस के चार गुण तो पाये जायेंगे पर गन्ध का गुण नहीं पाया जायगा। और पृथिवी में शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के पांचो गुण पाये जायेंगे।

अब आज कल के धार्मिक विद्वानों के तत्त्व सम्बन्धी अर्थ पर ग़ौर कीजिये। ये वैज्ञानिकों से एक दर्जा आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि इन तत्त्वों से अभिप्राय पदार्थ की अवस्थाओं से है। पृथिवी तत्त्वसे मतलब पृथ्वी अर्थात् मिट्टी से नहीं बल्कि पदार्थों की ठोस अवस्था से है। वैसे ही अपस् अथवा जल तत्त्वसे अभिप्राय पानी से नहीं, बल्कि पदार्थों की तरल अवस्था से है। ऐसे ही तेज, पावक अथवा अनल से अभिप्राय अग्नि अवस्था से है, वायु से वायवीय अवस्था से और आकाश इन सभों से परे वायु से भी सूक्ष्म तत्त्व है जो सर्वत्र वर्त्तमान है।

इस प्रकार का अर्थ करने से वैज्ञानिकों का जो ऊपर दिया हुआ सन्देह है उसका उत्तर तो मिल जाता है, क्योंकि यदि जलसे पदार्थों की तरल अवस्था समझें तो उनका प्रश्न आप से आप

गिर जाता है, क्योंकि वैसी दशामें जल को किसी वैज्ञानिक तत्त्व से मिलाने का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

पर तत्त्वों से पदार्थों की अवस्थायें समझने पर विज्ञान का एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है। हाल तक तो विज्ञान पदार्थों की केवल तीन दशाओं को मानता था—ठोस, तरल और वायवीय। पर कुछ दिनों से एक चौथी दशा के माने बिना काम नहीं चलता, जिस को अंगरेज़ी में ईथर कहते हैं। इसी के सहारे बिजली, प्रकाश, बिना तार के तार आदि के कार्य होते हैं। इस प्रकार विज्ञान आज प्रायः चार दशाओं को मान रहा है। कहा जा सकता है कि जिसको वैज्ञानिक ईथर कहते हैं उसी को धार्मिक योगियों ने आकाश कहा है, पर यह पांचवी अवस्था जो पदार्थों की अग्नि अवस्था कही जाती है, वह कहां से आई? विज्ञान में इसका कहीं स्थान नहीं है, और आधुनिक धार्मिक विद्वान इसका कुछ सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। वे कहते हैं कि अग्नि तो हम देखते ही हैं, इसी को दार्शनिकों ने पदार्थों की एक अवस्था कही होगी। पर इस उत्तर से सन्तोष नहीं होता।

इस स्थान पर वैज्ञानिकों का पार्ट बहुत ज़बरदस्त है। वे तो साफ़ देखते हैं कि यदि हम किसी वस्तु को ठोस अवस्था में लें, तो उस को गर्म करके तरल अवस्था में ला सकते हैं। अगर और काफी गर्मी पहुंचाई जाय तो वह वस्तु तरल अवस्था से वायवीय अवस्था में चली जाती है। वायवीय अवस्था से आकाश अवस्था में भी किसी वस्तुका परिवर्तन किया जा सकता है अथवा

नहीं, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है, क्योंकि ईथर को वैज्ञानिक रीति से अलग करने का उन्हें आज तक कोई तदबीर नहीं मालूम हुआ है, और शायद आगे भी प्रस्तुत रीतियों से नहीं मालूम हो सकेगा, क्योंकि हम आगे देखेंगे कि जिन उपायों से ऐसा किया जा सकता है उनकी रीति वैज्ञानिक रीति से एकदम पृथक है। ख़ैर, इसको छोड़ दीजिये, पर पदार्थों की अग्नि अवस्था का तो कहीं स्थान ही नहीं मिलता। उदाहरणार्थ जल को ही ले लीजिये। ठोस अवस्था में यह वर्फ हो जाता है और हम जानते हैं कि गर्मी पहुंचने से वर्फ गल कर पानी हो जाता है, अर्थात्, इसकी अवस्था ठोस से बदल कर तरल हो जाती है। हम यह भी जानते हैं कि पानी को गर्म करने से भाप बन जाता है, अर्थात्, पानी तरल अवस्थासे वायवीय अवस्थामें चला जाता है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की अवस्थायें भी बदली जा सकती हैं। पर वायु और जल अवस्थाओं के मध्य में जो अग्नि अवस्था का स्थान आता है, उस अवस्था में तो हम किसी वस्तु को पाते ही नहीं। ठोस अवस्था में वर्फ, तरल अवस्था में पानी और उस के बाद वायवीय अवस्था में भाप। इस में जल की अग्नि अवस्था का स्थान बीच में कहां से आया? यह कहने से तो सन्तोष नहीं होता कि वह अग्नि जो हम देखते हैं वही अवस्था है, क्योंकि हम जानते हैं कि लोहा, सोना, चांदी, पानी, पारा इत्यादि प्रत्येक वस्तुओं की ठोस, तरल तथा वायवीय अवस्थायें एक दूसरे से विल्कुल पृथक २ होती हैं, पर ऐसा मानने से सभों की अग्नि अवस्था का रूप, जिस का स्थान तरल और

वायवीय के बीच में है, एक ही हो जाता है। यह बात तर्क संगत नहीं है और इसलिये नहीं मानी जा सकती। यह तो एक काफी ज़बरदस्त कारण है जिस से धार्मिक विद्वानों के ऊपर दिये अर्थों को ग़लत ठहराया जा सकता है।

एक दूसरा भी ऐसा ही ज़बरदस्त कारण है जिस से उन का अर्थ ग़लत ठहर जाता है। वह कारण यह है कि ऊपर वर्णन किये तत्त्वों के गुणों के मुताबिक़ पदार्थों की तरल अवस्था में कोई गन्ध नहीं होनी चाहिये, वैसे ही पदार्थों की वायवीय अवस्था में न कोई गन्ध होनी चाहिये और न कोई रस। पर हमारा अनुभव बिल्कुल दूसरे ही प्रकार का है। कितनी ही तरल वस्तुएँ जैसें तेल, एसिड, आदि ऐसी हैं जिन में गन्ध प्रधान रूप से पाया जाता है, यद्यपि वैज्ञानिक रूप से वे शुद्ध तरलावस्था में हैं। इसी प्रकार कितने ही प्रकार के गैसों को भी हम जानते हैं, जैसे क्लोरिन, ऐमोनिया आदि जिनके गन्ध प्रधान हैं। इस का भी कुछ संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। इस सन्देह का समाधान इस प्रकार करने की कोशिश की जाती है कि प्रत्येक तत्त्व के भी पांच २ विभाग अलग २ हैं, और जिन तरल अथवा वायवीय पदार्थों का वर्णन ऊपर आया है, उन में कुछ पृथिवी तत्त्व का अंश भी मिला हुआ है, इसी कारण से उन में गन्ध पाया जाता है। पर तब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थों की शुद्ध जलीय अथवा वायवीय अवस्थायें कौन सी हैं, जिन में पृथ्वी का अंश नहीं मिला हुआ है। साधारणतः इसका कुछ उत्तर नहीं मिलता है, क्योंकि यहां तर्क वितर्क से काम नहीं चलता।

धर्मशास्त्रों में जहां तत्त्वों का वर्णन आया है वहां यह भी बतलाया गया है कि प्रत्येक तत्त्व के पांच २ और उपविभाग होते हैं। यथा, यदि आकाश तत्त्व को लें तो इसके उपविभाग होंगे—आकाश-आकाश, आकाश-वायु, आकाश-अग्नि, आकाश-अपस् और आकाश-पृथिवी। आकाश-आकाश वह उपतत्त्व होगा जिस में आकाश तत्त्व का गुण पूर्ण रूप से वर्त्तमान हो। आकाश-वायु आकाश तत्त्व के उस उपविभाग को कहेंगे जिसमें आकाश तत्त्व का गुण प्रधान रूप से और वायु तत्त्व का गुण सामान्य भाव से हो। ऐसे ही आकाश तत्त्व के और उपतत्त्वों के अर्थों को भी समझना चाहिये।

इसी प्रकार और तत्त्वों के उप-विभाग भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ पृथिवी तत्त्व को लीजिये, जिससे हम लोगों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसके उपविभाग अथवा उपतत्त्व ये होंगे:—पृथिवी-आकाश, पृथिवी-वायु, पृथिवी-अग्नि, पृथिवी-अपस् और पृथिवी-पृथिवी। पृथिवी-पृथिवी पृथिवी तत्त्व का वह उपविभाग है जिस में पृथिवी तत्त्व के ही गुण प्रधान तथा सामान्य हर प्रकारसे वर्त्तमान हों। पृथिवी-अपस् वह विभाग है जिस में पृथिवी तत्त्व का गुण प्रधान रूप से और अपस् तत्त्व का गुण सामान्य भाव से वर्त्तमान हो। इसी प्रकार पृथिवी तत्त्व के और उप-विभागों के भी अर्थों को समझना चाहिये।

ऊपर के वर्णन से अब यह बात स्पष्ट हो जायगी कि इस पृथिवी पर हम जितनी वस्तुओं को पाते हैं, चाहे वे ठोस अवस्था में हों या तरल अवस्था में या वायवीय अवस्था में, उन सभों में

पृथिवी तत्व का गुण प्रधान रूप से पाया जायगा। यही कारण है कि क्यों उन में गन्ध तथा रस के गुण भी पाये जाते हैं। इससे हमें मालूम हो जायगा कि इस पृथिवी तल पर पदार्थों की जितनी अवस्थायें पायी जाती हैं वह सभी पृथिवी तत्व के उप-विभागों से बनी हुई हैं। इसलिये अपस्, अग्नि, वायु तथा आकाश के मूल तत्वों को पदार्थों की इन अवस्थाओं से अन्य कहीं ढूंढ़ना चाहिये। इसी तथ्य के भीतर तत्वों के समझने की असली कुंजी छिपी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम उन्हें ढूंढ़ें कहां। ढूंढ़ने के लिये कहीं अन्यत्र नहीं जाना होगा। हम देख चुके हैं कि पृथिवी तत्व के भीतर और ऊपर के सभी तत्वों के सार भरे हैं, इसलिये यदि हम यहीं इन्हीं सांसारिक वस्तुओं की हीर निकालने की कोशिश करेंगे, तो और तत्वों के भी पता चल जायेंगे। कहा जाता है कि पृथिवी तत्व की उत्पत्ति अपस् अर्थात् जल तत्व से हुई और प्रलय के समय पृथिवी तत्व पुनः जल तत्व में बिलीन हो जायगा। इस से नतीजा यह निकलता है कि जिस प्रकार हम इस संसार में पार्थिव पदार्थों की अवस्थायें बदलते देखते हैं, उसी प्रकार प्रधान तत्वों की भी अवस्थायें परिवर्तित होती हैं। इस इशारे पर यदि हम आगे बढ़ें तो कम से कम अनुमान द्वारा भिन्न २ तत्वों के स्थान हमें अवश्य समझ सकेंगे।

यहां पर एक बात को भली भांति चित्त में बैठा लेना आवश्यक है। वह यह है कि तत्वों के नाम जो दिये गये हैं उन से पार्थिव पदार्थों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। वे पृथ्वी तल से

अर्थात् पार्थिव पदार्थों से परे की वस्तुयें हैं। उन के नाम यदि पार्थिव पदार्थों के शब्दों में दिये गये हैं तो इसका कारण यह है कि वे ऐसी वस्तुयें हैं जिनका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसलिये जब उन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान देना ही आवश्यक हो जाता है तो कुछ ऐसी पार्थिव वस्तुओं द्वारा, जिन से उन के गुण कुछ मिलते जुलते हैं, उन का वर्णन किया जाता है। अन्य कोई उपाय ही उनके वर्णन का नहीं है, क्योंकि ये तो अनुभव की वस्तुयें हैं, वर्णन की नहीं।

एक उदाहरण से यह बात सहज ही समझ में आ जायगी। मान लीजिये किसी ने एक लड्डू खाया है और उसको उस लड्डू के स्वाद का ज्ञान ऐसे आदमियों को देना है जिन्हों ने वैसा लड्डू कभी नहीं खाया है। ऐसी हालत में क्या आप समझते हैं कि किसी प्रकार से उस लड्डू के स्वाद वर्णन कर वह उन को उसके स्वाद का यथार्थ ज्ञान दे सकता है? कदापि नहीं। पर ऐसी दशा में वह करेगा क्या? वह ऐसी मीठी चीज़ों को ढूंढ़ेगा जिन्हें उन लोगों ने खाई हो, और उन में से जिस चीज़ की मिठाई उस लड्डू की मिठाई से कुछ मिलती जुलती होगी, उसी के शब्दों में उस लड्डू की मिठाई का वर्णन करेगा। जैसे, अगर उन लोगों ने पेंड़ा खाया हो, तो वह कहेगा कि उस लड्डू का स्वाद पेंड़े के स्वाद से कुछ मिलता जुलता है। पर चाहे वह जो करे, शब्दों द्वारा उस स्वाद का पूरा ज्ञान देना असम्भव है। उस स्वाद का पूरा स्पष्ट ज्ञान दिलाने का सीधा सादा उपाय यह है कि उन को भी वह लड्डू चखा दिया जाय। ठीक यही हालत इन तत्वों के

वर्णन की भी है, बल्कि उन का ज्ञान तो और भी गहन और रहस्यपूर्ण है, क्योंकि तत्व ज्ञान वह ज्ञान है जिस को अच्छी तरह जान लेने से मनुष्य अपने निजी आन्तरिक मूल स्वरूप को जान ले सकता है और इस प्रकार परमात्मा तक पहुँच जा सकता है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं:—

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

—अ० १८, श्लो० ६१।

अथात्, 'हे अर्जुन, सभी भूतों अर्थात् प्राणियों के हृदय में ईश्वर बैठे हैं, अर्थात्, वर्त्तमान हैं। इसलिये अपने आप को पहिचानना क्या है ईश्वरत्व प्राप्ति करना है। इसी कारण से तत्व ज्ञान को आत्मज्ञान भी कहते हैं।

इन बातों पर विचार करने से साफ ज़ाहिर हो जायगा कि तत्वज्ञान कितना कठिन और रहस्यपूर्ण विषय है। इसलिये तत्वों के अर्थ समझते समय उन के नामों के निरा शब्दार्थ लेने से काम नहीं चल सकता। उनका आशय लेना चाहिये। वे तो वर्णन के लिये केवल प्रतिसूचक अथवा संकेत मात्र हैं।

अच्छा, अब इस पृथिवी तल की किसी ठोस वस्तु को ले लीजिये और उसकी अवस्था परिवर्तित करते जाइये। उस के रूप और गुण क्रमशः बदलते चले जायेंगे। वह वस्तु ठोस से तरल और तरल से वायवीय अवस्था में पहुंच जायगी। यहां तक तो विज्ञान भी समर्थन करता है। पर धार्मिक ग्रन्थ बतलाते हैं कि यहीं पर उस के परिवर्तन का अन्त नहीं हो जाता, बल्कि वायवीय से भी सूक्ष्मतर अवस्थाओं तक उस वस्तु का परिवर्तन

किया जा सकता है। इस प्रकार समुचित योगिक प्रक्रियाओं द्वारा हम उसको इस पृथिवी तत्व के आकाश उपतत्व तक ले जा सकते हैं। पर वहां भी अन्त नहीं हो जाता। उस से भी आगे अधिक सूक्ष्म, और अधिक सूक्ष्म, और भी अधिक सूक्ष्म अवस्थाओं तक उस का परिवर्तन होता चला जायगा। पर जब पृथिवी तत्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म उपतत्व से जो यहां आकाश माना गया है, आगे उस का परिवर्तन किया जायगा तो वह वस्तु पार्थिव नहीं रह सकेगी, वह अपस् तत्व के पृथिवी उप-तल पर अर्थात् अपस् तत्व के ठोस यानी स्थूलतम तल पर पहुँच जायगी, और आगे और बढ़ने से अपस् तत्व के सभी उपतत्वों से क्रमशः होती हुई उस के आकाश उपतत्व पर अर्थात् उस के सूक्ष्मतम तल पर पहुँच जायेगी। फिर और अधिक सूक्ष्मावस्था में ले जाने पर अपस् तत्व के दायरे से भी वह वस्तु ऊपर चली जायगी और अग्नि तत्व के स्थूलतम तल पर पहुँच जायगी। इसी प्रकार अग्नि तत्व के भिन्न २ उपतत्वों से क्रमशः होती हुई वायु तत्व के स्थूलतम उपतत्व में प्रवेश करेगी और यदि ऐसी ही प्रक्रिया जारी रखी जाय तो फिर वायु तत्व के भिन्न २ उपतत्वों से होती हुई आकाश तत्व के स्थूलतम उपतत्व में प्रवेश कर जायेगी। इस प्रकार विचार करने से अब कुछ अन्दाज़ा किया जा सकता है कि विज्ञान की पहुंच कहां तक है और योग की पहुंच कहां तक है।

एक बात और यहां पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वास्तव में तत्व सात हैं पांच नहीं, क्योंकि सप्त विभाग ही प्राकृतिक

विभागों का मूल स्तम्भ पाया जाता है। सात दिन, सातरंग, सात स्वर, सप्त ऋषि, इत्यादि, इत्यादि में हम देखते हैं कि प्राकृतिक विभाग सात ही की संख्या में पाये जाते हैं। इसका क्या कारण है पता नहीं। पर यह एक प्राकृतिक तथ्य है जो कुछ अंशों में इस समय हम प्रत्यक्ष भी देख रहे हैं। वास्तव में यह प्राकृतिक साप्तिक विभाग एक अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जिस का कुछ भेद हाल में महात्माओं ने संसार के सामने प्रगट कर दिया है। साधारणतः पण्डित लोग इस तथ्य को मानने के लिये तैयार नहीं होंगे, पर अपने ही धर्म शास्त्रों से इसका भी समर्थन किया जा सकता है। हम अभी देखेंगे कि क्यों साधारणतः केवल पांच ही तत्वों का वर्णन किया जाता है, सात का नहीं।

बात यह है कि प्रत्येक तत्व एक २ लोक के परमाणु का द्योतक, है जिस से वह लोक तथा उसके अन्तर्गत उपलोक या उपतल बनते हैं। इसलिए प्राकृतिक रूप से सात लोक भी हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि साधारणतः प्रत्येक मनुष्य को केवल तीन ही नीचे के लोकों से सम्बन्ध रहता है। इसलिये बहुधा कई स्थानों पर तीन ही लोकों का वर्णन आता है। जो हम में से अत्यन्त उन्नत जीव हैं, वे पांच लोकों तक जा सकते हैं, इसलिये बाह्य पुस्तकों में केवल पांच लोकों तथा पांच तत्वों का वर्णन प्रायः स्पष्ट रूप से आया है। सब से ऊपर वाले दो लोक इतने सूक्ष्म हैं कि हमारे मानव समाज के मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या है, बड़े २ ऋषि महात्मा भी वहां तक नहीं पहुंच पाते हैं। इसी लिये बाह्य पुस्तकों में इनका वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया

है। ऋषि, महात्मा, योगी लोग अधिकारी शिष्यों को इन का ज्ञान अत्यन्त गुप्त रूप से बतलाते थे। वही ज्ञान कुछ अंशों में आज मानव जाति के हितार्थ स्पष्ट शब्दों में प्रगट किया गया है। हां, ऊपर के वर्णन से यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि ऊपर के दो लोकों में कोई पहुँचता ही नहीं। पहुंचते हैं लोग ज़रूर और एक न एक दिन प्रत्येक मनुष्य क्या, प्रत्येक प्राणी वहां पहुंच जायेगा। पर हम आगे देखेंगे कि संसार का विकास क्रमानुसार हो रहा है और उस क्रम के अनुसार वर्त्तमान मानव समाज के लिये वहां पहुंचना प्राय: असम्भव है। इसी कारण से उन दो लोकों के तत्त्वों के नाम भी प्रगट नहीं किये गये हैं और न उनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान बाह्य पुस्तकों में कहीं भी उपलब्ध है। इसलिये प्रस्तुत वर्गीकरण में भी उन लोकों के सिर्फ नाम मात्र पाये जाते हैं, पर कुछ हाल उन के नीचे वाले दो लोकों के बारे में और विशेष हाल उन से भी नीचे वाले तीनों लोकों के बारे में उपलब्ध है। उन के प्रत्येक के वर्णन के लिये एक २ अलग २ पुस्तक की ज़रूरत पड़ेगी और अङ्गरेज़ी में ऐसी पुस्तकें वर्त्तमान भी हैं। पर यहां पर केवल अत्यन्त संक्षेप में ही उनका कुछ वर्णन तथा पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाया जा सकेगा।

सुभीते के लिये नीचे एक चित्र दिया जाता है, जिस में सातों प्राकृतिक लोकों के प्राचीन और वर्त्तमान नाम दिये गये हैं। साधारणत: सप्त वर्गीय लोकों का वर्णन उन्हीं प्राचीन नामों से किया जाता है जो यहां दिये गये हैं। पर कुछ लोगों का ख्याल है कि नीचे दिये गये लोकों के वर्त्तमान नामों से उनका मेल नहीं

है। उनका कहना है कि वर्त्तमान नामों द्वारा प्रगट किये जाने वाले पांच ही लोकों में इन प्राचीन सातो लोकों का समावेश हो जाता है। इसलिये सात्विक विभाग को पूरा करने के लिये वे दो और लोकों के नाम बतलाते हैं जिन्हें वे गोलोक और वैकुण्ठ कहते हैं। जो हो, नामों से यहां झगड़ा नहीं। स्मरण रखने की बात यही है कि प्राकृतिक रूप से लोकों के सात प्रधान विभाग हैं। उनका शुद्ध वर्गीकरण तो कोई अनुभवी हिन्दू योगी ही कर सकता है। भगवान जानें कब वह समय आयगा। पर अभी तो इस विषय में बहुत मतभेद है।

वर्त्तमान नाम अङ्गरेज़ी पुस्तकों से लिये गये हैं। इन नये नामों के देने का प्रधान कारण यह है कि इन नामों से ही उन लोकों के प्राकृतिक स्वरूप आदि के विषय में कुछ पता चल जाता है। साथ ही पांच लोकों के तत्त्वों अर्थात् परमाणुओं यानी सूक्ष्म-तम अणुओं के भी नाम उन के सामने दिये गये हैं और उन तत्त्वों के गुण भी, जिन्हें प्राचीन भाषा में तन्मात्रा कहते हैं, दिये गये हैं। तत्त्वों के व्यावहारिक गुणों का वर्णन आगे मिलेगा।

प्रत्येक लोक एक विशेष तत्त्व से बना हुआ है, जिस का एक विशेष गुण होता है। प्रत्येक लोक के भी सात सात विभाग हैं जिन्हें उस लोक के उपलोक अथवा उपखण्ड कहते हैं। सभी लोकों तथा उनके उपलोकों की बनावट एक मूल तत्त्व से है, जिसे आदि तत्त्व कहते हैं। वह आदि तत्त्व सबसे ऊँचे प्रथम लोक अर्थात् आदि लोक के परमाणुओं का सूक्ष्मतम रूप है।

प्राकृतिक लोक

नं०	लोकों के नाम		तत्त्व अर्थात परमाणु	तन्मात्रा अर्थात् गुण	व्यावहारिक गुण
	प्राचीन	वर्त्तमान			
१	सत्यलोक	आदिलोक	आदि	...	...
२	तप लोक	अनुपादक लोक	अनुपादक	...	...
३	जन लोक	आध्यात्मिक लोक	आकाश	शब्द	आनन्द
४	महर्लोक	बुद्धि लोक	वायु	स्पर्श	बुद्धि
५	स्वर्लोक	मानसिक लोक	अग्नि	रूप	विचार
६	भुवर्लोक	भुवर्लोक वा कामलोक	अपस्	रस	भावना
७	भूलोक	भूलोक	पृथिवी	गन्ध	क्रिया

चित्र नं० १

यौगिक अन्वेषण द्वारा देखा गया है कि उस आदि अर्थात् सूक्ष्मतम तत्त्व के सात परमाणुओं के एक साथ मिलने से आदि लोक के द्वितीय उपलोक का एक परमाणु बनता है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठम तथा सप्तम उपलोकों के परमाणु आदि तत्त्व के क्रमशः १४, २१, २८, ३५ और ४२ परमाणुओं के मिलने से बनते हैं। आदि तत्त्व के ४९ परमाणुओं से दूसरे लोक अर्थात् अनुपादक लोक के उच्चतम उपलोक का एक परमाणु बनता है। फिर आदि लोक के उपलोकों की नाईं इस अनुपादक लोक के

भी दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, छठें, तथा सातवें उपलोक के परमाणु आदि तत्त्व के क्रमशः ४९×७, ४९×१४, ४९×२१, ४९×२८, ४९×३५ और ३९×४२ परमाणुओं के मिलने से बनते हैं; और आदि तत्त्व के $(४९)^२$ परमाणुओं से तीसरे अर्थात् आध्यात्मिक लोक के उच्चतम उपलोक का एक परमाणु तैयार होता है। इसी प्रकार चौथे, पांचवें, छठें और सातवें लोकों के अर्थात् बुद्धि लोक, मानसिक लोक, भुवर्लोक तथा भूलोक के उच्चतम उपलोकों के परमाणु भी आदि तत्त्व के क्रमशः $(४९)^३$ $(४९)^४$, $(४९)^५$ और $(४९)^६$ परमाणुओं से मिल कर बनते हैं। भिन्न २ लोकों के उपलोक तथा उन उपलोकों की सारी वस्तुयें इन्हीं परमाणुओं से बनी रहती हैं, और जब प्रलय का समय आता है तो क्रमशः एक दूसरे में विलीन होते २ अन्त में सभी उसी एक आदि तत्त्व में जाकर विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि ऊपर से लेकर नीचे से नीचे तक की सारी वस्तुओं के भीतर सार वस्तु एक है। सभी एक तत्त्व से बनी हुई हैं; और आज भले ही वे भिन्न २ अवस्थाओं में दीख पड़ती हों, पर अन्त में सभी उस एक तत्त्व में जा मिलेंगी। इस तथ्य को ग्रहण करने से प्रकृति की ओर, संसार की ओर, बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी सारी वस्तुओं की ओर हमारा भाव बिल्कुल दूसरी ही तरह का हो जाता है। विभिन्नता के भीतर निश्चित रूप से स्थित एकता का कुछ आभास मिलने लगता है। थियोसौफिकल सोसाइटी के एक प्रधान नेता बिशप सी० डब्ल्यू० लेडबीटर साहेब ने इस क्षेत्र में बहुत कुछ अन्वेषण

किया है और बहुत सी बातें जो इस पुस्तक में दी गई हैं उन्हीं की पुस्तकों के आधार पर अथवा इस समाज के अन्य नेताओं की पुस्तकों के आधार पर दी गई हैं।

भिन्न २ लोकों तथा उपलोकों के हाल तथा पारस्परिक सम्बन्ध को जानने से पहिले भूलोक तथा इसके उपलोकों का कुछ हाल जान लेना अच्छा होगा। तब और लोकों के हाल जानने में भी सुभीता होगी। इसलिये पहिले भूलोक का ही यहां कुछ विचार किया जायगा।

भूलोक में पदार्थों को तीन, चार अथवा पांच नहीं, बल्कि सात अवस्थायें हैं। इन में तीन अर्थात् ठोस, तरल और वायवीय अवस्थाओं को तो सभी लोग जानते हैं; पर चार को नहीं जानते। वायवीय अवस्था से परे जिसको विज्ञान ईथरिक अवस्था कहता है उस के वास्तव में चार विभाग हैं, जिनको क्रमशः ईथर न० ४, ईथर न० ३, ईथर न० २ और ईथर न० १ कहते हैं। इस ईथरिक विभाग का ईथर न० ४ स्थूलतम विभाग है और ईथर न० १ सूक्ष्मतम विभाग। इस प्रकार भूलोक की तीन अवस्थाओं अर्थात् उपलोकों के दो प्रधान विभाग हो जाते हैं: एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। इस के स्थूल भाग में तीन नीचे के उपलोक—ठोस, तरल और वायवीय—शामिल हैं और सूक्ष्म भाग में इनसे सूक्ष्म चार उपलोक—ईथरिक, महाईथरिक, आणविक तथा परमाणविक, जिन्हें साधारणतः ईथर न० ४, ईथर न० ३, ईथर न० २ और ईथर न० १ भी कहते हैं—शामिल हैं। इस स्थूल भाग को स्थूल भूलोक कहते हैं और सूक्ष्म भागको बहुधा ईथरिक लोक कहते हैं।

इन उपलोकों के सम्बन्ध में दो तीन विशेष बातें ऐसी हैं जिनका जानना अत्यावश्यक है, क्योंकि वे सभी लोकों तथा उन के उपलोकों के सम्बन्ध में एक रूपसे लागू होती हैं। भूलोक और इस के उपलोकों को पहिले केवल इसीलिये लिया गया है कि इन की विशेषताओं को हम आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि और लोकों की अपेक्षा इस से हम अधिक परिचित हैं।

पहली बात नोट करने की यह है कि जैसे २ हम ऊपर की अवस्थाओं की ओर बढ़ते हैं वैसे २ पदार्थ का गुण क्रमानुसार बदलता जाता है। एक उदाहरण लेकर देखिये। बर्फ, जल तथा भाप में एक ही पदार्थ वर्त्तमान है, केवल उसकी अवस्थायें बदली गई हैं, पर अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ २ उस पदार्थ के गुण भी बदल गये हैं। वर्फ का गुण कुछ और ही है, जल का कुछ और ही, और भाप का कुछ और ही। इसी प्रकार और अदृश्य उपलोकों की अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

जहां एक लोक के सात उपलोकों के दो अथवा दो से अधिक प्रधान विभाग पाये जाते हैं, वहां उन में से प्रत्येक विभाग का भी विशेष गुण होता है। इस प्रकार भूलोक के दो विभागों में स्थूल भूभाग की विशेषता कार्यशीलता (activity) है और ईथरिक विभाग की विशेषता प्राण धारण करने की शक्ति है। प्रत्येक स्थूल वस्तु के लिये सूक्ष्म ईथरिक उपतत्त्वों का बना हुआ ठीक उसी का प्रतिरूप एक ईथरिक सूक्ष्म शरीर होता है, जिसके द्वारा उस स्थूल वस्तु में प्राण का सञ्चार होता रहता है। यों तो प्राण एक २ कण में है। विश्व में कोई छोटी अथवा बड़ी ऐसी वस्तु नहीं

जिस में प्राण न हो। पर कणों का अस्तित्व और प्राण एक बात है और उन कणों से बने हुए एक वस्तु का प्राण और बात है। यद्यपि एक ही जीवन समस्त विश्व में व्याप रहा है फिर भी भिन्न २ वस्तुओं में जीवन धारण करने की भिन्न २ तरकीबें हैं। इस भूलोक के जीवन का भण्डार ईथरिक तत्त्वों द्वारा संचालित होता है।

उपलोकों के सम्बन्ध में दूसरी बात नोट करने की यह है कि जैसे २ पदार्थ की अवस्था ऊपरी उपलोकों की ओर बदलती जाती है वैसे २ उस में अधिकाधिक सूक्ष्मता आती जाती है। ठोस, तरल और वायवीय अवस्थाओं में तो हम साफ इस बात को देखते हैं। पर यही शैली तमाम लागू है। ईथर न० ४ और ईथर न० ३ के उपलोकों की स्थूलता और सूक्ष्मता में वैसा ही अन्तर है जैसा ठोस और तरल में, अथवा तरल और वायवीय में। ऐसा ही और लोकों और उपलोकों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। इस से हमें यह भी मालूम होगा कि पदार्थों के असली तत्त्व का हमें कितना कम ज्ञान है। और लोकों को तो छोड़ ही दीजिये, इस भूलोक के ही सम्बन्ध में मि० सी० जिनराज दास ने "थियौसोफी के मूल सिद्धान्त" नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भूलोक का प्रत्यक्ष भाग पूर्ण भूलोक का प्रायः आठवां हिस्सा है। इस आठवें भाग का तो इतना कम ज्ञान हम रखते हैं और इसके सात गुणा अधिक इसका भाग ईथरिक आदि उपलोकों में छिपा है।

लोकों तथा उपलोकों के सम्बन्ध में तीसरी एक अत्यन्त मह-

त्त्वपूर्ण बात जानने की यह है कि पदार्थ की अवस्थाओं के बदलने से केवल उसका रूप और गुण बदल जाता है, उसका स्थान नहीं बदलता। हम अवस्थाओं, उपलोकों अथवा लोकों के सम्बन्ध में ऊँचे, नीचे शब्दों का जो व्यवहार करते हैं इन से इनके समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। बहुधा लोग समझा करते हैं कि ऊपर के लोक कहीं अत्यन्त ऊपर में पड़े हैं और नीचे के लोक इस पृथ्वी के तले हैं। पर यह भारी भूल है। इन सम्बन्धों में जहां कहीं ऊँचे नीचे शब्दों के व्यवहार होते हैं तो वे इसी भाव से होते हैं कि जिनको हम ऊंचा कहते हैं वे सूक्ष्मतर हैं, प्रधानतर हैं तथा अधिक शक्ति से पूर्ण हैं; और जिन्हें हम नीचा कहते हैं वे उसी हिसाब से स्थूलतर हैं, कम प्रधानता वाले अथवा कम शक्ति वाले हैं। स्थान के बदलने का कहीं उसमें अवसर ही नहीं है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जायगी। ईथर और वायु को लीजिये। ईथर वायु से अधिक सूक्ष्म है। वह वायु के कणों से भी होकर बाहर भीतर आ जा सकता है। पर यदि किसी स्थान को ले कर हम देखें तो यह नहीं कह सकते कि यहां वायु है, ईथर नहीं है। भूलोक का कोई स्थान ईथर से खाली नहीं है। इसलिये ईथर और वायु एक ही स्थान में हैं, एक दूसरे के भीतर से होकर एक दूसरे में अन्तर्प्रवेश कर रहे हैं और साथ ही बिना एक दूसरे द्वारा बाधित हुए अपना २ कार्य भी स्वतन्त्र रूप से कर रहे हैं।

इन बातों को खूब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। अन्तर्प्रवेश का दूसरा उदाहरण लीजिये। एक दीवार के बारे में सोचिये। हम जानते हैं कि दीवार के स्थूल, ठोस कणों के भीतर

से होकर उस दीवार में हवा भरी है और हम देखते हैं कि दीवार हवा में खड़ी है। इस प्रकार दीवार के कण हवा में प्रवेश किये हुए हैं और हवा दीवार के भीतर प्रवेश की हुई है। यह हवा और दीवार का पारस्परिक अन्तर्प्रवेश है। हवा और दीवार दोनों एक ही स्थान में मौजूद हैं। स्थानान्तर नहीं हुआ है, पर दोनों एक दूसरे में प्रवेश कर रही हैं।

इसी प्रकार भिन्न २ उपलोक तथा लोक भी एक ही स्थान में रहते हुए एक दूसरे में प्रवेश किये रहते हैं। हम बहुधा समझा करते हैं कि भुवर्लोक पृथ्वी से नीचे है और स्वर्लोक आकाश में पृथ्वी से बहुत ऊँचाई पर है। ऐसा समझना भारी भूल है। सभी लोक अभी यहीं वर्त्तमान हैं। सभी लोक एक दूसरे में अन्तर्प्रवेश कर रहे हैं।

यहां पर प्रश्न यह उठता है कि यदि सभी लोक यहीं वर्त्तमान हैं तो हमें उनका ज्ञान क्यों नहीं होता? उत्तर साफ है। हम खोजते नहीं अथवा अभी हमारे भीतर उनके खोजने की शक्ति नहीं है। और लोकों को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिये, हवा और ईथर अपनी सारी सम्पत्ति लिये सदा हर जगह इस पृथ्वी तल पर वर्त्तमान हैं। पर हर आदमी उनके रहस्यों को क्यों नहीं जानता? क्योंकि हर आदमी खोज नहीं करता अथवा खोज करने की शक्ति नहीं रखता है। और ऊपर बतलाया जा चुका है कि सूक्ष्मता के कारण प्रत्येक लोक तथा उपलोक का कार्य एक साथ एक समय में चल रहा है, पर एक से दूसरे के कार्य में कुछ बाधा नहीं पहुंचती। उदाहरणार्थ फिर वायु और ईथर को

लीजिये। हम जानते हैं कि इस लोक में शब्द का वाहन हवा है। हवा न रहे तो हम शब्द को नहीं सुन सकते। वैसे ही बिजली तथा प्रकाश आदि का कार्य ईथर के द्वारा होता है। दोनों ही यहां पर वर्त्तमान हैं। हम बोल रहे हैं, बातें कर रहे हैं और एक दूसरे की बातों को भी सुन रहे हैं। वैसे ही एक ही समय में यहां कहीं बिजली बत्ती जल रही है, कहीं बिजली का पङ्खा चल रहा है, कहीं तार अथवा बेतार की ख़बरें आ जा रही हैं। हवा की हरकतों को, हवा के काम को ईथर नहीं छेड़ता और ईथर के काम को हवा नहीं छेड़ती। इसी प्रकार और लोकों तथा उप-लोकों के स्वतन्त्र कामों को भी जानना चाहिये।

एक और बात भिन्न २ लोकों तथा उपलोकों के सम्बन्ध में यह है कि जैसे भूलोक में तरह २ के पदार्थ हैं, तरह २ के प्राणी और जीव हैं, वैसे ही सभी लोकों पर तरह २ के पदार्थ, प्राणी तथा जीव हैं।

भुवर्लोक तथा स्वर्लोक का कुछ विस्तार पूर्वक वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। पर यहां पर भिन्न २ लोकों के तत्त्वों के प्रधान गुणों का कुछ ज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि इस भूलोक के तत्त्वों का विशेष गुण गन्ध है और साधारण व्यवहार में उन के ज़रिये इस भूलोक के भिन्न २ कार्य किये जाते हैं, जिनको हम प्रत्यक्ष कार्यके रूपमें देखते हैं। इसलिये भूलोक के तत्त्वों की विशेषता कार्यशीलता भी समझी जाती है। वैसे ही योगिक अन्वेषणों द्वारा पाया गया है कि भुवर्लोक के तत्त्वों द्वारा इच्छायें तथा भावनायें प्रगट की जाती हैं। बल्कि यों

कहना चाहिये कि इस लोक के द्रव्य ही इच्छाओं तथा भावनाओं को व्यक्त करने के लिये मसाले हैं। इस से यह नहीं समझना चाहिये कि इन लोकों के गुणों के प्राचीन तथा वर्त्तमान वर्णनों में कोई भेद है। भेद का कारण यह है कि जिस प्रकार पृथिवी, अपस्, अग्नि, आदि, तत्त्वों के नाम सांकेतिक भाषा में दिये गये हैं, उसी प्रकार सांकेतिक भाषा में उन के गुण भी बतलाये गये हैं। इन गुणों के भी निरा शब्दार्थ लेने से उनका सार नहीं मिल सकता। अपस् अर्थात् भुवर्लोक के तत्त्व का गुण अथवा तन्मात्रा रस बतलाया गया है। हम यदि ग़ौर करेंगे तो रस और भावना में घना सम्बन्ध दीख पड़ेगा। इसलिये पहिले की भाषा से मिलाते समय हमें उन शब्दों के सार अर्थ को ही लेना चाहिये, निरा शब्दार्थ नहीं, क्योंकि आज इनके बारे में जो ज्ञान हम को मिल रहा है वह उन्हीं प्राचीन ऋषि महात्माओं द्वारा मिल रहा है और उनके अनेक शिष्यों ने इन बातों की सत्यता को स्वतः योग क्रियाओं द्वारा अनुभव प्राप्त करके देखा भी है। इसीलिये आज भुवर्लोक को कामलोक के नाम से समझने में अधिक सुगम प्रतीत होता है।

इसी प्रकार स्वर्लोक के द्रव्यों द्वारा विचार का निरूपण होता है। ऐसे ही द्रव्यों से वहां के सभी रूप, स्थान, पदार्थ, प्राणी, आदि बनते हैं। इसीलिये सुगमता के ख़याल से उसका नाम मानसिक लोक रखा गया है।

नीचे से चौथे लोक के द्रव्यों द्वारा बुद्धि अथवा अन्तः स्फूर्त्ति प्रगट होती है। वहां की सारी बस्तुयें, सारे जीव ऐसे ही द्रव्यों से

बने हैं। बुद्धि और विचार में बड़ा अन्तर है। विचार में मन द्वारा बातों पर तर्क वितर्क करना पड़ता है, पर बुद्धि में तर्क वितर्क का स्थान नहीं। जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो उधर ध्यान गया और स्पर्श मात्र से उसका पूरा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस लोक के तत्त्वों की यही विशेषता है। इसीलिये इस को बुद्धि लोक कहना अधिक सुगम प्रतीत होता है। ऊपर के वर्णन से हमें इसका भी कुछ पता चलेगा कि क्यों इस लोक के द्रव्यों अथवा तत्त्वों का गुण स्पर्श बतलाया गया है और स्वर्लोक के तत्त्वों का गुण रूप। यह सब बातें सोचने और अनुभव करने की हैं। दूसरा कोई दूसरे को शब्दों द्वारा इनका ज्ञान नहीं दिला सकता है।

ऊपर से तीसरे अर्थात् नीचे से पांचवें लोक के द्रव्य से आनन्द प्रगट होता है। वहां आध्यात्मिक आनन्द सदा वर्त्तमान रहता है। इसलिये उसको प्रस्तुत काल में आध्यात्मिक लोक कहना सुगम प्रतीत होता है।

अत्यन्त ऊपर वाले दो लोकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं है, क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वे दोनों लोक हमारी पहुंच के अत्यन्त बाहर हैं। केवल उनके तत्त्वों के नाम आदि तथा अनुपादक बतलाये जाते हैं।

इस अत्यन्त संक्षेप वर्णन से तत्त्वों और प्राकृतिक लोकों का कुछ हाल अवश्य मालूम होगा, जो आज तक गुप्त रखा गया था। इस कुंजी से यदि हम उपनिषदों और दर्शन शास्त्रों में बन्द ज्ञानों को खोल कर देखना चाहें तो अवश्य उनका पहिले से कुछ अधिक अंश हम हासिल कर सकेंगे, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो अनुभव द्वारा

ही हो सकता है। इसलिये जहां कहीं पृथिवी, अपस्, अग्नि, वायु अथवा आकाश का ज़िक्र आये, तो वहां उन से क्रमशः भूलोक, भुवर्लोक, मानसिक लोक, बुद्धिलोक और आध्यात्मिक लोक अथवा इन लोकों के सूक्ष्मतम तत्त्वों को समझना चाहिये, और सदैव स्मरण रखना चाहिये कि ये सारे लोक आज यहीं वर्त्तमान हैं। स्थानान्तर द्वारा ये एक दूसरे से पृथक नहीं हैं, जैसा हम बहुधा आज तक समझते आये हैं। हम आगे देखेंगे कि प्रत्येक लोक के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक २ विशेष यन्त्र, साधन अथवा अङ्ग भी परमात्मा ने हमारे भीतर बना रखा है। उन के विकास द्वारा हम इन प्राकृतिक सिद्धान्तों के मूल रहस्यों का अनुभव स्वतः प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में भगवान की लीला अपरम्पार है!

पांचवां अध्याय

स्वर्ग और नर्क अर्थात् स्वर्लोक और भुवर्लोक

भारतवर्ष में क्या, समस्त संसार में स्वर्ग और नर्क का विश्वास पाया जाता है। हम उन्हें स्वर्ग और नर्क कहते हैं, अंगरेज लोग हेवुन् और हेल् (Heaven and Hell) कहते हैं, मुसलमान लोग बहिश्त और दोज़ख् कहते हैं। इनमें केवल शब्दों के भेद हैं, नहीं तो सारांश सभों के भीतर एक ही है।

पर स्वर्ग और नर्क के बारे में लोगों की विचित्र धारणायें हैं। तूल के भय से दूसरे धर्म वालों के भावों को छोड़ कर केवल हिन्दुओं के ही कुछ भाव यहां दिये जाते हैं। कुछ लोग तो समझते हैं कि ये सारी बातें झूठी हैं, बनावटी हैं, पोपलीलायें हैं। पर ऐसी बात नहीं है। ऐसा बहुधा वे ही लोग कहा करते हैं जिन्हें तत्त्वज्ञान अथवा आत्म अनुभव से कुछ सरोकार नहीं। वास्तव में इस प्रकार की सारी धारणायें प्राकृतिक तथ्य हैं और इसलिये एक न एक दिन इनकी सत्यता को प्रत्येक मनुष्य अवश्य मानने लगेगा।

आज कल के धर्मावलोकन करने वाले सज्जन, जिन्हें केवल पुस्तकों का ही ज्ञान प्राप्त हो सका है, कहते हैं कि स्वर्ग और नर्क पृथ्वी से भिन्न कोई वस्तुयें अथवा अवस्थायें नहीं हैं। इस

पृथ्वी पर रह कर जो अच्छा काम कर रहा है, वह स्वर्ग में है और जो बुरा काम कर उसका बुरा फल भोग रहा है, वह नर्क में है। ऐसा अर्थ बहुधा वे ही विद्वान किया करते हैं जिन पर पाश्चात्य सभ्यता की छाप लगी हुई है, अर्थात् जिन पर जड़वाद का रंग अच्छी तरह से चढ़ा हुआ है। ये अदृश्य संसार को, अदृश्य प्राणियों को तथा अदृश्य शक्तियों को प्रायः मिथ्या समझा करते हैं और इसलिये केवल अपनी विद्वत्ता के बल पर प्रामाणिक धर्म पुस्तकों में दिये हुए अदृश्य तथ्यों का केवल स्थूल अर्थ निकालने की कोशिश किया करते हैं।

पर जो धर्म पर हृदय से, पर अज्ञानता वश, अन्ध-विश्वास करने वाले हैं, उनका ख़याल है कि स्वर्ग किसी पहाड़ की चोटी पर अथवा अन्य कहीं अत्यन्त अधिक ऊँचाई पर कोई स्थान है, जहां मृत्यु पश्चात् केवल वे ही जीव जा सकते हैं जिन्हों ने इस संसार में रह कर पुण्य के कार्य किये हैं। और नर्क पृथ्वी के भीतर नीचे की तहों में कोई अत्यन्त भयङ्कर स्थान है, जहां मृत्यु पश्चात् पापियों को यम के दूत पकड़ कर ले जाते हैं और अग्नि तथा पीब आदि के कुण्डों में गिरा कर उन्हें अत्यन्त कठिन यातनाओं में डालते हैं।

इस अन्तिम दर्जे वाले लोगों के भावों में अन्ध-विश्वास भले ही हो, पर इसमें बहुत कुछ सत्य का भी अंश है। भिन्न २ लोकों के स्थानान्तर के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि यह भाव अत्यन्त ग़लत है। वास्तव में सभी लोक अभी यहीं मौजूद हैं। रही बात उनमें प्रवेश करने की। इस

सम्बन्ध में आगे मृत्यु पश्चात् जीवन के वर्णन में देखा जायगा कि यह बात सत्य नहीं है कि स्वर्ग पृथ्वी की एक ओर है, इसलिये कुछ लोगों को मृत्यु के पश्चात् वहां पहुंचाया जाता है, और नर्क दूसरी ओर है, इस लिये कुछ लोगों को यहां पहुंचाया जाता है। वास्तव में सभी के जाने का रास्ता एक है। भूलोक के बाद सूक्ष्मताई में पहिले भुवर्लोक का स्थान आता है और उसके बाद उससे भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण स्वर्लोक का स्थान आता है। इसलिये मृत्यु के बाद सब को पहिले भुवर्लोक में जाना पड़ता है और उसके बाद स्वर्लोक में जाना पड़ता है। इसी विचार से यद्यपि इन सूक्ष्म लोकों के नाम लेते समय प्रायः स्वर्ग को ही पहिले रखते है और नर्क को पीछे, जैसा कि इस अध्याय के नाम में भी रखा गया है, पर वास्तव में इस क्रम को उलट कर नर्क को पहिले और स्वर्ग को पीछे रखना अधिक स्वाभाविक होगा। इसलिये सुभीते और प्राकृतिक सिलसिले के साथ मेल रखने के ख़्याल से पहिले नर्क अथवा भुवर्लोक का ही कुछ वर्णन किया जायगा और पीछे स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोक का।

सब से पहिले इस बात का निर्णय कर लेना आवश्यक है कि हमारा सम्बन्ध किस भुवर्लोक और किस स्वर्लोक से है, क्योंकि इस विश्व में अनेक भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ी गड़बड़ी इस कारण होती है कि लोक शब्द भिन्न २ अर्थों में व्यवहार किया जाता है। भिन्न २ तत्त्वों के बने हुए जो सात प्राकृतिक लोक हैं, उनका वर्णन चौथे अध्याय में हो चुका है। पर पृथिवी तत्त्व से बनी हुई हमारी पृथिवी की

नाईं और अनेक ग्रह हैं, जैसे मंगल, बुध, चन्द्रमा, आदि। इन्हें भी मंगल लोक, बुध लोक, चन्द्र लोक आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार और तत्त्वों के बने हुए लोकों को भी समझना चाहिये। आकाश की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो अनन्त सूर्य, तारों, ग्रहों तथा नक्षत्रों को हम देखते हैं। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि एक २ तारे एक २ सूर्य हैं, जिन के सामने हमारे सूर्य की कुछ गणना नहीं। उनके भी ग्रह, नक्षत्र अलग अलग हैं। और अनुमान से हम यह भी समझ सकते हैं कि ये ग्रह, नक्षत्र आदि भिन्न २ प्राकृतिक लोकों के तत्त्वों से बने होंगे। हो सकता है कि कई नक्षत्र भुवर्लोक ही के तत्त्वों से बने हों, कई स्वर्लोक ही तक पहुंचे हों और उनका भुवर्लौकिक तथा भूलौकिक अस्तित्व हो ही नहीं। इस प्रकार लोकों के सम्बन्ध में अनन्त सम्भावनायें हमारे सामने उपस्थित हो जाती हैं।

इस रहस्य को जानने के लिये इस विश्व में—इस अनन्त विश्व में, जिस में दृश्य और अदृश्य सारा जगत शामिल है—इस पृथ्वी का क्या स्थान है, यह जानना आवश्यक है। यह विश्व अनन्त ब्रह्माण्डों से मिल कर बना है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के केन्द्र में एक सूर्य रहते हैं। इसलिये उसे सूर्य मण्डल भी कहते हैं। हमारे सूर्य मण्डल में जो सूर्यदेव हैं, वह इस मण्डल के ईश्वर हैं। वही मण्डल भर के प्राणियों को प्रकाश तथा जीवन शक्ति प्रदान करते हैं। हम जो सूर्य का प्रकाश अथवा गोला मण्डलाकार स्वरूप देखते हैं, वह उनका केवल बाह्य स्वरूप है। इस बाहरी सूर्य की चारों ओर अनेक ग्रह चक्कर देते रहते हैं। इनमें

से कितने ग्रहों का वाह्य स्वरूप स्वर्लोक के तत्त्व का बना हुआ है, कितने का उससे ऊपर के दो लोकों के तत्त्वों का, कितने का भुवर्लोक के तत्त्व का और कुछ का भूलोक के तत्त्व का बना हुआ है। उन्हीं भूलोक वाले ग्रहों में यह पृथ्वी एक ग्रह है।

पृथ्वी का बाहरी स्वरूप भूलोक का है। पर इसके अभ्यन्तर और २ लोकों के तत्त्वों से बने हुए भी इसके स्वरूप वर्त्तमान हैं। इसका एक स्वरूप ईथरिक लोक का है, एक भुवर्लोक का है, एक स्वर्लोक का भी है, इत्यादि। इस पृथ्वी के भुवर्लोक के स्वरूप को इस सूर्य मण्डल के और भुवर्लोक वाले ग्रहों से मेल जोल नहीं करना चाहिये। वे स्थान में इससे अलग हैं। पर इसका स्थान तो यहीं है जहां यह पृथ्वी स्थित है, हां उसकी परिधि इसकी परिधि से बड़ी अवश्य है। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि इस पृथ्वी का जो भाग ठोस है उसके भीतर भी वायु भरा है, पर ठोस पृथ्वी की परिधि के बाहर भी दसों दिशाओं में इसी पृथ्वी के वायु मण्डल की परिधि बढ़ी हुई है। इसका कारण यही है कि वायु ठोस पृथ्वी से अधिक सूक्ष्म है। इसी हिसाब से इस पृथ्वी का भुवर्लोक इसके भूभाग में अन्तर्प्रवेश करते हुए भी इससे बहुत बड़ा है, और इसका स्वर्लोक इसी कारण से इसके भुवर्लोक से भी बड़ा है। हमारे जीवन को जिस स्वर्ग अथवा नर्क से सम्बन्ध रहता है वे यही इस पृथ्वी के भुवर्लोक और स्वर्लोक हैं।

अब भुवर्लोक का संक्षेप हाल सुनिये। पहिले बतलाया जा चुका है कि मनुष्य के सम्बन्ध में इस लोक के तत्त्वों तथा उप-

तत्त्वों का विशेष गुण भावना, इच्छा अथवा कामना के रूप में प्रगट होता है। इसलिये इसे कामलोक भी कहते हैं। यहां के द्रव्यों के ही ज़रिये इच्छाओं, वासनाओं अथवा भिन्न २ प्रकार के भावों का निर्माण तथा सञ्चार इस विश्व में होता है। ऐसे ही सूक्ष्म तथा प्रभावशील द्रव्यों से यहां की बस्तुओं, जीवों तथा प्राणियों के बाह्य स्वरूपों की बनावट होती है।

भूलोक की नाईं भुवर्लोकं के भी सात उपलोक हैं, और वे एक दूसरे से उसी प्रकार बिभिन्न हैं जैसे ठोस और तरल वस्तुएं अथवा तरल और वायवीय वस्तुएं एक दूसरे से बिभिन्न हैं। अन्तिम दो उपलोक अत्यन्त भद्दे भयङ्कर कुत्सित वासनाओं के स्थान हैं, उसके ऊपर वाले तीन उपलोक सामान्य वासनाओं के स्थान हैं और सब से ऊपर वाले दो उपलोक उच्च कोटि की वासनाओं के स्थान हैं।

यहां के रहने वाले बाशिन्दे अपने २ वासनानुसार भिन्न २ उपलोकों में स्थान पाते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच आदि इसी लोक के बाशिन्दे हैं। मनुष्य भी यहां के रहने वालों में से हैं—जीवित अवस्था में भी और मरने के बाद भी। इनका वर्णन आगे मिलेगा। भिन्न २ श्रेणी के पैशाचिक जीवों के वर्णन जो पुस्तकों में पाये जाते हैं, वे यहीं के बाशिन्दे हैं। इस लोक और भूलोक में केवल एक ही दर्जे का अन्तर है। इसलिये इन दोनों लोकों के प्राणियों में सम्बन्ध आसानी से स्थापित किया जा सकता है। प्रेतशालाओं में जो तरह २ के तमाशे हुआ करते हैं, वे सब यहीं के बाशिन्दों की सहायता से होते हैं। इस लोक के भिन्न २

उपतलों के बाशिन्दों का विशेष हाल अन्य ग्रन्थों से लेना चाहिए। यहां इससे अधिक लिखना सम्भव नहीं है।

भुवर्लोक के साधारण दृश्य के बारे में एक और बात का जानना अत्यन्त आवश्यक है। योगी लोग बतलाते हैं कि जब पहले पहल इस लोक का अनुभव प्राप्त होता है तो इस के उज्ज्वल प्रकाश को देख कर मनुष्य चकाचौंध में पड़ जाता है। कारण यह है कि यहां का साधारण प्रकाश इतना तेज़ है कि उसके सामने इस भूलोक का प्रकाश अन्धेरा सा प्रतीत होने लगता है। इसी कारण इस लोक के अन्वेषण करते समय लोगों ने इसका नाम दिव्य लोक (Astral Plane) रखा। लेकिन आगे और बढ़ने पर देखा गया कि यह विशेषता इसी लोक की नहीं है, बल्कि जैसे २ ऊपर के अर्थात् सूक्ष्मतर लोकों की ओर बढ़ते जाइये, प्रत्येक ऊपर के लोक की सामान्य ज्योति के सामने उसके नीचे का लोक अन्धेरा सा प्रतीत होता है। इसलिये भुवर्लोक का दिव्य लोक की अपेक्षा अधिक सार्थक नाम कामलोक रखा गया। लेकिन चूंकि दिव्य लोक (Astral Plane) के नाम से उस लोक का विशेष प्रचार हो चुका था, इसलिये आज तक भी उसी दिव्य लोक (Astral Plane) के नाम से ही उस लोक का ज़िक्र अंग्रेज़ी पुस्तकों में पाया जाता है। पर इस पुस्तक में काम लोक अथवा भुवर्लोक के ही नामों से उसे सम्बोधित किया जायगा, क्योंकि यही नाम अधिक सार्थक और प्रचलित है।

भुवर्लोक के इतना प्रकाशमय होने की बात सुन कर आश्चर्य-

चकित होने की कोई बात नहीं है। यहीं उस लोक का प्राकृतिक रूप है और भूलोक से सूक्ष्म होने के कारण ऐसा ही होना भी चाहिये। इसके अलावे भूलोक और भुवर्लोक में तो इतना थोड़ा अन्तर है कि थोड़े ही अभ्यास से मनुष्य यहां की ज्योति आदि का अनुभव कर ले सकता है। हठयोग की कुछ ऐसी विधियां हैं जिन से यह अनुभव बहुत सुगमता से प्राप्त हो जाता है और भोले भाले सीधे लोग इसी ज्योति को देख कर मुग्ध हो जाते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान को पा लिया। पर यह भूल है। यह तो केवल ऊपर के लोकों की ओर जाने वालों को भुलाने का प्रलोभन मात्र है। यहां पर एक और प्रश्न यह उठता है कि भुवर्लोक की आग तथा पीब की खाइयां क्या हुई ? उनका स्थान कहां पर है ? इस सम्बन्ध में खोज करने पर पता चला है कि वास्तव के इनका कोई अस्तित्व नहीं है। पर इन खाइयों आदि के सारांश क्या हैं, इनका पता आगे जब मनुष्य के मृत्यु पश्चात् जीवन का वर्णन किया जायगा तो वहां मिलेगा।

अब थोड़ा साधारण हाल, अत्यन्त संक्षेप में, स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोक का सुनिये। जैसा ऊपर कहा जा चुका है मनुष्य के सम्बन्ध में इस लोक के द्रव्य वा तत्त्व का विशेष गुण विचार है। अर्थात् इसी द्रव्य से विचार बनते हैं और इसी के माध्यम से उनका प्रसार होता है। ऐसे ही सूक्ष्म द्रव्यों से इस लोक की सारी वस्तुओं तथा प्राणियों के बाहरी स्वरूप बनते हैं।

इस लोक के प्रकाश तथा रूपों के सौन्दर्य का वर्णन करना बिल्कुल असम्भव है। केवल तुलना द्वारा इतना ही कह सकते

हैं कि इसकी साधारण ज्योति के सामने भुवर्लोक की ज्योति अंधियाली है। रूपों की बनावट, सजावट, मेल तथा सौन्दर्य का भी वही हाल है।

बिचारों की स्थूलता तथा सूक्ष्मता के लेहाज़ से इस लोक के भी सात विभाग हैं, पर भूलोक की नाईं इनके भी दो मुख्य विभाग हैं: एक रूप विभाग और दूसरा अरूप विभाग। रूप विभाग में नीचे के चार उपलोक शामिल हैं और अरूप विभाग में ऊपरके तीन। रूप और अरूप से यह अर्थ नहीं निकलना चाहिये कि दूसरा विभाग रूप रहित है। रूप उसका भी है; पर रूप विभाग के रूपों की अपेक्षा उसके रूप ऐसे सूक्ष्म हैं कि तुलनात्मक भाव से प्राय: उन्हें अरूप ही कहना योग्य प्रतीत होता है। रूप तथा अरूप विभागों को लघु अथवा नीच मानसिक लोक (Lower Mental Plane) तथा उच्च मानसिक लोक (Higher Mental Plane) भी कहते हैं। रूप विभाग साधारण अथवा सरूप (concrete) विचारों का स्थान है और अरूप विभाग सिद्धान्त सम्बन्धी अथवा अरूप विचारों (abstract thoughts) का। साधारण भाव से जिसे हम स्वर्ग कहते हैं वह केवल स्वर्लोक के नीचे का भाग अर्थात् रूप भाग है।

स्वर्लोक के रूप तथा अरूप विभागों का भेद समझने के लिये अरूप विचारों (abstract thoughts) तथा सरूप विचारों (concrete thoughts) का भेद जानना आवश्यक है। अरूप विचार किसी वस्तु, भाव अथवा विचार के सार अर्थात् सिद्धान्त से सन्बन्ध रखते हैं और सरूप विचारों का सम्बन्ध उनके भिन्न

भिन्न अनेक अनन्त रूपों से रहता है। एक उदाहरण द्वारा यह भाव स्पष्ट किया जा सकता है। एक त्रिकोण के भाव को लीजिये। त्रिकोण के सम्बन्ध में यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि इसके अनेक विभाग होते हैं जैसे समद्विबाहु त्रिभुज, समत्रिबाहु त्रिभुज, विषम बाहु त्रिभुज, समकोण त्रिभुज इत्यादि और इनमें से किसी एक वर्ग के त्रिभुज को लेने से उसके कोणों अथवा भुजाओं को बढ़ाने घटाने से उसके अनन्त रूप दिये जा सकते हैं। पर चाहे कितना ही बड़ा अथवा कितना ही छोटा कोई त्रिभुज क्यों न हो, दो गुण सभों में पाये जायंगे, अर्थात् सभों में तीन भुजायें होंगी और तीन कोण होंगे। जिन विचारों से हमें भिन्न २ श्रेणी के त्रिभुज का ज्ञान होता है वे सरूप (concrete) विचार हैं, और जिस विचार से इन सभी अनन्त रूपों के त्रिभुजों से केवल उनका सिद्धान्त ग्रहण किया जाता है, अर्थात् केवल यह भाव ग्रहण किया जाता है कि त्रिभुज एक शकल है जिस में तीन भुजाएं और तीन कोण होते हैं, पर उनके अनन्त रूपों में से किसी एक अथवा अनेक रूपों का ख़याल नहीं रहता, वह त्रिभुज सम्बन्धी अरूप (abstract) विचार है। इस उदाहरण से यह बात भी सिद्ध होती है कि अरूप (abstract) विचार सरूप (concrete) विचारों का सार है और एक अरूप (abstract) विचार को ठीक से ग्रहण कर लेने से उसके अनेक अथवा अनन्त रूप दिये जा सकते हैं।

इस लोक की एक बड़ी विशेषता यह है कि यहां के बाशिन्दे शब्दों द्वारा एक दूसरे से बातचीत नहीं करते, बल्कि जो कुछ

विचार उनका होता है वह एक विशेष रंग का विशेष रूप धारण कर लेता है। इसे रंगों की भाषा कह सकते हैं। यहां के रंगों तथा रूपों के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता। सम्भव है इस लोक की इसी प्रधान विशेषता के कारण प्राचीनों ने इसके मूल तत्त्व का गुण रूप बतलाया हो। यहां के बाशिन्दे देवगण इस प्रकार रंगों की ही भाषा में वार्त्तालाप करते हैं।

इस लोक के भिन्न २ उपलोक के बाशिन्दे भी अनेक श्रेणी के हैं। अनेक श्रेणी के देवगण, दैवी सहायक, महात्माओं के शिष्य आदि इसके साधारण बाशिन्दे हैं। मनुष्य भी जीवित और मृत्यु पश्चात् दोनों अवस्थाओं में यहां रहता है। हम आगे देखेंगे कि मनुष्य का असली वासस्थान मानसिक लोक का अरूप विभाग है। वहीं से हम नीचे के लोकों में केवल अनुभव प्राप्त करने के निमित्त उतरते हैं और अनुभव प्राप्त कर फिर घर वापस चले जाते हैं। यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार की है जैसे कोई पथिक सफर में जाता है और सफर में अपना कार्य समाप्त कर पुनः घर वापस जाता है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि पथिक को साधारणतः इस बात का स्मरण रहता है कि उसका असली निवास स्थान कहां है और सफर में वह केवल कुछ दिनों के लिये कुछ कार्यवश आया है, पर मनुष्य नीचे उतरने पर अपने असली निवास स्थान को, अपने असली स्वरूप को भूल जाता है और अपनी यात्रा की भिन्न २ मंजिलों को ही अपना निवास स्थान समझने लगता है। इसका कारण आगे मिलेगा। जो हो पर दोनों की प्रक्रियायें एक सी हैं। यदि केवल इस एक

तथ्य को हम समझ लें तो हमारी जीवन यात्रा अत्यन्त सुगम तथा सुलभ हो जाय ।

प्राचीन समय में लोग भिन्न २ लोकों तथा प्राणियों को भली भांति जानते थे । उन्हें यह भी मालूम था कि किस प्रकार भिन्न २ लोकों से सरोकार स्थापित किया जा सकता है । इस लिये प्राचीन पौराणिक कथाओं में प्रायः हमेश ऐसे वार्त्तालाप मिलते हैं जहाँ भिन्न २ लोकों के प्राणी ठीक उसी तरह एक साथ मिलते जुलते, आपस में बातचीत करते, तथा एक दूसरे के साथ मिल कर कार्य करते पाये,जाते हैं, जैसे हम इस भूलोक में भिन्न २ मनुष्यों के साथ करते हैं । आज भी जो इस रहस्य के जानने वाले हैं वे ऐसा ही कर रहे हैं । क्या अपनी अज्ञानता तथा मिथ्या गर्व के तख़्ते से नीचे उतर कर हम हिन्दू लोग भी पुनः उन प्राचीन प्रथाओं को जान कर तथा वैसे ही रह कर अपने जीवन द्वारा उन प्राचीन गौरवों को वर्त्तमान काल में पुनर्जागृत न करेंगे ?

छठां अध्याय

मनुष्य की रचना—उसके कोष

सारी प्राकृतिक रचनायें बिलक्षण हैं। कोई बड़ी से बड़ी अथवा छोटी से छोटी बस्तु ले लीजिये और आप देखेंगे कि जितना ही अधिक डूब कर उस की रचना के रहस्य को समझने की कोशिश की जायेगी, उतनी ही अधिक ख़ूबियां उस के भीतर से निकलती जायेंगी। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से जितनी बस्तुएं देखने में आती हैं उन सभों से अधिक ख़ूबियां मनुष्य की रचना में पाई जाती हैं। पर साधारणतः हमारा ख़्याल उन ख़ूबियों की ओर नहीं जाता। ठीक है, जो बस्तु पास में रहती है उस की क़द्र बहुधा कम हुआ ही करती है। पर संन्त, महात्माओं तथा दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्य के लिये अपने आप को जानने से बढ़ कर दूसरी कोई बस्तु ही नहीं है। एक महान् दार्शनिक ने कहा है, "मनुष्यो, अपने आप को जानो"। बुद्ध भगवान ने कहा है, "अपने भीतर देखो, तुम भी बुद्ध हो।" भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता में कई जगहों पर कहा है कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में सदा वर्त्तमान हैं। भिन्न २ धर्म पुस्तकों में इस प्रकार के अनेक कथन पाये जाते हैं। इन से पता चलता है कि मनुष्य के हृदय के भीतर अनन्त शक्तियां, विचित्र सम्भावनायें छिपी पड़ी हैं। इसलिये मनुष्य के लिये इन गुप्त रहस्यों को ढूंढ निकालना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है।

डाक्टर लोगों ने इस शरीर को चीर फाड़ कर चर्म, मज्जा, मांस, रक्त, हड्डियों आदि के रहस्यों को भलीभांति जानने की कोशिश की है। यह देख कर उन्हें आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है कि इस शरीर के भीतर आप से आप तरह २ के कार्य संचालन के विचित्र सामान न जानें प्रकृति ने कैसे बना रखा है। पर चीर फाड़ से उस के भीतर के असली तत्त्वों का पता नहीं चल सकता। ऐसे ही अन्वेषणों के आधार पर जड़बाद पक्ष वाले लोग धार्मिक सज्जनों को निरा मूर्ख समझते हैं, क्योंकि उनको इस बात का गर्व रहता है कि मनुष्य के शरीर के सभी अङ्गों को तो चीर फाड़ कर देख लिया गया है, पर कहीं ईश्वर अथवा आत्मा का पता नहीं चला है। वे समझते हैं कि भिन्न २ अणुओं तथा परमाणुओं के एकत्र होने से ही मनुष्य की सारी शक्तियां प्राकृतिक रूप से कार्य करने लगती हैं, और जब मनुष्य मर जाता है तो सभी अणु परमाणु तितर वितर हो जाते हैं और सारा तमाशा समाप्त हो जाता है। पर भगवान की कृपा से यह जड़ बाद धीरे २ दुनियां से उठता जाता है। बात असल यह है कि मनुष्य के अन्तर्गत जो गुप्त शक्तियां वर्त्तमान हैं उन के ढूंढ़ने तथा विकसित करने का रास्ता ही कुछ और है। इस शरीर के चीरने फाड़ने से क्या होगा!

हां, इस शरीर को भी देख कर प्राकृतिक रचना की ख़ूबी पर हमें अवश्य दंग हो जाना पड़ता है। आजकल कलों, मशीनों, अर्थात विज्ञान का ज़माना है। तरह २ के कल पुर्ज़े, अस्त्र शस्त्र दिनों दिन निकल रहे हैं। कहीं हार्मोनियम है तो कहीं ग्रामोफोन, कहीं

टेलीफोन है तो कहीं तार घर और कहीं बिना तार के ही संसार भर में ख़बरें उड़ाई जा रही हैं; और इस प्रकार की एक २ रचना को देख हम मुग्ध हो जाते हैं। पर मनुष्य के केवल बाहरी रूप को देखिये। कितने प्रकार की मशीनें, कलें न उस के भीतर प्राकृतिक रूप से बना दी गई हैं। मनुष्य उठता है, बैठता है; चलता है, फिरता है; बस्तुओं को उठाता है, छोड़ता है; बोलता है, सुनता है; छूता है, सूंघता है, देखता है, चखता है, सर्दी गर्मी तथा सुख दुःख का अनुभव करता है, सोचता है, विचारता है और न जानें और कितने प्रकार के कार्य एक बार आप से आप कर रहा है। क्या इससे बढ़ कर और कोई कारीगरी हो सकती है ?

इस रहस्यमय जीवन का रहस्य क्या है ? यह रहस्य इस तथ्य के अनुभव में छिपा हुआ है कि मनुष्य शरीर नहीं है, आत्मा है, जीव है। यह शरीर तो उस का एक आवरण अथवा वाहन मात्र है, सो भी अत्यन्त स्थूल बाहरी वाहन है। इस के अतिरिक्त और कई सूक्ष्म आवरणों से वह प्रकाशमय, ज्योतिर्मय आत्मा छिपा है। धर्म पुस्तकों में उन का स्पष्ट रूप से ज़िक्र आया है, पर अनुभव ज्ञान न होने के कारण हम उन सभों के केवल स्थूल अर्थ को ही लेकर सन्तोष कर बैठते हैं। दर्शनों तथा उपनिषदों में मनुष्य के भिन्न २ कोषों तथा मनुष्य की इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि का बार २ ज़िक्र आया है; पर हमें यह नहीं मालूम है कि इन्द्रियों, मन, बुद्धि और कोषों में कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। इस का भी पता नहीं कि इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि

से यथार्थ अभिप्राय क्या है। इन का ज्ञान हुए बिना मनुष्य अपने आप को नहीं जान सकता और इसलिये विश्व के प्राकृतिक रहस्यों को अथवा ईश्वर को नहीं जान सकता। विश्व के ज्ञान के लिये तत्त्वों तथा प्राकृतिक लोकों के यथार्थ ज्ञान की जैसी आवश्यकता है, मनुष्य के असली तत्त्व अर्थात् हृदयवासी ईश्वर को जानने के लिये मनुष्य के कोषों का यथार्थ ज्ञान वैसा ही अनिवार्य है।

मनुष्य शरीर नहीं वरन् जीव है, और मृत्यु पश्चात् भी उस का जीवन जारी रहता है। इन तथ्यों का पता आज पाश्चात्य देश वालों ने भी तरह २ के प्रयोगों (experiments) द्वारा लगाया है। यह विषय अत्यन्त रोचक तथा आवश्यक है, पर तूल के भय से भिन्न २ धर्मों के साथ तुलना न कर, इन के सम्बन्ध में योगियों ने—वर्त्तमान काल के जीवित योगियों ने—प्राचीन ऋषियों की शिक्षाओं द्वारा तथा यौगिक प्रयोगों द्वारा निजी अनुभव से जो ज्ञान प्राप्त किया है, उस का सार अत्यन्त संक्षेप से आगे दिया जाता है।

धर्म ग्रन्थों में मनुष्य के पांच कोषों अर्थात् शरीरों का वर्णन है। पर वास्तव में मनुष्य के भीतर सात कोष अथवा शरीर हैं। याद रखनी चाहिये कि पांच अथवा सात कर के वर्णन करने में केवल शैली का अन्तर है, नहीं तो वास्तव में दोनों शैलियों के भीतर तथ्य एक ही है। प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि प्राकृतिक रूप से हमारे लिये सप्त वर्गीय नियम ही लागू है। इसलिये इस झगड़े को छोड़ इन्हीं सात

वर्गों के हिसाब से मनुष्य के कोषों के वर्णन करने की कोशिश की जायेगी।

मनुष्य के कोषों का प्राकृतिक लोकों से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य के भीतर सभी सात लोकों के तत्त्व बर्त्तमान हैं। उन में से कुछ विकास पा चुके हैं, कुछ विकास पा रहे हैं और कुछ अभी गुप्त पड़े हैं, जिनका विकास आगे होगा। यह बतलाया जा चुका है कि पहले दो प्राकृतिक लोकों में हमारी पहुंच नहीं हो सकती। इसलिये उन का कुछ ज़िक्र नहीं किया जायगा। इस का अर्थ यह नहीं है कि उन के तत्त्व भी हमारे भीतर बर्त्तमान नहीं हैं। नियम है: 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे', अर्थात, जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब मनुष्य के पिण्ड में भी है। पर वे अभी गुप्त रूप से पड़े हैं, उनका विकास हमारे वर्ग के मानव समाज में भविष्य में होगा—सो भी साधारण भविष्य में नहीं, बल्कि, मन्वन्तरों द्वारा गिने जाने वाले भविष्य में होगा।

शेष बचे पांच लोक। इन पांचों से भी सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व हमारे भीतर पूर्ण रूप से विकसित नहीं हैं, पर उनका क्रमशः विकास हो रहा है। उन में से प्रत्येक के साथ सम्बन्ध रखने के लिये हमारे भीतर एक कोष अथवा वाहन अथवा शरीर है, जो उसी तत्त्व का बना हुआ है जिस तत्त्व का वह लोक बना हुआ है, जिस में उस को भ्रमण करना है।

इन पांच लोकों को भी सात विभागों में बांट सकते हैं, क्योंकि ऊपर देखा जा चुका है कि स्वर्लोक तथा भूलोक के दो मुख्य विभाग हैं और उन के विभागों के अनुकूल उन लोकों में

भ्रमण करने के लिये मनुष्य के भीतर उन लोकों के तत्त्वों के बने दो दो शरीर हैं । इस प्रकार पांच लोकों में भ्रमण करने के लिये मनुष्य के भीतर सात शरीर हो जाते हैं, जैसा चित्र नं० २ से स्पष्ट रूप से प्रगट होगा ।

मनुष्य के कोष अथवा शरीर

लोकों के नाम			कोषों अथवा शरीरों के नाम			विशेष गुण
प्राचीन	वर्त्तमान		कोषों के नाम	शरीरों के नाम — प्राचीन नाम	शरीरों के नाम — वर्त्तमान नाम	
जनः	आत्मिक		आनन्दमय	आत्मा	आत्मिक शरीर	आनन्द
महः	बुद्धि		विज्ञानमय	बुद्धि	बुद्धि शरीर	बुद्धि (intuition) वा स्पर्शज्ञान
स्वः	मानसिक	अरूप वा उच्च	ज्ञानमय	मन	उच्च मानसिक वा कारण शरीर	अरूप विचार (abstract thought)
		रूप वा लघु	मनोमय	मन	लघु मानसिक शरीर	सरूप विचार (concrete thought)
भुवः	कामलोक		काममय	इन्द्रिय	वासना शरीर	वासना
भूः	भूलोक	ईथरिक	प्राणमय	लिङ्गशरीर	छाया देह	प्राण
		स्थूल	अन्नमय	स्थूल शरीर	स्थूल शरीर	क्रिया

चित्र न० २

भिन्न २ स्थानों पर इन कोषों अर्थात् शरीरों के वर्णन भिन्न २ प्रकार से पाये जाते हैं। कहीं तीन ही शरीरों का वर्णन है: स्थूल, सूक्ष्म और कारण। डाक्टर भगवान दास ने अंग्रेज़ी भाषा में लिखित 'सनातन धर्म' नामक पुस्तक में बतलाया है कि यद्यपि तीन ही शरीरों का वर्णन कहीं २ आया है, पर वास्तव में सूक्ष्म शरीर में तीन अथवा चार भिन्न २ शरीर शामिल हैं, और वैसे ही कारण शरीर में तीन शरीर शामिल हैं। ऐसे ही भिन्न २ लेखकों की वर्णन शैली में भी बहुत अन्तर पाया जाता है। इन अन्तरों का प्रधान कारण यह है कि अधिकांश लेखक अनुभव ज्ञान तो रखते नहीं, इसलिये अनुमान द्वारा भिन्न २ लेखों तथा वाक्यों के आधार पर कुछ शैली निकाल लेते हैं, अथवा अपना पक्ष साधन करने योग्य कुछ मनमाना अर्थ लगा लेते हैं। इस पुस्तक में जो कुछ वर्णन किया गया है वह भी निजी अनुभव के आधार पर नहीं है, पर वर्त्तमान अनुभवी पुरुषों की पुस्तकों के आधार पर है। बहुत सम्भव है लेखक के तुच्छ ज्ञान के कारण उन तथ्यों के भावों को अंग्रेज़ी से हिन्दी भाषा में परिणत करने में उन में कुछ अन्तर आ गया हो, पर आशा है कि मूल सिद्धान्तों में कुछ अन्तर न पाया जायगा।

वास्तव में हम सभी आत्मा अर्थात् ईश्वर के अंश हैं। यदि ईश्वर को लहकती हुई आग की ज्वाला कहें, तो अपनी आत्मा को उसकी एक चिनगारी कहनी होगी। दोनों ही एक वर्ग, एक श्रेणी की वस्तुएँ हैं। उन में भेद नहीं किया जा सकता और अन्त में यह चिनगारी भी लहकते २ ईश्वर की नाईं लहकती

हुई आग की ज्वाला हो जायेगी। पर उसका क्रम यह जान पड़ता है कि पहिले यह अपने आप का अपनी ही प्रकृति के अनुसार बन्धनों में अर्थात् आवरणों में छिपाती जाती है और फिर भिन्न २ लोकों के अनुभव प्राप्त कर और अपने आवरणों को क्रमशः त्याग कर पुनः पूर्णत्व प्राप्त कर लेती है। इन दो प्रक्रियायों को अन्तरावतरण (Involution) और विकास (Evolution) कहते हैं। इन्हीं दो प्रक्रियायों द्वारा सृष्टि का सारा कार्य चल रहा है। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन यहां सम्भव नहीं। यहां पर सिर्फ यही दिखलाने का अभिप्राय है कि वास्तव में हम में से प्रत्येक आदमी ईश्वर का अंश है और ईश्वर का पूर्ण ऐश्वर्य गुप्त रूप से उसमें वर्त्तमान है। पर उस आत्मा के ऊपर भांति २ के आवरण अर्थात् पर्दे लगे हुए हैं, और इस कारण आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश बाहर प्रगट होने नहीं पाता। पर यदि सभी आवरण पवित्र कर दिये जायं और उनके विभिन्न गन्दे रंगों को उड़ा कर सब को स्वच्छ पारदर्शक बना दिया जाय, तो वह प्रकाश आप से आप बाहर भी प्रगट होने लगेगा।

एक उदाहरण से यह भाव स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये एक दीपक ले लिया जाय और उस के ऊपर एक साफ शीशा लगा दिया जाय तो उस दीपक की ज्योति बाहर में कुछ धुंधली हो जायगी। यदि उसके ऊपर एक और शीशा पीले रंग का लगा दिया जाय, तो जो रोशनी अब इन दो शीशों से होकर बाहर आयेगी उसकी ज्योति और भी फीकी हो जायगी और कुछ पीलापन भी उस रोशनी में आ जायगी। इसी प्रकार यदि

एके बाद दीगरे उस पर गुलाबी, बैंगनी, हरे, लाल तथा काले रंगों के शीशे लगाते जायं, तो उन सभों के भीतर सें होकर जो रौशनी बाहर निकल सकेगी उस की ज्योति धीरे २ मन्द पड़ती जायगी और तरह तरह के रंगों के मेल से उसका रंग भी अजब तरह का धुंधला फीका होता जायगा और अन्त में काले शीशे के लगाने पर शायद कुछ भी रौशनी बाहर नहीं निकल सकेगी।

ठीक यही हालत हम लोगों की है। आत्मा पर बुद्धि का आवरण लगा है, बुद्धि के ऊपर मन का आवरण लगा है, मन के ऊपर इन्द्रियों का आवरण लगा है, और इन्द्रियों के ऊपर सूक्ष्म तथा स्थूल भूलौलिक शरीरों के आवरण लगे हैं। इन सभी शरीरों अथवा अवरणों की विशेषतायें अर्थात् रंग भिन्न २ हैं। इस के अलावे सभों पर तरह २ के मैल भो जमे हुए हैं, जिस का नतीजा यह है कि हम सभी लोग अपने मूल स्वरूप को भूल गये हैं। पर यदि इन आवरणों को साफ कर के धीरे २ एक २ बोझ अलग हटाया जा सके, तो आज भी हम अपने ज्योतिर्मय शक्तिशाली जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। यही योग साधन का असली अभिप्राय है, जिस का वर्णन आगे मिलेगा।

लेकिन इन शरीरों को केवल आवरण, अर्थात अन्तर्ज्योति के बाहर प्रकाशित होने में बाधक ही नहीं समझना चाहिये। वह तो उन के अस्तित्व का एक अङ्ग है। उनका दूसरा अङ्ग यह है कि वे आत्मा के वाहन भी है। आत्मा को नीचे के लोकों से कुछ अनुभव हासिल करना है, जो अन्य कहीं नहीं मिल सकता

है, और वह कार्य इन्हीं वाहनों की सहायता से हो सकता है। इस लिये इन्हें पवित्र कर शासन में अवश्य रखना चाहिये, पर इन की अवहेलना अथवा इन के साथ दुर्व्यवहार न करना चाहिये।

इस तथ्य को ठीक से न समझने के ही कारण मनुष्य संसार में अपने दुःखों, झंझटों अथवा उलझनों को दिनोदिन बढ़ाये चले जा रहे हैं। कोई समझते हैं कि आत्मा ही तो असल तथ्य है, यह शरीर तथा इन्द्रियां आदि तो केवल उस की राह में बाधक हैं। इस लिये इन का हनन करना चाहिये और इसी विचार से हठ-योगी अपने शरीरों को घोर कष्टों में डालते हैं। दूसरे पक्ष वाले शरीर को ही सर्वस्व समझते हैं। इस लिये उन का सिद्धान्त रहता है कि खाओ, पिओ, मौज करो, किसी की कुछ परवाह न करो। पर वास्तव में ये दोनों ही रास्ते ग़लत हैं। सत्य इन के मध्य में है, अर्थात्, इन शरीरों पर शासन करना चाहिये, पर इन के साथ दुर्व्यवहार न कर इन की उन्नति करनी चाहिये, क्योंकि इन्हीं की सहमेल उन्नति के साथ आत्मा का असली कार्य भी सध सकता है।

अब इन शरीरों में से एक २ शरीर को ले कर उन की विशेषताओं पर संक्षेप से विचार करना चाहिये। इस के लिये नीचे से ही ऊपर चलना अच्छा होगा, क्योंकि साधारणतः जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त है, वह नीचे के ही शरीर अथवा शरीरों के सम्बन्ध में है।

सब से पहिले अर्थात् बाहरी आवरण स्थूल शरीर का है। अज्ञान वश हम बहुधा इस को ही अपना सर्वस्व समझते हैं।

पर यह तो हमारे व्यवहार के लिये केवल एक बाहरी वस्त्र मात्र है। इसके बारेमें यह जानना कि यही हम हैं, ठीक वैसा ही है कि जैसा हम अपने कोट अथवा कुर्ते को कहें कि यही हम हैं। इसलिये इस शरीर के सम्बन्ध में हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह है कि इस को हम अपने से पृथक समझें। पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है इसकी अवहेलना भी हमें न करनी चाहिये। इसका उचित रूप से पालन पोषण करना हमारा कर्त्तव्य है—धार्मिक कर्त्तव्य है। कारण यह है कि बिना कुछ मतलब के हम इस भूलोक पर नीचे नहीं उतरे हैं। हम यहां कुछ अनुभव प्राप्त करने आये हैं, जो भूलोक में ही प्राप्त हो सकता है, अन्य लोकों में नहीं; और जब तक हमारा स्थूल शरीर स्वस्थ, पवित्र, पुष्ट तथा प्रभावशील न हो, तब तक इस भूलोक में हम कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। इसलिये जीवन यात्रा को सफल बनाने के हेतु इस शरीर पर पूरा ध्यान देना आवश्यक है। हां, इसके साथ २ इस बात की भी ज़रूरत है कि ऐसा कहीं न हो कि इसी के पीछे पड़ कर हम अपने मुख्य उद्देश्य को भूल जायं। पर अज्ञानवश आज हम यही कर रहे हैं।

इस स्थूल शरीर का पालन पोषण कैसे हो, यह एक बड़ा विषय है; पर साधारण भाव से हमें भोजन पर पूरा ध्यान देना चाहिये। प्राचीन प्रथा के अनुसार स्थूल शरीरको अन्नमयकोष कहते हैं, अर्थात्, इस कोष का पालन पोषण अन्न द्वारा होता है। हम जैसा अन्न ग्रहण करेंगे, वैसा ही हमारा स्थूल शरीर बनेगा। यदि पवित्र अन्न ग्रहण करेंगे, तो हमारा शरीर सूक्ष्म और पवित्र

बनेगा, जिसके द्वारा उच्च कोटि की गुप्त शक्तियां व्यक्त हो कर कार्य कर सकेंगी; और यदि हम अपवित्र अन्न ग्रहण करेंगे, तो वैसाही भद्दा शरीर भी बन जायेगा और भीतर की गुप्त शक्तियों का प्रकाश उस शरीर से प्रगट नहीं हो सकेगा, अर्थात्, वह आभ्यान्तरिक शक्तियों के विकास में बाधक हो जायगा। इसी प्रकार स्वास्थ्यकर अथवा अस्वास्थ्यकर भोजन से शरीर चंगा अथवा बीमार और दुर्बल रहेगा। शरीर के स्वस्थ अथवा अस्वस्थ होने के और भी कारण हैं, पर भोजन का इस पर बहुत प्रधान प्रभाव पड़ता है। कहा भी गया है कि जैसा हम भोजन करते हैं वैसी ही हमारी बुद्धि हो जाती है। यह बात बहुत हद तक ठीक है।

इस प्रकार शरीर को स्वस्थ तथा पवित्र बनाने के साथ २ इसे कार्यशील, प्रभावशील तथा सदा सतर्क भी बनाना चाहिये, क्योंकि इस शरीर से भिन्न २ प्रकार की क्रियाओं द्वारा अनुभव प्राप्त करना है। अक्सर जब किसी अच्छे काम के करने का समय आता है तो शरीर आलस्य के कारण नहीं उठना चाहता है। इसको ऐसा भद्दा नहीं होने देना चाहिये। यह जीव के व्यवहार के लिये एक वाहन है। अन्य वाहनों की अपेक्षा यह स्वाभाविक रूप से ही अत्यन्त भद्दा है; पर फिर भी इसको अपने मालिक अर्थात् जीव का काम करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये, जीव को अपने ही में फंसाये नहीं रखना चाहिये।

मनुष्य का दूसरा भूलौकिक शरीर लिङ्ग अथवा छाया शरीर है। जिस प्रकार स्थूल शरीर नीचे के तीन उपतत्त्वों से अर्थात् ठोस,

तरल और वायवीय उपतत्त्वों से बना है, उसी प्रकार छाया वा ईथरिक शरीर वायुसे भी सूक्ष्म चार प्रकार के ईथरों से बना हुआ है। इस शरीर को हम नहीं देख पाते क्योंकि इन आंखों के देखने की शक्ति बहुत कम है। हवा को तो हम इन आंखों से देख ही नहीं सकते, फिर उससे भी सूक्ष्म उपतत्त्वों को कैसे देख सकते हैं? फिर भी हम उनको देख सकते हैं— पर उन्हीं सूक्ष्म उपतत्त्वों की दृष्टि से। योगी लोग इन शरीरों को अथवा इस ईथरिक उपलोक की सभी वस्तुओं, सभी प्राणियों को देख सकते है; और चूंकि ये भूलौकिक ही तत्त्व से बने होते हैं, इस लिये आपेक्षिक भाव से थोड़े ही अभ्यास से ये देखे जा सकते है।

इस प्रकार जिन लोगों ने अनुभव कर के इस ईथरिक वा छाया शरीर को देखा है, वे बतलाते हैं कि इसकी शकल मनुष्य के ठीक स्थूल शरीर की नाईं है। प्रत्येक अङ्ग ठीक इस बाह्य शरीर ही की नाईं होता है। इस शरीर में भी हमारे बाह्य इन्द्रियों की नाईं कई प्रधान शक्ति केन्द्र हैं। उनको जागृत करने से मनुष्य ऊपर के लोकों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। धर्म ग्रन्थों में पांच प्रकार के प्राणों का ज़िक्र पाया जाता है जो इस शरीर के पालन निमित्त भिन्न २ कार्य करते हैं। पर उनके अतिरिक्त इस शरीर में सात केन्द्र अथवा सात चक्र हैं, जिनको जागृत करने से मनुष्य भांति २ की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है। इनका विशेष वर्णन योग की पुस्तकों में पाया जायगा, पर इनका यथार्थ भेद किसी सच्चे योगी से ही मिल सकता है। इस शरीर का रंग हल्का नीला होता है। यह प्राण का वाहन है। इसी

के द्वारा मनुष्य के शरीरों में प्राण का संचालन होता है। इसी लिये इसे प्राणमय कोष भी कहते हैं।

मनुष्य के पार्थिव जीवन काल में प्रायः स्थूल तथा ईथरिक शरीरों का सम्बन्ध सदा लगा रहता है। पर मृत्यु के समय यह सम्बन्ध टूट जाता है। जीवन काल में भी योग क्रिया द्वारा यह ईथरिक वा छाया शरीर स्थूल शरीर से पृथक किया जा सकता है। पर यह हठयोगियों, बाममार्गियों का काम है। राजयोगी ऐसा नहीं करते।

यहां पर एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य के भीतर जितने कोष अथवा शरीर हैं, वे सभी एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, पर स्वतन्त्र भी हैं; उन सभों के कार्य पृथक २ हैं, और योग बल द्वारा वे ठीक उसी प्रकार एक दूसरे से अलग किये जा सकते हैं, जैसे मनुष्य कोट, वेस्टकोट, क़मीज, गंजी आदि को एक दूसरे से अलग कर सकता है।

मनुष्य का बाहरी शरीर जिस समय जिस लोक का रहता है, उस समय साधारणतः वह उसी लोक में जागृत अवस्था में रहता है, अर्थात्, साधारणतः उस को उसी लोक का ज्ञान रहता है। इस प्रकार जब मनुष्य मृत्यु पश्चात् अथवा जीवित ही अवस्था में योग द्वारा अपने स्थूल शरीर को त्याग कर बाहर निकल जाता है, उस समय उसका बाहरी शरीर ईथरिक तत्त्वों का रहता है और इस लिये वह अपने को ईथरिक लोक में पाता है। उस लोक का वह कितना

ज्ञान हासिल कर सकता है, अथवा कितना नहीं कर सकता, यह तो उसके आन्तरिक विकास के ऊपर निर्भर है। इसी स्थूल लोक में क्या सभी मनुष्यों के ज्ञान बराबर हैं? नहीं। वैसे ही दूसरे लोकों में पहुंचने पर भी मनुष्य तो वही रहता है, और इस लिये उस लोक के कम अथवा अधिक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति उसके विकास पर निर्भर है। इसी प्रकार ईथरिक शरीर को भी छोड़ कर मनुष्य भुवर्लोक में अपने काममय कोष अथवा वासना शरीर अथवा इन्द्रिय द्वारा जा सकता है; अथवा उसे भी त्याग कर मानसिक शरीरों द्वारा मानसिक लोकों के भिन्न २ उपतलों पर भ्रमण कर सकता है।

इन बातों को सुन कर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। प्राचीन काल में ऋषि, महात्मा बराबर ऐसा लोक लोकान्तरिक जीवन व्यतीत करते थे। आज भी ऐसे योगी वर्त्तमान हैं जो ऐसा कर रहे हैं। मि० सी० जिनराज दास ने 'थियौसोफी अर्थात् ब्रह्मविद्या के मूल सिद्धान्त' नामक पुस्तक में अदृश्य लोकों के अस्तित्व का वर्णन करते समय एक स्थान पर लिखा है, जिसका सारांश यह है: 'इस अदृश्य संसार के अस्तित्व के सम्बन्ध में मैं दूसरे से प्राप्त की हुई ही बातें नहीं लिख रहा हूं, बल्कि बहुत कुछ अपने निजी अन्वेषण तथा अनुभव की बातें भी लिख रहा हूं। मेरी चेतना में यह सदा वर्त्तमान रहता है कि हमारी चारों ओर, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर, तमाम एक अदृश्य जगत विद्यमान है, जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। इसको देखने के लिये विशेष इच्छा शक्ति के प्रयोग की

आवश्यकता नहीं है। इसका देखना उतना ही सहज है जैसा इन चर्म चक्षुओं द्वारा किसी पार्थिव स्थूल वस्तु का देखना है। यह इन आंखों द्वारा नहीं देखा जाता। आखें खुली रहें अथवा बन्द, इससे उसके देखने में कुछ भी अन्तर नहीं आता। ये बाह्य तथा आन्तरिक नेत्र एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और फिर भी दोनों एक साथ एक ही समय अपना २ कार्य्य कर सकते हैं। मेरी आखें इस काग़ज़ को देख रही हैं, जिस पर मैं लिख रहा हूं। पर साथ ही मेरी दूसरी आखें—उन को क्या नाम दिया जाय मैं नहीं समझता—इस अदृश्य संसार को देख रही हैं, जो ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर, काग़ज़ में, टेबुल और कोठरी में तमाम विद्यमान है। यह संसार प्रकाशमय है। इसका प्रत्येक बिन्दु ज्योति का एक केन्द्र प्रतीत होता है, जो भूलोक की ज्योति से भिन्न है.........।" साधारणतः ये बातें विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती हैं। पर इन्हें हंसी में उड़ा देना भी काफ़ी नहीं है। इनकी खोज कर इनकी सत्यता की जांच करनी चाहिये।

मनुष्य के भिन्न २ कोषों अर्थात् शरीरों के एक दूसरे से पृथक, स्वतन्त्र अथवा परे होने के सम्बन्ध में भगवान श्री कृष्णचन्द्र ज़ी ने भी गीता में कहा है :

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥'

—अ० ३, श्लो० ४२।

अर्थात, 'कहा जाता है कि इन्द्रियां परे है (अभिप्राय यह है कि इन्द्रियां शरीर से परे हैं), मन इन्द्रियों से परे है, बुद्धि

मन से परे है और वह (अर्थात् आत्मा) बुद्धि से परे है।' पर योग के गुप्त रहस्यों से अनभिज्ञ होने के कारण इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का यथार्थ अर्थ जानना अत्यन्त कठिन है। इस श्लोक में भी ठीक वही प्राकृतिक तथ्य दर्शाया गया है, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया है।

ईथरिक शरीर के बाद सूक्ष्मता में तीसरा स्थान वासना शरीर का आता है। इसी को काममय कोष अथवा इन्द्रिय भी कहते हैं। काममय कोष का ज़िक्र कोषों के वर्णनों में नहीं पाया जाता है। मनोमय कोष से ही इस कोष का तथा इस से ऊपर वाले मानसिक लोक के कोषों का भी अभिप्राय निकाला गया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि राजयोगी महात्मा अपने शिष्यों को भूलोक के बाद प्रायः स्वर्लोक में जागृत कराया करते हैं। बीच के भुवर्लोक को छोड़ दिया करते हैं। पीछे उस लोक का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पर ऐसा हमेशे नहीं होता है। इसके अतिरिक्त भूलोक के बाद क्रमशः भुवर्लोक ही का स्थान पहिले आता है। इसलिये इस लोक में भ्रमण करने वाले शरीर के लिये एक पृथक नाम दे लेना ही अधिक अच्छा है।

इस लोक के शरीर के नाम के सम्बन्ध में अक्सर बहुत ग़लतफ़हमी फैली पाई जाती है। उपनिषदों तथा दर्शनों में जहां कहीं इन्द्रियों का वर्णन आया है, वहां वास्तव में इसी वासना शरीर से अभिप्राय है। हम केवल उनका स्थूल अर्थ ग्रहण कर इन्द्रियों द्वारा केवल स्थूल शरीर की बाह्य ज्ञान तथा कर्म इन्द्रियों का ही अर्थ समझते हैं, इसी कारण असली तत्त्व को नहीं

समझ पाते। ऊपर गीता से उद्धृत किये हुए श्लोक में जो दिखलाया गया है कि इन्द्रियां शरीर से परे हैं और मन इन्द्रियों से परे है, उसका सारांश, जब तक हमें यह ज्ञान न हो कि शरीर, इन्द्रिय और मन का पृथक २ अस्तित्व है, तबतक हम नहीं ग्रहण कर सकते हैं। यह एक अत्यन्त व्यापक भूल है। इसलिये धर्म ग्रन्थों में जहां कहीं इन्द्रियों का वर्णन आये, वहां केवल इस स्थूल शरीर के अङ्गों का ही अभिप्राय न समझ कर उनका असली तात्पर्य वासना शरीर से समझना चाहिये।

यह वासना शरीर भुवर्लोक के तत्त्व तथा उपतत्त्वों से बना है। उस लोक में पहुँचने पर पदार्थ अथवा द्रव्य में काम, वासना, इच्छा के गुण आ जाते हैं। इसलिये यह शरीर मानो वासनाओं का बना रहता है। जैसे स्थूल शरीर की ख़ोराक अन्न है, वैसे ही इसकी ख़ोराक वासनायें हैं। इसलिये जैसी वासनाओं को हम अपने हृदय में स्थान देते हैं, वैसा ही यह शरीर बनता है। यदि हमारी अभिलाषायें उच्च कोटि की, पवित्र हों, तो वैसा ही पवित्र, सूक्ष्म और सुन्दर इस की बनावट सजावट हो जाती है और जीव के प्रकाश को बाहर प्रगट होने देने में यह बाधक नहीं होता। पर यदि हमारी वासनायें कुत्सित, भद्दी हों तो वासना शरीर वैसा ही भद्दा, कुरूप, भयङ्कर बन जाता है और जीव का प्रकाश भीतर से बाहर प्रगट होने नहीं देता। पर हमारा वासना शरीर उच्च कोटि का होगा अथवा घृणित श्रेणी का, इसकी सारी जिम्मेवारी हमारे अपने ऊपर है। हम जैसी भावनायें, जैसी इच्छायें अपने भीतर आने देंगे, वैसा ही इस

शरीर का निर्माण होगा।

योगी लोग बतलाते हैं कि वासना शरीर अण्डाकार रूप का होता है, जो स्थूल तथा इथरिक शरीरों के साथ पारस्परिक अन्तर्प्रवेश करता हुआ मनुष्य की चारों ओर स्थूल शरीर से कुछ आगे तक निकला रहता है। उसके रूप रंग से पता चल जाता है कि कौन मनुष्य किस दर्जे तक उन्नति कर पाया है। प्रत्येक भावना अथवा वासना इस शरीर में एक विशेष रंग द्वारा प्रगट होती है। भिन्न २ श्रेणी के लोगों के वासना शरीर भिन्न २ रंग के होते हैं। उनका क़द भी उनके विकास पर ही निर्भर है। बिशप सी० डब्ल्यू० लेडबीटर साहेब ने इस क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किया है, और अङ्गरेज़ी में 'मनुष्य-प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष' (Man-Visible And Invisible) नामक ग्रन्थ में उन्हों ने रंगीन चित्रों द्वारा दिखलाया है कि वासना शरीर में भिन्न २ वासनायें किन २ रंगों अथवा रूपों में प्रगट होती हैं, और असभ्य, सभ्य मनुष्यों तथा ऋषियों के वासना तथा अन्य शरीरों में क्या अन्तर है। यह विषय अत्यन्त ही रोचक तथा उपदेश-प्रद है। पर खेद है कि अभी तक इन अमूल्य अन्वेषणों का हिन्दी भाषा में अवतरण नहीं हो पाया है।

साधारण मनुष्य का वासना शरीर एक ही साथ भांति २ की वासनाओं का क्रीड़ास्थल होने के कारण सदा अनेक प्रकारों से कम्पित होता रहता है और उसमें तरह २ के रंग बातों बात में बदला करते हैं। यह बात आसानी से समझी जा सकती है,

क्योंकि भुवर्लोक का तत्त्व हवा क्या, ईथर से भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त आसानी से कम्पायमान हो जाता है। पर जैसे २ मनुष्य उन्नति करता जाता है, वह अपने वासना शरीर पर अधिकार जमाता जाता है। इसका फल यह होता है कि उसके वासना शरीर के कम्पों और रंगों का बदलना धीरे २ कम होता जाता है। साधु सन्तों का वासना शरीर अत्यन्त निर्मल, सूक्ष्म और सुसज्जित होता है। पर चूंकि कम्पायमान होना इस का साधारण स्वभाव है, इसलिये उन के वासना शरीरों से सदा शान्ति, प्रेम तथा आनन्द की वर्षा हुआ करती है।

अब देखना चाहिये कि विषयों अर्थात् बाह्य वस्तुओं के साथ बाहरी इन्द्रियों के संसर्ग से कामनायें किस प्रकार उत्पन्न होती हैं और कैसे कार्य करती हैं। मान लीजिये किसी सुन्दर पुष्प पर दृष्टि पड़ी। तो उस पुष्प से जो प्रकाश की किरणें निकल रही हैं, जिन के द्वारा उस का देखना सम्भव होता है, वे आँख की पुतलियों पर पड़ती हैं। वहां उन किरणों के टकराने से आँख की पुतलियों से सरोकार रखने वाले स्नायुओं में एक प्रकार का तरंग पैदा हो जाता है। स्नायुओं के ज़रिये वह तरंग मस्तिष्क के केन्द्र में पहुंचता है, वहां से ईथरिक शरीर के मस्तिष्क में पहुंचता है, फिर विशेष चक्रों द्वारा वह तरंग अथवा कम्पन वासना शरीर पर पहुंचता है और वहां भी अपने अनुकूल कम्पन जारी करता है, जिस से सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है, जिसे भावना कहते हैं। पर यहीं पर यह क़िस्सा तमाम नहीं हो जाता। वासना शरीर से वह कम्प आगे मानसिक शरीर

तक—जिस का वर्णन आगे किया जायगा—पहुंचता है और उस में अपने अनुकूल विचार का रूप धारण करता है। तब मनुष्य अपने मानसिक शरीर में जानता है कि किस वस्तु को उस के बाह्य नेत्रों ने देखा है, पर अभी तक मस्तिष्क को इस का ज्ञान नहीं रहता है। मस्तिष्क तक ज्ञान पहुंचने के लिये फिर विचार का जो फैसला रहता है कि इस वस्तु को ग्रहण करना चाहिये अथवा इस का त्याग करना चाहिये, उस का एक दूसरे प्रकार का कम्पन मानसिक कोष में उठता है। फिर मन का वह फैसला तरंग के रूप में मानसिक से वासना शरीर में उतरता है और वहां से ईथरिक शरीर द्वारा होता हुआ स्थूल मस्तिष्क में उतरता है और मनुष्य या तो उस पुष्प को ग्रहण कर लेता है या उस का स्मरण करता हुआ आगे बढ़ता है। ये सारी प्रक्रियायें इस तीव्रता के साथ होती हैं कि जिस का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। पर क्रम यही है और यौगिक अन्वेषणों द्वारा लोगों ने इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन किया है।

अब मानसिक शरीरों पर विचार करना चाहिये, जो इस वासना शरीर से भी सूक्ष्म हैं। स्वर्लोक के दो विभागों का ज़िक्र पहिले आ चुका है। उन दोनो में भ्रमण तथा कार्य करने के लिये मनुष्य के भीतर भी दो पृथक २ शरीर वर्त्तमान हैं। नीचे वाले को लघु मानसिक शरीर कहते हैं और ऊपर वाले को उच्च मानसिक शरीर अथवा कारण शरीर कहते हैं। चूंकि ये दोनों एक ही तत्त्व के दो विभागों से बने हैं, इसलिये प्राचीन पुस्तकों में इन का एक ही नाम मनोमय कोष कहा गया है। पर उस की वृत्तियों

में अन्तर किया गया है। कहा जाता है कि मन की दो वृत्तिया हैं—एक मनुष्य को ऊपर की ओर ले जाने वाली और दूसरी इन्द्रियों के वश में हो कर नीचे को ओर गिराने वाली। वास्तव में ये दोनों वृत्तियां दो भिन्न वाहनों अथवा शरीरों द्वारा कार्य करती हैं। इसलिये इन को पृथक २ ही लेना अच्छा है।

ये दोनों ही शरीर विचारों के बने हुए होते हैं–लघु मानसिक शरीर सरूप (concrete) विचारों से और उच्च मानसिक शरीर अरूप (abstract) विचारों से बनता है। इन दो प्रकार के विचारों में क्या अन्तर है, यह पहिले बतलाया जा चुका है। विचारों की कोटि तथा न्यूनाधिक व्यवहार के ऊपर इन शरीरों का विकास निर्भर है। अधिकांश मनुष्यों में अभी लघु मानसिक शरीर का बहुत कम विकास हो पाया है। बिशप लेडबीटर साहेब ने भिन्न २ अवस्थाओं के मनुष्यों के मानसिक शरीरों के चित्र भी 'मनुष्य-प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष' नामक पुस्तक में दिये हैं।

जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है, प्रत्येक मनुष्य बिना जाने बूझे भी अपने विचारों द्वारा इस लोक में रह रहा है। हां, सज्ञान रूप से केवल लघु मानसिक शरीर में बाहर निकल कर भ्रमण करने की बात अभी बहुत दूर की बात है। पर योगाभ्यास करने से आज भी ऐसा किया जा सकता है।

उच्च मानसिक शरीर स्वर्लोक अर्थात् मानसिक लोक के अरूप बिभाग के उपतत्त्वों से बना हुआ है। यही मनुष्य का वास्तविक निवास स्थान है। मनुष्य के अन्य चार नीचे वाले शरीरों का—अर्थात्, लघु मानसिक शरीर, वासना शरीर, छाया

अथवा ईथरिक शरीर और स्थूल शरीर का प्रत्येक जन्म और मरण के समय विनाश तथा नव-निर्माण होता रहता है। पर इस उच्च मानसिक शरीर का इस प्रकार नाश नहीं होता। इस कारण इसे अमर कहते हैं। अमर से यह नहीं जानना चाहिये कि इस का कभी नाश ही नहीं होता। इस के सम्बन्ध में अमर शब्द का व्यवहार तो केवल आपेक्षिक भाव से किया जाता है। आगे चल कर इसका भी नाश होता है, पर इन और चार शरीरों की अपेक्षा यह अमर हैं। इन चारों का तो जीव के प्रत्येक अवतरण के समय नाश तथा नव-निर्माण होता है, पर इस प्रक्रिया द्वारा उच्च मानसिक कोष अथवा शरीर का नाश नहीं होता, बल्कि उसका क्रमशः विकास होता जाता है। प्रस्तुत समय में बहुत ही कम आदमियों के उच्च मानसिक शरीर ऐसे काफ़ी तौर से विकसित हैं कि वे उन का व्यवहार कर उस लोक में भ्रमण कर सकें। पर क्रमशः विकास इस का हो रहा है, क्योंकि जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त किये अनुभवों का यही भण्डार है। प्रत्येक जन्म में मनुष्य जो कुछ सीख कर जाता है, उसका सार इसी शरीर में वर्त्तमान रहता है, और दूसरे जन्मों में भी अनुभवों का यह भण्डार सदा उसके साथ रहता है। इस लिये इसे 'कारण शरीर' भी कहते हैं।

इस से आगे वाले और सूक्ष्म शरीरों के सम्बन्ध में कुछ नहीं ही कहना अच्छा है। बुद्धि शरीर अथवा बुद्धि अभी अधिकांश लोगों में केवल गुप्त अर्थात् बीज रूप में पड़ी हुई है। बहुत कम लोगों में उसका विकास हो पाया है। उसको स्वतन्त्र

वाहन बना कर उसका अलग व्यवहार करना तो अत्यन्त दूर की बात है।

यह शरीर महः अर्थात् बुद्धि लोक के अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों से बना है। प्रत्येक दर्जे के शरीर के विकास के लिये आवश्यक है कि धीरे २ उस शरीर का व्यवहार किया जाय। अभ्यास द्वारा ही इन शरीरों की उन्नति होती है। जिस प्रकार अन्न द्वारा स्थूल शरीर का पोषण होता है, अनुभूतियों, भावनाओं द्वारा वासना शरीर का पोषण होता है, भिन्न २ श्रेणी के विचारों द्वारा मानसिक शरीरों का पोषण होता है, उसी प्रकार बुद्धि के व्यवहार द्वारा इस बुद्धि शरीर का पोषण होता है। इसी कारण आजकल इस का नाम बुद्धि शरीर रखा गया है। प्राचीन काल में लोग इसे विज्ञानमय कोष कहते थे। दोनों के पीछे एक ही भाव छिपा हुआ है। बहुत ही कम आदमी हैं जो वास्तव में विचार करना जानते हैं। इस का नतीजा यह है कि अधिकांश मनुष्यों में रचनात्मक विचार शक्ति का बहुधा अभाव पाया जाता है। इसीलिये अधिकांश व्यक्तियों के मानसिक शरीर-लघु मानसिक शरीर—अत्यन्त छोटे, अपरिपक्व, शैशवावस्था में हैं। पर उच्च मानसिक शरीर अभी और भी अधिक लोगों में केवल बीज रूप में पड़े हुए हैं, क्योंकि जिस परिणाम में मनुष्य सिद्धान्तों को अपने जीवन का अङ्ग बनाता है, उसी परिणाम में इस की उन्नति हो सकती है। बहुत मनुष्यों में सिद्धान्त के ऊपर जीवन निर्भर करने की बात कई जन्मों के बाद ही आ सकेगी। जब उच्च मानसिक शरीर का ही यह हाल है, तो बुद्धि अथवा बुद्धि शरीर

के बारे में तो कुछ कहने की बात ही नहीं। वह तो और अधिक गहराई में बीज रूप में गड़ा पड़ा है। हां, इने गिने कुछ लोग हैं जिन्हों ने इस का विकास किया है और कुछ लोग इस के विकास के प्रयत्न में लगे हुए हैं। पर न जानें कितने काल के बाद आज कल के साधारण मनुष्य इस अमूल्य रत्न की ओर ध्यान फेरेंगे और इस का व्यवहार करेंगे।

इस शरीर का पालन पोषण बुद्धि द्वारा होता है। पर बुद्धि से अभिप्राय क्या है? साधारणतः चालाकी चुस्ती को लोग बुद्धि समझा करते हैं। पर वह तो उच्च मानसिक शरीर भी नहीं, बल्कि लघु मानसिक शरीर के कार्यों का ही एक विभाग है। बुद्धि की शक्ति विचार की शक्ति से अत्यन्त सूक्ष्म और एकदम दूसरे प्रकार की है। शब्दों द्वारा उसका वर्णन करना सम्भव नहीं, क्योंकि यह तो अनुभव की वस्तु है। फिर भी इस शक्ति का कुछ अन्दाज़ दिलाने का प्रयत्न करना यहां आवश्यक है। यदि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो, किसी श्लोक अथवा सूत्र का तात्पर्य समझना हो, तो विचार द्वारा तरह २ की छान बीन, मेल मिलाप अर्थात् बहुत माथा पच्ची कर के हम कुछ अर्थ निकाल लेते हैं, अथवा कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं; पर जिसमें बुद्धि की शक्ति विकसित है उस को इस प्रकार छान बीन, मेल मिलाप, उलट फेर करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो एक बार उस वस्तु अथवा उस सूत्र वा श्लोक की ओर अपना ध्यान ले जाता है और बिना किसी परिश्रम के उसके पूर्ण ज्ञान का प्रकाश उसे मिल जाता है। इसको अङ्गरेज़ी में अन्तःस्फूर्ति

(intuition) कहते हैं। पता नहीं चलता कि हिन्दी में किस प्रकार इस को प्रगट किया जाय। मालूम होता है कि यह एक ऐसी शक्ति है कि जहां किसी वस्तु से ध्यान का स्पर्श मात्र हुआ कि उस का पूरा ज्ञान हृदय के भीतर झलक उठता है। हो सकता है कि इस लोक के तत्त्व के इसी गुण के कारण प्राचीन ऋषियों ने इसका गुण स्पर्श बतलाया हो। इस प्रकार बुद्धि को स्पर्श शक्ति अथवा स्पर्श ज्ञान शक्ति कह सकते हैं। पर इस स्पर्श को स्थूल शरीर के इन्द्रिय स्पर्श से नहीं मिलाना चाहिये। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा उच्च अवस्था की बात है। इसी कारण से इसे विज्ञानमय कोष भी कहते हैं। यहां सोच विचार की पहुँच नहीं है। यह शरीर साक्षात् विज्ञान की ज्योति का बना हुआ है।

कभी २ ऐसा होता है कि किसी प्रश्न को ले कर उसको बहुत सोचते विचारते अथवा उसमें बहुत माथा पच्ची कर के हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं, पर कुछ उत्तर नहीं मिलता। पर ऐसे अवसर पर एक-ब-एक भीतर से कुछ ऐसा प्रकाश आता है कि उस प्रश्न का उत्तर बिना परिश्रम के साफ २ झलक जाता है। यह भी अधिकांश केवल उच्च मानसिक कोष की झलक के कारण होता है, पर इसी प्रकार कभी २ बुद्धि की ज्योति भी मनुष्य को मिल जाया करती है। इस लिये बुद्धि को साधारण होशियारी, चालाकी अथवा सोचने विचारने के चातुर्य से हर्गिज़ नहीं मिलाना चाहिये। जब हम इस प्रकार के अनुभवों में रहने लगेंगे, जिस का अभी वर्णन किया गया है, तब हमारा बुद्धि शरीर उन्नति पा सकेगा, बढ़ सकेगा और स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करने योग्य

हो सकेगा।

आत्मिक शरीर के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। वह अपूर्व आनन्द का भण्डार है। अधिक से अधिक उसका ज़िक्र मात्र कर सकते हैं कि एक ऐसा भी कोष है जो आत्मा का वाहन है, जो ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों का बना हुआ है जिस का गुण आनन्द—निर्मल आनन्द—है। इसलिये उसको आनन्दमय कोष कहते हैं। पर सिवाय ऐसा ज़िक्र करने के इसके सम्बन्ध में आगे कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद इसी कारण से इस जनलोक के तत्त्व का गुण ऋषियों ने शब्द कहा है कि यहां तक तो कुछ ज़िक्र कर सकते हैं, पर इसके ऊपर आगे के सूक्ष्म लोकों तथा तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ ज़िक्र तक नहीं कर सकते। आत्मा है। बस्; इसके सम्बन्ध में और कुछ भी वर्णन करना इसके असली महत्त्व को नीचा करना है।

इस प्रकार मनुष्य के सातों शरीरों का कुछ हाल वर्णन किया जा चुका। इन शरीरों का एक विशेष प्रकार से संगठन किया गया है। उसे भी अत्यन्त संक्षेप से जान लेना चाहिये। जिस प्रकार एक चिनगारी लहकती हुई आग के ज्वाले का एक अंश होती है, उसी प्रकार आत्मा (Monad), जो साधारणतः दूसरे प्राकृतिक लोक अर्थात अनुपादक लोक पर वास करता है, ईश्वर का एक अंश है। यह आत्मा अपना एक अंश नीचे के लोकों में भ्रमण कर अनुभव प्राप्त करने के लिये भेजता है। वही हमारा जीवात्मा अथवा जीव (Ego) है। यह जीव आत्मिक तथा बुद्धि लोक होता हुआ और वहां के तत्त्वों का आवरण धारण

करता हुआ मानसिक लोक के अरूप विभाग तक उतरता है। इसलिये मनुष्य के जीव का असली निवास स्थान अरूप मानसिक लोक है। यह जीव आत्मा-बुद्धि-मनस् (उच्च मनस्) इन तीनों को मिला कर होता है। इसी को अहङ्कार भी कहते हैं। यही मनुष्य के भीतर वह अमर तत्त्व है जिसका आवागमन के क्रम में विनाश नहीं होता है।

अरूप मानसिक लोक से भी नीचे के लोकों में भ्रमण करने तथा वहां का अनुभव प्राप्त करने के लिये जीव अपना एक अंश नीचे उतारता है, जिसे नश्वर देहात्मक जीव (Personality) कह सकते हैं। यह लघु मानसिक, वासना, ईथरिक तथा स्थूल शरीरों द्वारा नीचे के भिन्न २ लोकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है तथा उनमें कार्य करता है।

इस प्रकार मालूम होता है कि आत्मा ईश्वर का एक अंश है, जीवात्मा अर्थात् जीव आत्मा का एक अंश है और देहात्मक जीव जीवात्मा का एक अंश है; अर्थात्, अभी जो अंश संसार में कार्य कर रहा है और जिसको हम सर्वस्व समझ रहे हैं, वह ईश्वर के एक अंश के अंश का अंश है। साधारणतः मनुष्य की जितनी शक्तियों को हम जानते अथवा देखते हैं, वे सभी देहात्मक जीव की शक्तियां हैं। पर इन शक्तियों के चमत्कार ने भी आज संसार को आश्चर्य-चकित कर रखा है। जब देहात्मक जीव की ऐसी शक्तियां हैं, तो जीव तथा आत्मा की शक्तियां कितनी बढ़ कर होंगी, इसका अनुमान करना असम्भव है।

इन विचारों से जान पड़ता है कि हम कितना नीचे गिरे पड़े

हैं। पर हताश होने की कोई बात नहीं है। आज चाहे हम कितने ही छोटे क्यों न हों, पर वास्तव में हम उसी एक सत्ता के अंश हैं और एक न एक दिन उस सत्ता को अवश्य प्राप्त होंगे। सफ़र हल्का नहीं है। पर अन्तिम शिखर तक पहुंचेंगे, इसमें भी सन्देह नहीं है।

सातवां अध्याय
मृत्यु पश्चात् जीवन

हिन्दू धर्मावलम्बी तथा अन्य धर्मावलम्बी भी इस बात को मानते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता है; बल्कि जीव, सोल (soul) अथवा रूह बचता रहता है और भिन्न २ लोकों में अपने कर्मानुसार भ्रमण करता है। भिन्न २ धर्मों के इस बात से सम्बन्ध रखने वाले विचारों की तुलना करने का यह स्थान नहीं है। पर यदि ऐसा किया जाय तो पता चलेगा कि किसी धर्म का वर्णन ग़लत नहीं है। सब में सत्य का अंश है, जिसमें पीछे से धार्मिक अनुयायियों ने अपनी अज्ञानता के कारण बहुत बे मतलब की बातें भी मिला दी हैं और अनुभव शून्य होने के कारण केवल अनुमान के सहारे असली तथ्यों के ग़लत सलत अर्थ भी किये हैं। जो हो, हीरा चाहे कहीं भी छिपा क्यों न हो, कैसा ही मैला क्यों न हो गया हो, पर परखने वाले हर जगह से उस चमकते हुए हीरे को बाहर निकाल ले सकते हैं। इस में सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म में इन तथ्यों का विशेष विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। पर लोकों तथा मनुष्य के शरीरों का समुचित ज्ञान न होने के कारण लोगों ने उन का उलटा पुलटा अर्थ कर लिया है, जिस से उनका सार अथवा महत्त्व जाता रहा है। इस लिये प्राकृतिक लोकों और मनुष्य के कोषों अथवा शरीरों का कुछ ज्ञान हो जाने से आगे इन के समझने में आसानी होगी।

पाश्चात्य देशों में प्लैन्चेट (चौकी) तथा अन्य प्रकारों द्वारा लोग मरे हुए लोगों से वार्त्तालाप आदि करने के अनेक प्रयोग करते हैं। वहां गुप्त बातों का अनुसन्धान करने के लिये एक संस्था ही अलग क़ायम है जिसे गुप्त-रहस्य-अनुसन्धान-संस्था (Psychical Research Society) कहते हैं। उनके प्रयोगों से सदा सच्चा नतीजा नहीं निकलता, क्योंकि इन बातों के अनुसन्धान का सच्चा तरीक़ा कुछ और ही है। उसका वर्णन आगे किया जायेगा। पर इन प्रयोगों से भी बहुत लाभ हुआ है। पाश्चात्य जड़ वाद की नींव इस ने उखाड़ दी है। अब वैज्ञानिक रीति से भी लोग समझने लगे हैं कि इस पार्थिव स्थूल शरीर के अन्त से ही मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता ; बल्कि वास्तव में मनुष्य कुछ ऐसा अदृश्य गुप्त तत्त्व है, जो इस शरीर के नाश हो जाने पर भी ज्यों का त्यों वर्त्तमान रहता है।

अब आगे बढ़ने से पहिले यह जान लेना चाहिये कि मृत्यु का तात्पर्य क्या है। मृत्यु का अर्थ शून्य अथवा नेस्तोनाबूद हो जाना नहीं है। मृत्यु का वास्तविक अभिप्राय है एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करना। गीता में भगवान ने कहा है:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्
यन्यानि संयाति नवानि देही॥
—अ० २, श्लो० २२।

अर्थात्, "जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर के भीतर वास करने वाला जीव जीर्ण अर्थात् बेकार शरीरों को त्याग कर दूसरे नवीन शरीरों में प्रवेश करता है अर्थात् उनको धारण करता है।"

पर मनुष्य के शरीरों का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण इस श्लोक का अर्थ लोग बहुधा इस प्रकार लगा लिया करते हैं कि जीव एक मनुष्य तन त्याग कर दूसरा मनुष्य तन अथवा अन्य किसी योनि का तन धारण कर लेता है। यह भूल है। मृत्यु पश्चात् भी मनुष्य मनुष्य ही रहता है और अत्यन्त दुर्लभ अवस्थाओं को छोड़ साधारणतः कई वर्षों, कई सौ अथवा हजारों वर्षों के बाद ही पुनः दूसरा मनुष्य स्थूल शरीर धारण करता है। इस बीच में भी वह एक न एक शरीर धारण किये अदृश्य लोकों में निवास करता रहता है। इस लिये 'शरीराणि' से केवल स्थूल ही शरीरों को नहीं समझना चाहिये। उससे असली अभिप्राय भिन्न २ लोकों में रहने के लिये मनुष्य के भिन्न २ शरीरों से है, जिन का वर्णन आगे किया जा चुका है।

इसलिये स्थूल भूलोक से मृत्यु होने का मतलब स्थूल शरीर का त्याग करना और ईथरिक अर्थात् छाया शरीर का ग्रहण करना है, अर्थात्, स्थूल भूलोक से मृत्यु का मानी है ईथरिक लोक में जन्म। वैसे ही ईथरिक लोक की मृत्यु का मानी होगा, ईथरिक शरीर का त्याग और वासना शरीर का धारण, अर्थात्, ईथरिक लोक से मृत्यु होने का तात्पर्य काम लोक में

जन्म लेना है। इसी प्रकार भूलोक में जन्म लेने का भी अभिप्राय एक दृष्टिकोण से ईथरिक लोक का मरण कहा जा सकता है, क्योंकि ईथरिक लोक जीव के आने जाने के बीच की मन्ज़िलों में से एक मन्ज़िल है और इसलिये दोनों बार, अर्थात्, पृथ्वी पर उतरते समय भी उस में से हो कर आना पड़ता है और इस लोक से भुवर्लोक जाते समय भी उस से हो कर जाना पड़ता है।

इस से एक बहुत महत्त्वपूर्ण नतीजा यह निकलता है कि भिन्न २ लोकों में आना जाना, रहना और वहां से काय कर के चल देना तो जीव रूपी पथिक की यात्रा की साधारण रीति है। इसलिये वास्तव में मृत्यु के समय दुःख न कर के आनन्द मनाने का अवसर है, क्योंकि उस समय जीव मर्त्यलोक का एक सफर तय करके घर की ओर वापस जाता रहता है। जीव जितना ही नीचे के लोकों में उतरता है, उस का तेज, उस की शक्तियां उतनी ही अधिक घटती जाती हैं। इस भूलोक में जीव का उतरना वैसा ही है कि जैसा किसी गहरी अँधेरी खाई में कुछ पता लगाने के लिये किसी मनुष्य का उतरना है। वहां का काम समाप्त कर जब मनुष्य खाई से ऊपर उठने लगता है, तो पद २ पर उस को अधिक हवा, अधिक प्रकाश मिलता जाता है। उसी प्रकार यहां तो मनुष्य—प्रत्येक मनुष्य—कुछ विशेष कार्य से आया हुआ है। उस कार्य को समाप्त कर जब वह अपने असली घर की ओर वापस जाने लगता है, तो पद २ पर उस को अधिक प्रकाश, अधिक हवा मिलती है, अर्थात्, उस का जीवन क्रमशः बन्धनों से अधिक मुक्त

होता जाता है। इसलिये मृत्यु के समय शोक न मना कर हर्ष मनाना चाहिये। इसी भाव को भगवान ने कैसे सुन्दर शब्दों में कैसी सुन्दर सहज उपमा द्वारा प्रगट किया है! कहते हैं:—

'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥'
(गी० अ० २, श्लो० १३)

अर्थात्, 'जैसे देह के भीतर बास करने वाला जीव देह में कुमार, यौवन तथा वृद्धावस्था का अनुभव करता है, उसी प्रकार वह दूसरे देह को भी प्राप्त हो जाता है, इस के लिये धीर मनुष्य मोह अर्थात् शोच नहीं करता'। अहा! कैसा अच्छा वर्णन है! एक देह से दूसरे देह में प्रवेश कर जाना वैसा ही स्वाभाविक नियम है कि जैसा कुमारावस्था से युवावस्था में, अथवा युवावस्था से बृद्धावस्था में प्रवेश कर जाना है। बालक युवा क्यों हो गया? युवक वृद्ध क्यों हो गया? इन बातों के लिये तो कोई कभी अफ़सोस नहीं करता। फिर, एक तन को छोड़ कर दूसरा तन धारण करने में मनुष्य को क्यों रोना चाहिये? यह भी तो एक स्वाभाविक नियम है। हम अभी आगे चल कर देखेंगे कि ऐसे अवसर पर रोने पीटने से जीव को अपनी यात्रा में बाधा पहुंचती है।

इस प्रकार स्थूल भूलोक की मृत्यु का अर्थ जीव द्वारा स्थूल शरीर का त्याग करना और अन्य कोषों के साथ ईथरिक अर्थात् लिङ्ग शरीर में इस तन से बाहर निकल जाना हुआ। ऊपर बतलाया जा चुका है कि ईथरिक शरीर द्वारा ही स्थूल शरीर में भी प्राण का संचार होता है। इसलिये जैसे २ ईथरिक शरीर

स्थूल शरीर से बाहर निकलता जाता है, वैसे २ स्थूल शरीर शिथिल पड़ता जाता है और अन्त में वह सूक्ष्म सूत्र जो ईथरिक को स्थूल शरीर के साथ बांधे रहता है, वह भी टूट जाता है और, साधारण बोल चाल में, मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु होने के कुछ पूर्व जीव अपने इस जन्म की सारी कार्रवाइयों का सिंहावलोकन करता है। यह क्रिया ठीक वैसी ही है जैसा प्रत्येक यात्री अपनी एक मंज़िल को छोड़ कर दूसरी मंज़िल के लिये रवाने होने के समय करता है। वह देख लेता है कि किन २ चीज़ों के साथ वह उस मंज़िल पर आया था, वहां उसने क्या लेन-देन किया और किन २ वस्तुओं को ले कर वह वहां से आगे जा रहा है। ठीक इसी प्रकार जीव अपने दो चार दिनों अथवा दो चार वर्षों की ही नहीं, बरन् एक जन्म भर की अच्छी बुरी सारी कार्रवाइयों पर एक बार चन्द क्षणों के भीतर ही दृष्टि फेर जाता है। ऐसे अवसर पर यह उचित है कि उस मनुष्य को निश्चिन्त छोड़ दिया जाय, ताकि वह अपने जीवन भर का लेखा अर्थात् हिसाब किताब समझ ले। ऐसा न कर हम बहुधा रोने तड़पने लगते हैं। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि इस की वजह से उस प्रस्थान करने वाले जीव के चित्त में कितना उद्विग्न, कितनी अशान्ति फैलती होगी, जिस से वह अपना लेखा, अपना सिंहावलोकन समुचित रीति से न कर सकता होगा। इसलिये ऐसे समय में उस जीव के वास्तविक हित के लिये, जिस के साथ हम इतना प्रेम करते थे, पूर्ण शान्ति, प्रेम तथा आनन्द का ही वातावरण उस की

चारों ओर बनाये रखने की हमें पूर्ण रूप से कोशिश करनी चाहिये।

मनुष्य का यह अन्तिम सिंहावलोकन अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण होता है। भगवान ने भी गीता में इस महत्त्व को दर्शाते हुए कहा है :

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भाविताः॥'

—अ० ८, श्लो० ६।

अर्थात्, "हे कौन्तेय, अन्त समय में जिस किसी को स्मरण करते हुए शरीर का त्याग किया जाता है, सदा उसी के भाव से भावित होने से उसकी ही गति प्राप्त होती है।" इस लिये बहुधा केवल रस्म मात्र निवाहने के लिये किसी के मरते समय अथवा मृतक ढोते समय लोग राम नाम का उच्चारण किया करते हैं। ऐसा करना अच्छा है। पर इसी बात को समझ बूझ कर करना चाहिये और किसी भी हालत में मरते हुए मनुष्य के नज़दीक हल्ला हशरात नहीं मचाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उसका ध्यान अपने महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर से हट कर इधर उधर विचलित हो जाता है।

मृत्यु के पश्चात् जब जीव इस स्थूल शरीर से निकल कर बाहर जाता है, तो उसका पहला अनुभव बहुधा यही हुआ करता है कि हम किसी भारी बोझ से निवृत्त हो हल्के हो गये, स्वतन्त्र हो गये। इस का कारण यह है कि एक तो यह शरीर ही एक भारी बोझ है और इस के साथ २ इस पृथ्वी के वातावरण का

भी बहुत भारी बोझ हमें हमेशे ढोना पड़ता है। इन को हम बोझ नहीं समझते हैं, क्योंकि जन्म से ही इन को ढोने का हमें अभ्यास रहता है। जब मनुष्य पहाड़ों पर जाता है, तो वहां इस वातावरण के बोझ के हल्केपन का कुछ अनुभव उसे होता है। पर जब समस्त शरीर ही छूट जाता है, तब तो हल्केपन का कुछ ठिकाना ही नहीं रहता। इस सम्बन्ध में विशप लेडबीटर ने एक बार अपना अनुभव वर्णन किया था कि एक मनुष्य बहुत दिनों से बीमार था। उस को अन्त समय में बहुत कड़े शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ा। जब उसकी मृत्यु हुई, तो एक-ब-एक वह शरीर के कष्टों से मुक्त हो गया और उसने अपने को दुःखों से रहित और स्वतन्त्र पाया। उस समय उसे इस बात का तो ज्ञान था नहीं कि मैं मर गया। वह समझता था कि अब मेरा रोग दूर हो गया, अब मैं बिल्कुल अच्छा हो गया। इस बात की उसे इतनी ख़ुशी हुई कि वह आनन्द से परिपूरित हो कर अपनी लड़कियों तथा अन्य रिश्तेदारों से, जो वहां मौजूद थे, इस बात को जनाने की कोशिश करने लगा कि अब बीमारी बिल्कुल अच्छी हो गई। पर इधर उसकी लड़कियां तथा उसके दूसरे रिश्तेदार रोने पीटने में मशग़ूल थे। इस दृश्य को देख कर वह हैरान हो रहा था। वह समझ नहीं सकता था कि ये क्यों रो पीट रहे हैं और मेरी बातों को नहीं सुन रहे हैं। बहुत देर तक समझाते रहने पर उसको इस बात का ज्ञान हो सका कि अब वह स्थूल भूलोक में नहीं है ताकि लोग उस की बातों को सुनें, बल्कि अब वहां से

उसकी मृत्यु हो जा चुकी है। इस से बहुत स्पष्ट रूप से विदित होता है कि एक ही बात—मृत्यु—को जीव किस आनन्द से देखता है और साधारण मनुष्य उसे किस दुःख के भाव से देखते हैं।

एक बात का और स्मरण रखना आवश्यक है। प्राकृतिक रूप से मृत्यु के पश्चात् जीव की गति ऊपर के लोकों की ओर होती है। इसलिये, यदि वास्तव में हम ऊपर जाने वाले जीव के साथ प्रेम रखते हों, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी ऊपर की गति में उसे सहायता पहुँचायें। यहां रह कर भी ऐसी सहायता पहुंचाई जा सकती है। श्राद्ध कर्म आदि का यही उद्देश्य है। खेद है कि इन बातों को हम समझ कर नहीं करते। केवल एक रस्म निबाहने के भय से किया करते हैं, जिससे उनका प्रभाव बहुत हद तक बेकार हो जाता है। पर कम से कम एक बात पर तो अवश्य पूरा ध्यान देना चाहिये कि किसी की मृत्यु के समय अथवा उसके बाद भी उसके लिये रोना पीटना तथा शोक न करना चाहिये, क्योंकि हमें स्मरण रखना चाहिये कि मरने के बाद भी मनुष्य स्थान में कहीं बहुत दूर नहीं चला जाता है। वह अपने रिश्तेदारों, इष्ट मित्रों के ही इर्द गिर्द घूमा फिरा करता है। उसका प्रेम प्रत्येक के साथ जैसा पहिले था, वैसा ही अब भी रहता है। अन्तर सिर्फ़ इतना ही रहता है कि यहां जो सूक्ष्म लोक वर्त्तमान हैं, उन में वह सूक्ष्म शरीर धारण कर के रहता है। इस लिये इस शरीर की इन्द्रियों द्वारा हम उसे देख अथवा छू नहीं सकते। पर अपनी अनुभूतियों तथा अपने विचारों द्वारा उसके साथ हमारा सम्बन्ध सदा एक भाव से लगा रहता है। वह तो स्वयं

भी अपने प्रेमियों की ओर झुका रहता है और यदि प्रेमियों ने अपने रोने गाने, शोक, विलाप द्वारा और अधिक उसको अपनी ओर आकृष्ट कर रखा, तो उसके आगे जाने के रास्ते में बाधायें पहुंचती हैं। इस बात को स्मरण रख कर सच्चे प्रेम का संचार करते रहने से तथा समझ बूझ कर श्राद्ध आदि करने से हम उस परलोक गामी जीव को बहुत सहायता पहुँचा सकते हैं। इस लिये यदि हम अधिक न कर सकें, यदि हम विशेष सहायता न न पहुंचा सकें, तो कम से कम हमें इतना तो अवश्य करना चाहिये कि उस जीव के रास्ते में हम बाधायें न उपस्थित करें, और यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम वृथा रोने पीटने तथा शोक विलाप करने से परहेज करेंगे।

यहां तक तो इस बात पर विचार किया गया कि किसी की मृत्यु होते समय अथवा उसके पश्चात् हमारा भाव उसकी ओर कैसा होना चाहिये। अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि मृत्यु के बाद जीव किन २ दशाओं से हो कर गुजरता है।

मृत्यु पश्चात् जीव का बाहरी शरीर ईथरिक वा छाया शरीर रहता है। स्थूल शरीर से बाहर निकलने पर जीव इसी ईथरिक शरीर को धारण कर स्थूल शरीर के ऊपर उड़ता रहता है। छाया और स्थूल शरीरों में इतना घना सम्बन्ध है कि दोनों का नाश एक ही साथ होता है। मृत्यु के बाद प्राण का सञ्चार बंद हो जाने से स्थूल शरीर का बिनाश आरम्भ हो जाता है, अर्थात्, इसके अणु परमाणु एक दूसरे से अलग २ हो कर अपने सवर्गीय प्राकृतिक तत्त्वों में मिलने लगते हैं, और जैसे २ स्थूल शरीर

सड़ता गलता जाता है, अर्थात् उसका नाश होता जाता है, वैसे ही वैसे ठीक उसी परिणाम में छाया देह का भी नाश होता जाता है। इसलिये जबतक स्थूल शरीर बर्त्तमान रहता है, तब तक छाया देह भी जीव को अपने भीतर लपेटे बर्त्तमान रहता है। जीव के लिये यह दशा किसी विशेष लाभ का नहीं, बल्कि एक बन्धन मात्र है, क्योंकि उसको तो आगे भुवर्लोक तथा अन्य लोकों द्वारा होते अपने असली निवास स्थान पर पहुंचना है। इस कार्य में शरीर को शीघ्र नाश कर देने से सहायता पहुंचती है। इसलिये मुर्दे को दफ़न करने से दाह क्रिया द्वारा शरीर का शीघ्र बिनाश कर देना अधिक अच्छा है, क्योंकि उस हालत में जीव छाया देह के बन्धन से भी आप से आप मुक्त हो जाता है और भुवर्लोक में पहुंच जाता है, अर्थात्, उसका बाहरी शरीर भुवर्लोक के तत्त्वों वाला शरीर रह जाता है। इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त होने के कारण मुर्दों को जला देने की प्रथा धीरे २ दूसरे २ देशों में भी जारी होती जा रही है।

जहां मुर्दों के दफ़न करने का रिवाज है, वहां क़ब्रिस्तानों पर कभी २ लोग मुर्दों को देखा करते हैं और समझते हैं कि उन्हों ने वास्तव में मुर्दों को स्थूल शरीर में ही देखा है। पर ऐसी बात नहीं है। स्थूल शरीर तो मिट्टी की तहों में धीरे २ सड़ता गलता रहता है और उस का ईथरिक अर्थात् छाया देह उस क़ब्र के ऊपर मँड़राता रहता है अर्थात् उड़ता रहता है। आगे कहा जा चुका है कि छाया देह हूबहू उसी शकल का होता है जैसा स्थूल शरीर होता है। यही सूक्ष्म छाया शरीर कभी २ भयभीत

अथवा अन्य प्रकार से उत्तेजित पुरुषों को देखने में आता है। पर इस से भय खाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि छाया देह में जीव प्रायः अचेत ही पड़ा रहता है। उसे भूत प्रेत भी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि प्रेतादि का स्थान भूलोक में नहीं, बल्कि भुवर्लोक में है।

छाया देह के नाश हो जाने पर मनुष्य अपने को भुवर्लोक में पाता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि वह स्थान में अन्य कहीं दूर चला जाता है। वह उसी स्थान पर रहता है, पर स्थूल तथा सूक्ष्म भूलोक से अधिक सूक्ष्म तत्त्वों वाले भुवर्लोक में प्रवेश कर जाता है। यहां पहुँचते ही एक विचित्र घटना घटित होती है। भुवर्लोक के भिन्न २ उप-लोकों के जितने २ उपतत्त्व उस के वासना शरीर में वर्त्तमान रहते हैं, वे स्थूलता अथवा सूक्ष्मता के अनुसार एक साथ हो, अलग २ एक २ आवरण के रूप में हो जाते हैं। इस प्रकार एक वासना शरीर साधारणतः सात आवरणों में तक़सीम हो जाता है, अर्थात्, एक वासना शरीर की जगह पर भुवर्लोक के भिन्न २ उपलोकों के सात शरीर बन जाते हैं। सब से बाहर सब से स्थूल अर्थात् सातवें उपतत्त्वों का शरीर रहता है, उस के बाद छठीं श्रेणी के उपतत्त्वों का, और ऐसे ही दूसरे दूसरे उपतत्त्वों के भी पृथक २ आवरण बन जाते हैं।

प्रत्येक उपलोक में मनुष्य उसी अनुपात से जीवन व्यतीत करता है जिस अनुपात से उस लोक का द्रव्य उस के वासना शरीर में मौजूद रहता है, और यह अनुपात इस बात पर निर्भर

है कि उस मनुष्य ने कैसा जीवन व्यतीत किया है, कैसी २ इच्छाओं अथवा वासनाओं में उसने अपना पार्थिव जीवन बिताया है। जिस मनुष्य ने अत्यन्त क्रूर वासनाओं में बहुत दिनों तक अपना जीवन बिताया है, वह भुवर्लोक के नीचे के उपलोकों में भी कई वर्षों तक रहता है—हो सकता है कि उसे सैकड़ों वर्षों तक वहां रहना पड़े। लेकिन पवित्र वृत्ति वाले आदमी को अधिक दिनों तक यहां नहीं रुकना पड़ता है। वह बहुधा भुवर्लोक के ऊपर के ही उपलोकों में दिन काट लेता है। आध्यात्मिक विचार वाले आदमी को वासनाओं से बहुधा अत्यन्त कम सम्बन्ध रहता है और इसलिये ऐसे आदमी को भुवर्लोक पार कर जाने में कुछ भी बिलम्ब नहीं लगता है। पर साधारण मनुष्य को प्रत्येक उपलोक में रह कर वहां अपनी वासनाओं का भोग भोगना पड़ता है और जब उसकी अवधि समाप्त हो जाती है, तो उस उपलोक का शरीर छूट जाता है और वह अपने को उस से ऊपर वाले उपलोक में पाता है। इसी प्रकार एक २ कर के सभी उपलोकों का सफ़र तय करना पड़ता है।

सातवें उपलोक में ऐसे ही लोग जागृत अवस्था में पाये जाते हैं जो अत्यन्त निर्दयी और पाशविक वृत्तियों वाले होते हैं, जैसे भयङ्कर शराबी, विषयी, आदि। साधारण मनुष्य इस उपलोक को बहुधा अचेत अवस्था में ही बिता देते हैं। छठें उपलोक में जाने पर लोग भुवर्लोक के प्रायः उन्हीं स्थानों पर विचरा करते हैं, जहां उन के प्रेमी, रिश्तेदार तथा दोस्त आदि इस स्थूल

जगत के सरोकारी रहते हैं। पांचवें और चौथे उपलोकों में भी वे ऐसे ही स्थानों में विचरते रहते हैं, पर भूलोक का सरोकार क्रमशः कम होता जाता है और वे अपने विचारों के अनुकूल परिस्थिति बनाने की फ़िक्र में रहते हैं। तीसरे उपलोक पर वे प्रायः स्वतन्त्र भाव से मनमानी परिस्थिति बना कर उस में विचरते है। दूसरा उपलोक ऐसे धार्मिक लोगों का स्थान है जिन में स्वार्थ भाव भरा रहता है, और सब से ऊपर का उपलोक उन लोगों के अनुकूल मालूम होता है जिन्होंने पृथ्वी पर स्वार्थ भाव से विज्ञान, दर्शन तथा अन्य मानसिक उद्योगों में जीवन बिताया है।

भुवर्लोक के जीवन का वर्णन बहुत भयङ्कर शब्दों में किया जाता है। कहा जाता है कि यहां पर मनुष्य अपने पापों का बुरा परिणाम भोगता है। और उस दुःखमय जीवन का वर्णन करते समय कोई कहता है कि पापी मनुष्यों को लहकती हुई आग की नदियों को पार कर के जाना पड़ता है, कोई कहता है कि घोर अन्धेरी कोठरियों में पापी गिरा दिये जाते हैं और वहां तरह २ के कीड़े उस को चारों ओर से काट २ कर खाते हैं। ऐसे वर्णनों के सम्बन्ध में हमेशे हम को याद रखनी चाहिये कि भुवर्लोक में भूलोक के द्रव्यों की बनी कोई वस्तु नहीं है, और न मनुष्य ही अपने स्थूल शरीर में रहता है कि कीड़े उस को काट सकें अथवा आग उस को जला सके। वहां की यातनाओं का वर्णन करने के लिये ये उपमायें केवल सांकेतिक रूप से व्यवहार में लाई जाती हैं।

बात असल यह है कि भुवर्लोक वासनाओं का खुला स्थान है। स्थूल शरीर से पृथक होने पर मनुष्य की वासनाओं का वेग और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उस समय उन वासनाओं को स्थूल शरीर के तत्त्वों को प्रभावित कर के अपना कार्य नहीं करना रहता है। जीवित अवस्था में इस प्रक्रिया के कारण वासनाओं का वेग स्वभावतः बहुत कम हो जाता है। इस प्रकार जिन वासनाओं में मनुष्य इस लोक में अपना जीवन बिताता है, वे मरने के बाद भुवर्लोक में यहां की अपेक्षा कई गुणा अधिक प्रबल तथा वेगवान हो जाती हैं। ऐसी दशा में मनुष्य उनको सन्तुष्ट करने के लिये आगे बढ़ना चाहता है, पर ऐसा करने से वह अपने को लाचार पाता है। इसका कारण यह है कि उन वासनाओं की तृप्ति स्थूल शरीर की इन्द्रियों को व्यवहार में लाये बिना नहीं हो सकती है, और उस अवस्था में स्थूल शरीर तो उसके पास रहता ही नहीं है। इस लिये उनको तृप्त करने से वह बिल्कुल मजबूर रहता है। कष्ट और अधिक इस कारण बढ़ जाता है कि भुवर्लोक से भी मनुष्य स्थूल पदार्थों के वासना रूपों को देख सकता है और अज्ञानता वश वह उन्हें असली स्थूल ही रूप समझता है। एक तो वासना का वेग और दूसरे उसके सामने उस वासना की तृप्ति का विषय भी नज़र आता है, जिस से उस की व्याकुलता और अधिक बढ़ जाती है। पर जैसे ही वह उस वस्तु के पास अत्यन्त व्याकुलता के साथ पहुंचता है और आवेग के साथ अपनी वासना को सन्तुष्ट करना चाहता है, वह ऐसा करने से अपने आप को एकदम

मजबूर पाता है। ऐसी दशा में उस की यातना कैसी कठिन और भयङ्कर होती होगी, इस का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इसी अवर्णनीय यातना का भाव दूसरों को लोग भिन्न भिन्न प्रकार की उपमाओं द्वारा देने की कोशिश करते हैं। नहीं तो वास्तव में भुवर्लोक में ऐसी कोई आग आदि की नदियां नहीं हैं। फिर भी जैसा दुःख भोगने का वर्णन किया जाता है, वह बहुत हद तक ठीक है।

एक उदाहरण लेकर देखने से इस दुःख का और स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है। मान लीजिये, कोई आदमी अत्यन्त भूखा है। कई दिनों से उसको भोजन नहीं मिला है। ऐसे आदमी को अगर भोजन मिले, तो कितनी व्याकुलता, तेज़ी और आनन्द से वह उसे खाने के लिये उसकी ओर दौड़ेगा! पर यदि आगे बढ़ने पर भोजन उसे न मिल सके, तो उसका दुःख अत्यन्त अधिक बढ़ जायेगा। यह तो इस लोक में रहते हुए हालत होती है। फिर भुवर्लोक का तो हाल ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहां वासनाओं के वेग सैकड़ों क्या, हजारों गुणा अधिक बढ़े रहने पर भी और उनकी तृप्ति के विषय सामने मौजूद रहने पर भी एक दो रोज़ नहीं, बल्कि कई वर्षों तक कभी भी तृप्ति का लेश मात्र अवसर नहीं मिलता है। इस अवस्था का वर्णन अङ्गरेजी की एक धर्म पुस्तक में एक चित्र द्वारा किया गया है। उस चित्र द्वारा यह दिखलाया गया है कि एक अत्यन्त प्यासा हुआ आदमी पानी का एक प्याला लबालब भरा हुआ सामने देखता है। प्यास से व्याकुल हो कर लपक कर वह उस

प्याले को उठाता है और मुंह के पास पीने के लिये ले जाता है। पर जैसे ही ओठ का स्पर्श उस प्याले से होता है कि कुल पानी नीचे गिर जाता है। एक बूंद भी उसके मुंह में नहीं जाने पाता।

इस उपमा द्वारा भुवर्लोक के वास्तविक जीवन का कैसा अच्छा चित्र खींचा गया है! इस बात के पढ़ने से उस मनुष्य की व्याकुलता का जितना अन्दाज़ किया जा सकता है, भुवर्लोक का दुःख इस से सैकड़ों, हजारों गुणा अधिक बढ़ा हुआ होता है। इसलिये हमको अभी से ही सचेत हो अपनी वासनाओं अर्थात् अपनी इन्द्रियों को बश में रखने की कोशिश करनी चाहिये। जिस को शराब पीने की आदत है, उस को यदि दो चार दिनों तक शराब पीने को न मिले, तो वह कितना व्याकुल हो जाता है। पर उसे सोचना चाहिये कि आज तो दो चार दिनों के बाद भी शराब पीने को मिल जाती है, पर आगे चल कर भुवर्लोक में पहुँचने पर, जब शराब पीने की इच्छा सैकड़ों गुणा अधिक बढ़ी रहेगी और दो चार दिन क्या, उस लोक के जीवन पर्यन्त कभी भी शराब नहीं मिल सकेगी, तो उस समय कैसी दशा होगी। तिस पर भी तुर्रा यह कि वहां मालूम होगा कि शराब का प्याला सामने भर कर रखा है। अगर कोई शराबी उस दिन का चित्र अर्थात् उस दिन की व्याकुलता का कुछ भी अनुमान अपने हृदय में लाने की कोशिश करे, तो अवश्यमेव वह अपनी इस आदत को रोकने की कोशिश करेगा।

ऐसे शराबी जब भुवर्लोक में पहुंचते हैं, तो उनका निवास बहुधा भुवर्लोक के उसी भाग में हुआ करता है, जहां इस लोक

में शराब तथा शराबियों के अड्डे रहते हैं। कभी २ वे इस लोक के भयङ्कर पियक्कड़ों के शरीर में प्रवेश कर उनके स्थूल शरीरों द्वारा अपनी तृप्ति करते हैं। पर फिर उसके बाद वही पुरानी दुर्दशा रहती है।

इसी श्रेणी के अथवा इससे कुछ ऊपर के उपलोकों के प्राणियों से तन्त्रादि द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। प्रेतालयों में प्रेतों को आवाहन कर के उनके ज़रिये जो ख़बरें ली जाती हैं, वह बहुधा ऐसे ही प्रेतों द्वारा प्राप्त होती हैं, और इस लिये वे प्राय: ग़लत भी निकलती हैं। प्रेतों को किसी माध्यम के देह पर बुलाना बहुत ही बुरी बात है। इस से उस माध्यम (medium) को भी हानि होती है, क्योंकि उसका शरीर उस प्रेत की वासनाओं द्वारा अपवित्र किया जाता है, और उस प्रेत को भी हानि होती है, क्योंकि साधारण भाव से तो उसको अपना भुवर्लौकिक जीवन काट कर आगे स्वर्ग लोक में जाना चाहिये, पर इस प्रकार भूलोक के साथ सम्बन्ध होने से उस का खिंचाव भूलोक की ओर विशेष रूप के बढ़ ज़ाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि उसके आगे जाने के रास्ते में बहुत बाधा पहुंचती है। इस लिये प्रेतालयों आदि के प्रयोगों से सदा अलग रहना चाहिये।

साधारण दृष्टि से देखने से भुवर्लोक का यह जीवन ऐसे असह्य दु:खों से भरा हुआ जान पड़ता है, जिसका अन्त नहीं ; क्योंकि इस दशा में मनुष्य के भीतर दिनों दिन एक ही वासना घनी रहती है और उसकी तृप्ति का कोई साधन नज़र नहीं आता।

इसी कारण कुछ धर्मों में इस दुःख को अनन्त माना गया है और ऐसे ही स्वर्गीय जीवन को भी सुख का अनन्त स्थान माना गया है। पर वास्तव में दोनों के ही अन्त होते हैं। जितना ही अधिक बुरी वासनाओं में मनुष्य भूलोक में अपना जीवन बिताता है, उतने ही अधिक दिनों तक भुवर्लोक में उन वासनाओं की अतृप्ति द्वारा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य को हठात् अपनी इन्द्रियों को बश में करने का अवसर मिलता है। भुवर्लोक के जीवन की यही विशेष उपयोगिता है। यहां रह कर मनुष्य आत्म-संयम का पाठ सीखता है। यदि ऐसा होता, तो मनुष्य के लिये उत्तरोत्तर उन्नति का रास्ता एकदम रुक ही जाता, क्योंकि दुष्ट प्रवृत्ति वाला आदमी जन्म जन्मान्तर में बराबर नीचे की ही ओर गिरता चला जाता। पर इस आत्म-संयम के कारण जब ऐसा मनुष्य पुनर्जन्म धारण करता है, तो पूर्व जन्म की दुष्ट प्रवृत्तियों की ओर झुकाव रहने के साथ २ आत्म-संयम का रोक भी उसमें लगा रहता है, और इस लिये इस बार पहिले से कुछ अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर उसे मिलता है।

मि० सी० जिनराज दास ने अनुसन्धान द्वारा पता लगाया है कि मनुष्य का भुवर्लौकिक जीवन साधारणतः पांच वर्षों से लेकर चालीस वर्षों तक का होता है। पर अतृप्त वासनाओं के प्रबल वेग के कारण यह समय अनन्त जान पड़ता है। मसल मशहूर है कि दुःख का एक दिन एक वर्ष के बराबर होता है। फिर इस भुवर्लोक के जीवन के सम्बन्ध में कहना ही क्या है! पर, आगे हो अथवा

पीछे, सभी मनुष्यों के लिये इस घोर दुःख के निवास का अन्त होता है और एक २ कर के जब सभी वासना शरीरों का त्याग हो जाता है, तो मनुष्य अपने को स्वर्लोक के अन्तिम उपलोक में पाता है।

स्वर्ग लोक के दो शरीरों का ज़िक्र पहिले किया जा चुका है। पहिले लघु मानसिक शरीर में मनुष्य अपने को मानसिक लोक के रूप विभाग में अर्थात् स्वर्ग में पाता है। भुवर्लोक का जीवन जैसा दुःखमय है, स्वर्गलोक का जीवन वैसा ही सुखमय है।

स्वर्गलोक के चार उपलोकों में से आखिरी अर्थात् स्वर्लोक के सातवें उपलोक पर उन लोगों का निवास होता है, जो भूलोक में निःस्वार्थ भाव से पारिवारिक पालन पोषण तथा साधारण सामाजिक जीवन में अपना दिन बिताते हैं। छठें उपलोक में वे लोग पाये जाते हैं, जो श्रद्धापूर्वक किसी धार्मिक रीति के अनुसार अपने इष्टदेव की पूजा पाठ में लगे रहते हैं। पांचवें में उन लोगों का स्थान है जो निःस्वार्थ भाव से विज्ञान, दर्शन तथा अन्य मानसिक उद्योगों में लगे रहते हैं। और चौथे में वे लोग पाये जाते हैं जो इस पृथ्वी पर निःस्वार्थ भाव से मानव समाज की सेवा आदि के कार्यों में लगे रहते हैं। यही चार स्वर्ग के विभाग हैं। इस स्वर्लोक में पहुंचने पर मनुष्य को एक उपलोक से दूसरे उपलोक में नहीं जाना पड़ता, बल्कि जिस उपलोक की उस में प्रधान योग्यता रहती है, वह उसी में पहुंच जाता है; और कई सौ वर्षों तक वहां रह कर सन्तुष्टता पूर्वक सुख और आनन्द

लूटता रहता है।

इस लोक की दो प्रधान विशेषतायें हैं: एक यह कि यहां मनुष्य जैसा चाहे वैसा अपने इच्छानुसार मनमाना वातावरण बना कर उसी में मग्न रहता है, और दूसरी यह कि मनुष्य की जितनी उच्च अभिलाषायें होती हैं, जिन्हें वह इस पृथ्वी पर पूरा नहीं कर सकता, उन्हें वह स्वर्ग लोक में भलीभांति पूरा कर सकता है। इस प्रकार यहां पर उसे इच्छित आनन्द भी मिलता है और अपनी अभिलाषाओं को शक्तियों में परिणत करने का अवसर मिलता है। ये शक्तियां अगले जीवन में उस में प्रगट होती हैं।

इस प्रकार जो मनुष्य यहां पारिवारिक सेवा में लगा रहता है, स्वर्ग में पहुंचने पर अपने पसन्द मुताबिक़ अपने सभी प्रेम-पात्रों, अर्थात्, माता, पिता, स्त्री, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री, मित्रादि, सभों का समुन्नत मानसिक चित्र बनाकर वहां भी वह उन के साथ सुख अनुभव किया करता है। इस प्रकार जिन सदिच्छाओं को वह अपने पारिवारिक व्यक्तियों की ओर भेजा करता है, वास्तव में वह सदिच्छायें उन जीवित व्यक्तियों के पास पहुंचती हैं। मन का प्रवल वेग तो मालूम ही है। जहां किसी के बारे में ख़्याल दौड़ाया गया कि वह ख़्याल वहां पहुंच जाता है। इस लिये इस लोक में पहुंचने पर मनुष्य किंचित मात्र भी किसी से अपनी जुदाई का अनुभव नहीं करता है। इस प्रकार सभों के सहवास में आनन्द से वह अपने दिन काटता रहता है।

जो धार्मिक वृत्ति वाले पुरुष हैं, वे स्वर्लोक के छठें उपलोक

में पहुँचते हैं और वहां अपनी अभिलाषा के अनुसार अपने इष्टदेव का मानसिक चित्र निर्माणित कर अत्यन्त मनोहर बातावरण में उन्हें रखते हैं, और सदा उनकी पूजा, आर्चा, बन्दना में लगे रहते हैं। इस प्रकार श्रद्धा और भक्ति की शक्तियों को और भी अधिक दृढ़ कर वे दूसरी बार संसार में उतरते हैं।

इसी प्रकार जो निःस्वार्थ भाव से वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक प्रयोग करने वाले हैं, वे वहां भी अपनी मशीनों आदि को इच्छित रीति से बैठा कर अपने प्रयोगों को जारी रखते हैं; और जिन प्रश्नों को वे यहां हल नहीं कर पाये थे, उन्हें भी वे अच्छी तरह वहां हल कर लेते हैं। और जो लोग निःस्वार्थ भाव से संसार में सामाजिक तथा अन्य रीतियों से सेवा करने वाले हैं, वे स्वर्ग में पहुंचने पर रूप मानसिक लोक के ऊपरी उपलोक में वास करते हैं। सारे संसार का चित्र उनके मानस क्षेत्र में वर्त्तमान रहता है और भांति २ के प्रयोगों द्वारा वे मानव समाज तथा अन्य प्राणियों की सेवा करते रहते हैं।

इस स्वर्गीय जीवन की अवधि इस बात पर निर्भर रहती है कि भूलोक के जीवन में मनुष्य किस प्रकार के विचारों में लगा रहता है, और किस हद तक अपने विचारों का व्यवहार करता है। मि० सी० जिनराज दास ने पता लगाया है कि एक साधारण जंगली मनुष्य का स्वर्गिक जीवन प्रायः कुछ नहीं होता है। एक गृहस्थ का जीवन लगभग ढाई सौ वर्षों का होता है, सौदागरों का लगभग पांच सौ वर्षों का, डाक्टरों का लगभग एक हज़ार वर्षों का, किसी सिद्धान्त पर चलने वालों का लगभग

साढ़े ग्यारह सौ बर्षों का और सद्गुरु प्राप्त शिष्यों का प्रायः साढ़े इक्कीस सौ वर्षों का होता है। इस प्रकार देखा जाता है कि भिन्न २ श्रेणी के लोगों का स्वर्गिक जीवन प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ले कर साढ़े इक्कीस सौ बर्षों तक का होता है। पर अख़ीर में उसका भी अन्त होता है, अर्थात्, इस अवधि के समाप्त होने पर रूप मानसिक लोक से मनुष्य का एक बार फिर देहान्त होता है, यानी रूप मानसिक शरीर छूट जाता है, और मनुष्य अपने को अरूप मानसिक लोक में कारण शरीर में पाता है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव का असली निवास स्थान यहीं है। यहां पहुंचने पर साधारण मनुष्यों में यहां रहने के लिये कुछ साधन नहीं पाया जाता है, क्योंकि यहां के लिये तो सिद्धान्तों की आवश्यकता है और सिद्धान्तों पर रहने वाले आदमी अभी कम हैं। कुछ लोग ऐसे है, जिनका जीवन सिद्धान्तों के ही अवलम्ब पर निर्भर है। ऐसे लोग जब अरूप मानसिक लोक में पहुंचते हैं, तो अपनी उन्नति के अनुसार दो चार वर्षों तक अथवा अत्यन्त उन्नत होने पर सौ डेढ़ सौ वर्षों तक वे यहां रहते हैं। उस लोक में पहुंचते २ मनुष्य नीचे के सभी लोकों में प्राप्त किये हुए अनुभवों को अपने साथ लेता जाता है। इस प्रकार जीव का एक बार का आवागमन अथवा एक सफ़र समाप्त होता है। किसी विशेष आशय को लेकर वह नीचे के लोकों में सफ़र करने गया था, और उस आशय को न्यूनाधिक परिणाम में पूरा कर एक बार वह पुनः घर पहुंचता है। पर साधारणतः अभी भी उसे नीचे के लोकों से बहुत कुछ अनुभव हासिल करना

शेष रहता है। अभी भी नीचे के लोकों की ओर मनुष्य का खिंचाव रहता है। इस लिये वह पुनः एक दूसरा सफ़र नीचे की ओर आरम्भ करता है। भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने गीता में कहा है:—

"ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालम्
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"
—अ० ९ श्लोक २१।

अर्थात्, 'वे विशाल स्वर्गलोक (के सुखों) को भोग कर, पुण्यों के क्षीण हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक में आ जाते हैं।'

इस प्रकार मालूम होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के रास्ते में नर्क और स्वर्ग भूलोक के जीवन के समाप्त होने पर आते हैं; और अरूप मानसिक लोक पर पहुंचते ही पुनः उस की वापसी की बारी आ जाती है। बस, यहां पर पुनर्जन्म की बात आ गई, जिस का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। इस आवागमन से मनुष्य मुक्त कैसे होता है, इस का वर्णन आगे किसी अध्याय में मिलेगा।

आठवां अध्याय

पुनर्जन्म

इस देश में साधारण तौर से लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे समझते हैं कि इस विश्व में मनुष्य योनि से बढ़ कर दूसरी कोई योनि नहीं है, और ऐसा भी ख्याल करते हैं कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद ही जीव को दुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त होती है। ईश्वरत्व प्राप्ति के लिये केवल यही देह है। अगर इस देह से भगवान की भक्ति में चूक गये, तो फिर चौरासी भ्रमण पड़ेगा, अर्थात्, फिर भांति २ के पशु, पक्षी, कीड़ों, आदि की योनियों में जीव को घूमना पड़ेगा और अन्त में अनेक जन्मों के बाद ही कहीं मनुष्य का तन पुनः प्राप्त हो सकेगा।

इस विश्वास का एक अंश तो ठीक है कि मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। पर यह अंश ठीक नहीं है कि यदि इस देह से मनुष्य इस जन्म में ईश्वर को प्राप्त न कर सका, तो फिर उसे नीचे की योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। और न यही अंश ठीक मालूम होता है कि मनुष्य योनि से बढ़ कर दूसरी कोई योनि ही नहीं है।

आगे चल कर विकास क्रम के वर्णन में हम देखेंगे कि विकास के शृंखला बद्ध क्रम में मनुष्य केवल बीच के एक

स्थान पर है। विकास का क्रम मनुष्य की श्रेणी से आगे अर्थात् ऊपर की ओर वैसे ही फैला हुआ है जैसे इससे नीचे की ओर फैला है। इसका कुछ वर्णन पंच यज्ञों पर विचार करते समय किया गया था। प्रत्यक्ष भाव से मनुष्य के नीचे हम तीन अवस्था अथवा श्रेणी के जीवन विभाग (kingdoms of life) देखते हैं: खनिज, वनस्पति और पशु। वास्तव में इनसे भी पूर्व जीवन के तोन और विभाग हैं, जिन का स्थान अदृश्य लोकों में है। जीवन के व्यक्त होने का क्रम यह है कि पहले वह अदृश्य लोकों से होता हुआ क्रमशः अधिकाधिक स्थूल होता जाता है; और खनिज अवस्था में पहुंचने पर वह अपनी स्थूलतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसके बाद विकास का क्रम आरम्भ होता है; और जीवन खनिज अवस्था से विकास पाकर बनस्पति अवस्था में पहुँचता है और बनस्पति से विकास पाकर पशु श्रेणी में दाखिल होता है। इस प्रकार की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पहुंचने में जीवन को प्रायः एक मन्वन्तर समय लगता है। हम आगे देखेंगे कि एक २ मन्वन्तर कई लाख वर्षों का होता है। प्रत्येक श्रेणी के भिन्न २ विभागों में बार २ उसे जन्म लेना तथा मरना पड़ता है, और जब उस श्रेणी के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले सभी अनुभवों को वह भली भांति हासिल कर लेता है, तो उस श्रेणी को छोड़ उससे ऊपर की श्रेणी में वह प्रवेश करता है। पाशविक योनियों के अनुभव पूर्ण होने पर जीव को मनुष्य योनि में स्थान मिलता है। पर मनुष्य ही विकास की सीढ़ी का अन्तिम पद नहीं है। इससे ऊपर भी अनेक श्रेणी के

महात्माओं की तार लगी है।

प्रत्येक योनि अथवा जीवन के प्रत्येक विभाग में जीव के किसी विशेष अङ्ग का विकास होता है। इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि खनिज बस्तुओं से बनस्पति विभाग में यह अन्तर है कि प्रत्यक्ष रूप से हम खनिज बस्तुओं को बढ़ते नहीं देखते हैं, पर बनस्पतियों को हम जमते, बढ़ते, फूलते, फलते, मुर्झाते और मरते देखते हैं। इस से ऐसा समझना भूल है कि खनिज अवस्था निर्जीव अवस्था है। सूक्ष्म नेत्रों अथवा दिव्य-दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि खनिज वर्ग में भी कोई कण ऐसा नहीं है, जो निर्जीव हो, और चाहे स्थूल चक्षुओं से हम देख सकें अथवा न देख सकें, पर कुछ परिवर्त्तन सभी पदार्थों में सदैव होता रहता है। पशुओं में बनस्पतियों से विशेष अन्तर इस बात का पाया जाता है कि प्रधानतः इन में घूमने फिरने, बोलने चालने, देखने सुनने, खाने पीने, इत्यादि की शक्तियां वर्त्तमान रहती हैं, अर्थात्, इन में इन्द्रिय अथवा वासना शरीर विकसित अवस्था में रहता है। मन अर्थात् विचार का भी कुछ २ अंश किसी २ पशु में पाया जाता है, पर उसका प्रधान विकास मनुष्य में ही होता है। इसलिये मनुष्य और पशु में एक विशेष अन्तर यही है कि मनुष्य में सोचने समझने की शक्ति विकसित है और पशुओं में अभी यह शक्ति गुप्त रूप से छिपी रहती है।

इसलिये मनुष्य अवस्था प्राप्त कर लेने पर साधारणतः मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य योनि में ही होता है, क्योंकि जिस

मनुष्य में मन का कुछ भी अंश विकसित हो जा चुका है, वह जीव दूसरे दर्जों के प्राणिओं के देह में अँट नहीं सकता। अत्यन्त दुर्लभ, असाधारण अवस्थाओं में ही मनुष्य का जीव पशु आदि दूसरी योनियों में गिर सकता है। ऐसी बात तभी हो सकती है कि जब मनुष्य तन धारण करने पर भी जीव मानसिक शक्तियों का नाम मात्र प्रयोग नहीं करे और केवल पाशविक वृत्तियों, पाशविक वासनाओं में ही अपना पूर्ण जीवन बिता दे। आजकल के मनुष्यों के लिये तो यह बात प्रायः असम्भव है। हां, सम्भव है कि जब जीव ने पशु जीवन से मनुष्य योनि में अभी नया २ प्रवेश किया हो, उस समय ऐसा हो सकता हो, पर उस समय भी समय का प्रवाह उसके लिये ऊपर की ही ओर रहता है। इस लिये मनुष्य के जीव का नीचे की योनियों में गिरना प्रायः असम्भव है और यदि पूर्णतया असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुर्लभ अवश्य है।

लोग ऐसा बहुधा इस कारण समझा करते हैं, कि उनका ख्याल है कि मनुष्य योनि अत्यन्त श्रेष्ठ योनि है, इस लिये पापी मनुष्यों को दंड देने का प्राकृतिक रूप से सुगम उपाय यही हो सकता है कि उसके जीव को नीचे की योनियों में गिरा दिया जाय। पर यह भाव ग़लत है। प्रकृति में न तो दण्ड का भाव है और न पक्षपात का। यहां का सारा कार्य तो न्याय तथा धर्म के अनुसार आप से आप चलता रहता है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि मृत्यु के पश्चात् अपने दुर्व्यसनों, दुष्कर्मों तथा सुकृतियों के कारण किस प्रकार मनुष्य भुवर्लोक तथा स्वर्ग

लोक में भांति २ के कष्टों तथा सुखों का अनुभव करता है। उसके बाद जब उसका जन्म होता है, तो पापी मनुष्य का जन्म ऐसे ही कुल, परिवार अर्थात् परिस्थिति में होता है, जहां उसको कठिन यातनाओं का सामना करना पड़ता है; और पुण्यात्मा मनुष्यों का जन्म वैसी ही अच्छी परिस्थितियों में हुआ करता है, जहां उसको और अधिक उन्नति करने में सहायता मिलती है। जो हो, दूसरे जन्म में चाहे अच्छी परिस्थिति मिले अथवा बुरी, पर साधारणतः मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य ही योनि में हुआ करता है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में गीता में भगवान ने प्रसंगानुसार कई स्थानों पर ज़िक्र किया है। कर्मयोग का उपदेश देने के बाद भगवान ने अर्जुन को बतलाया कि 'यह कर्मयोग अत्यन्त प्राचीन योग है। इसको मैंने पहले पहल विवस्वान को सिखलाया। विवस्वान ने मनु को सिखलाया और मनु ने इच्वाकु को सिखलाया।' तो यह सुन कर अर्जुन को सन्देह हुआ कि विवस्वान का जन्म तो भगवान के पूर्व हुआ था, फिर भगवान ने उनको कैसे सिखलाया। इसके उत्तर में भगवान ने कहा :

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥"

—अ० ४, श्लो० ५।

अर्थात, 'हे अर्जुन, हम और तुम अनेक जन्म व्यतीत कर चुके हैं। हे परंतप, मुझे वे सभी स्मरण हैं। पर तुम उनको नहीं जानते।' फिर सातवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में

कहा है :

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'

अर्थात्, 'अनेक जन्मों के अन्त में ही ज्ञानवान पुरुष मुक्ति को पाता है।'

ऐसे ही छठें अध्याय के पैंतालीसवें श्लोक में भगवान ने योगी के सम्बन्ध में कहा है :

'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'

अर्थात् 'अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करते २ अन्त में योगी परम गति को प्राप्त होता है।' पर इन अनेक जन्मों में वह मनुष्य ही रहता है, नीचे की योनियों में नहीं गिरता। इसका पता ऊपर दिये श्लोकों के पहिले कुछ श्लोकों से चलता है, जिन में भगवान ने दिखलाया है कि श्रद्धावान पुरुष जो योग भ्रष्ट भी हो जाता है तो स्वर्गादि पुण्यकृत लोकों में अनन्त काल तक सुख भोगता रहता है और तब फिर किसी पवित्र अच्छे घर में जन्म लेता है। वहां पूर्व जन्म में प्राप्त की हुई सारी शक्तियां उसको पुनः प्राप्त होती हैं और वह पुनः उनके द्वारा सिद्धि अर्थात् पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। कहते हैं :

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्व देहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥'

अर्थात्, 'वहां (अर्थात् दूसरे जन्म में) वह पूर्व जन्म के देह द्वारा प्राप्त गुणों को प्राप्त करता है और, हे कुरुनन्दन, इनकी सहायता से वह फिर सिद्धि प्राप्त करने के लिये पुनः प्रयत्न करता है।' इस से स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि आगे आने वाले

जन्म में पूर्व जन्म की प्राप्त कमाई मनुष्य को मिल जाती है, और जिस स्थान पर पूर्व जन्म में उसने अपने कार्य को अधूरा छोड़ा था, वहां से ही उसको पुनः आगे बढ़ने अर्थात् पुनः प्रयन्त करने का अवसर मिलता है। यदि मनुष्य को पुनः मनुष्य तन ही नहीं मिले, तो ऐसा होना असम्भव हो जाय।

अब पुनर्जन्म की बिधि पर कुछ विचार करना चाहिये। सातवें अध्याय में इस बात का वर्णन किया गया है, कि इस लोक से मृत्यु हो जाने पर किस प्रकार भुवर्लोक तथा स्वर्गलोक से होता हुआ जीव अपने सभी अनुभवों के सार को अपने साथ ले पुनः अरूप मानसिक लोक में अर्थात् अपने असली घर पर वापस जाता है। वही मनुष्य का असली जीव अथवा असली मनुष्य है। वही बार २ आवागमन में लगा रहता है। और यह क्रिया उस समय तक जारी रहती है, जब तक मनुष्य इन नीचे के तीन लोकों को जीत नहीं लेता है।

अस्तु, जब जीव पुनः दूसरी यात्रा के लिये रवाने होता है, तो सब से पहले रूप मानसिक लोक में उतरता है और वहां अपने अनुकूल एक लघु मानसिक शरीर बना लेता है, जिस से वह अपने आप को ढक लेता है और जिसके सहारे वह सोचने विचारने का कार्य करता है। इस शरीर का निर्माण प्राकृतिक रूप से आप से आप होता है। बात यह है कि जिस समय पूर्वजन्म के वासना तथा लघु मानसिक शरीरों का नाश होता है, तो उसी समय उन शरीरों का सार बीज रूप से एक परमाणु द्वारा कारण शरीर में सटा रह जाता है। यह बीज रूप परमाणु

अंकुरित हो कर अपने विशेष गुणों के साथ एक शरीर के रूप में उसी प्रकार बढ़ जाता है, जिस प्रकार इस पृथ्वी में बीज डाल देने पर उससे एक विशेष प्रकार का वृक्ष तैयार हो जाता है।

इसके बाद जीव फिर एक दर्जा और नीचे भुवर्लोक में उतरता है और यहां भी उपरोक्त रीति से अपने लिये एक वासना शरीर बनाता है, जिसके द्वारा वह सुखदुःखादि का अनुभव कर सकता है।

उसके बाद छाया देह का निर्माण होता है, और तब वह जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है, जहां कर्म के संचालन करने वाले देवता उसके माता पिता द्वारा स्थूल शरीर की उत्पत्ति का सामान किये रहते हैं। किस माता पिता द्वारा किस जीव का जन्म होगा, यह पूर्व जन्मों के सरोकारों पर निर्भर है। ख़ैर, अपने कर्मानुकूल परिवार में इस प्रकार उसका जन्म होता है। केवल स्थूल शरीर ही माता पिता द्वारा प्राप्त होता है। और शरीरों को जीव स्वतः अपने स्वभावानुसार तैयार कर अपने साथ लाता है। हां, इन शरीरों के तैयार करने में भिन्न २ श्रेणी के देवता प्राकृतिक रूप से अवश्य कार्य करते हैं। इसी अवतरण की प्रक्रिया को पुनर्जन्म कहते हैं। फिर जीव इस संसार में रह कर अपना कार्य करता है और यहां ठहरने की अवधि समाप्त हो जाने पर वह पिछले अध्याय में वर्णित अवस्थाओं से होता हुआ पुनः अपने घर वापस जाता है। जीव यात्री की यही त्रैलौकिक यात्रा है। इसी को जीव का आवागमन भी कहते हैं।

यहां पर एक प्रश्न यह उठता है कि यदि हम में से प्रत्येक

व्यक्ति अनेक जन्म बिता चुका है, और हम वास्तव में वही जीव हैं, जिसमें सभी जन्मों के अनुभवों का भण्डार जमा है, तो हम को साधारणतः इस बात का ज्ञान क्यों नहीं रहता है? इसका कारण यह है कि हमारे भीतर केवल अमर जीव ही हमारे भिन्न २ जन्मों में सदा एक रूप से वर्त्तमान रहता है, नहीं तो उसके और सभी आवरण बदल जाते हैं। इससे यह भी नहीं समझना चाहिये कि जीव की दशा कभी बदलती ही नहीं है। वास्तव में भिन्न २ जन्मों के अनुभवों द्वारा उसका भी विकास क्रमशः सदा होता रहता है। जिस प्रकार शैशव, कौमार, युवा, आदि अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी शरीर एक ही रहता है, उसी प्रकार उन्नति शील अर्थात् परिवर्त्तन शील होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का एक २ विशेष व्यक्तित्व होता है, जिसे उस का जीव कहते हैं। अस्तु, प्रत्येक बार मृत्यु के बाद स्थूल, छाया, वासना तथा लघु मानसिक शरीरों का नाश हो जाता है। और प्रत्येक बार पुनः जन्म धारण करने के समय नये लघु मानसिक वासना, छाया तथा स्थूल शरीरों को धारण करना पड़ता है। ये नये २ शरीर तो पूर्वजन्म के शरीरों की नाईं उन्नति प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिये जैसे २ इनका विकास होता जाता है, वैसे २ पूर्व जन्म के गुण भी धीरे २ उनमें प्रगट होते जाते हैं।

एक परिवार में चार लड़के पैदा होते हैं। उनको एक प्रकार की परिस्थिति में रखा जाता है। एक प्रकार की शिक्षा भी प्रायः देने की कोशिश की जाती है। फिर भी एक बहुत बड़ा विद्वान निकल जाता है, एक मूर्ख ही रह जाता है, एक

वैज्ञानिक हो जाता है और एक व्यापार में लग जाता है। इन भेदों के आने का कारण यही है, कि उनके भिन्न २ जीवों ने अपने पूर्व जन्मों में भिन्न २ क्षेत्रों में कार्य किया है और भिन्न २ प्रकार की योग्यता प्राप्त की है। इस जन्म में भी प्रत्येक का खिचाव विशेष रूप से अपने ही क्षेत्रों की ओर होता है। इस तरह से पूर्व जन्मों के प्राप्त गुण इस जन्म में भी क्रमशः प्रगट होते हैं। फिर भी इस प्रश्न का पूरा उत्तर नहीं मिलता है कि पूर्व जन्मों का पूरा स्मरण हमें क्यों नहीं होता है? इसका कारण यह है कि जहां तक मनुष्य पूर्व जन्मों में किसी विशेष क्षेत्र में प्रवीणता प्राप्त किये रहता है, उतनी प्रवीणता उस को इस जन्म में सहज में ही आ जाती है। पर उस के आगे बढ़ने के लिये उस को नई कोशिशें करनी पड़ती हैं। पूर्व जन्मों का पूरा २ स्मरण तो तभी सम्भव हो सकता है कि जब जीव के सभी आवरण—अर्थात्, लघु मानसिक, वासना, छाया अथवा स्थूल—जीव के ही रंगों में रंग जायें। अभी तो प्रत्येक का खिचाव भिन्न २ ओर हो रहा है। स्थूल शरीर कुछ और ही चाहता है, वासनायें अपनी ही ओर खींचती हैं और मन अपनी ही ओर खींचता है। ऐसी खींचातानी में पड़ कर बेचारा जीव क्या करे? जिस प्रकार सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरणें पानी पर पड़ने पर पानी की गन्दगी के कारण धुमिल पड़ जाती हैं, और उसकी चंचलता के कारण टुकड़े २ हो जाती है, और सूर्य अथवा चन्द्रमा के पूर्ण स्वरूप को प्रतिबिम्बित नहीं करती हैं, उसी प्रकार ज्योतिर्मय जीव की प्रखर

किरणें उसके कोषों पर पड़ती हैं, पर उसका पूर्ण प्रकाश बाहर प्रगट नहीं होने पाता है, क्योंकि इन शरीरों की अपवित्रता से वे अत्यन्त धुमिल हो जाती हैं और इनकी बे हिसाब चंचलता तथा खिंचाव के कारण टुकड़े २ हो जाती हैं। फिर भी धीरे २ जैसे २ जन्म जन्मान्तरों के अनुभव जमा होते जाते हैं, ये शरीर क्रमशः पवित्र तथा स्थिर होते जाते हैं; और एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब प्रत्येक मनुष्य अपने जीव रूपी असली अमर सत्ता का ज्ञान हासिल कर सकेगा और तब वह अपने सभी पुनर्जन्मों को स्मरण कर सकेगा।

यह कोई असम्भव सदिच्छा ही की बात नहीं है, बल्कि यह एक प्राकृतिक तथ्य है। भगवान का एक वाक्य ऊपर दिया जा चुका है, जहां उन्होंने अर्जुन को बतलाया है कि मैं अपने सभी पूर्व जन्मों को जानता हूं, पर तुम नहीं जानते। इस से भी पता चलता है कि पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों से तो ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं; आजकल भी कहीं २ ऐसे मनुष्य जन्म ले रहे हैं, जिन्हें अपने पूर्व जन्मों की बातें याद हैं। बहुत लोगों ने इन बातों की सत्यता की जांच की है। प्राकृतिक भाव से यह शक्ति साधारण मनुष्य में बहुत ज़माने के बाद ही आ सकती है, क्योंकि प्राकृतिक नियमों धीरे २ अनन्त काल में अपना कार्य करती रहती हैं। पर आज भी उचित प्रक्रिया द्वारा, अर्थात्, योग द्वारा, आपेक्षिक भाव से बहुत कम समय में ही ये शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं। और इस समय भी हमारे

बीच में ऐसे योगी वर्त्तमान हैं, जिन्हें अपने पूर्व जन्मों की बातें स्मरण हैं, अथवा जो दूसरों के पूर्व जन्मों के अनुसन्धान भी कर सकते हैं। थियोसौफ़िकल सोसाइटी की भूत-पूर्व सभा-नेत्री (श्रीमती) डाक्टर एनी बेसेन्ट तथा बिशप सी० डब्ल्यू० लेडबीटर साहेब ने एक वर्ग के मनुष्यों के—जो आज भी प्रायः इस लोक में वर्त्तमान हैं—पूर्व जन्मों का अनुसन्धान किया है। वे प्रधानतः ऐल्शियौनी (Alcyone) अर्थात् मि० जे० कृष्णमूर्त्ति के पूर्व जन्मों का पता लगाना चाहते थे, पर प्रसंग वश भिन्न २ जन्मों के अनेक सरोकारों के कारण साथ ही साथ और लोगों के जन्मों का भी पता लगता गया। इस प्रकार मि० कृष्णमूर्त्ति तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखने वाले लोगों के गत चालीस अथवा पचास जन्मों के हाल दरियाफ़्त किये गये हैं, उनका और वर्णन अत्यन्त संक्षेप में "ऐल्शियौनी के पूर्व जन्म" (Lives of Alcyone) नामक पुस्तक की दो जिल्दों में किया गया है। ऐल्शियौनी केवल एक सांकेतिक नाम है, जो इस अनुसन्धान में पहिचान के लिये मि० कृष्णमूर्त्ति के जीव के लिये दिया गया है, क्योंकि भिन्न २ जन्मों में प्रत्येक जीव के नाम तो भिन्न २ होते हैं, पर जीव एक ही रहता है। और भी अनेक व्यक्ति इस समय में इसी पृथ्वी पर ऐसे वर्त्तमान हैं, जिन्हों ने योग साधन द्वारा ऐसी शक्ति हासिल की है। दूसरे लोग भी जो उतना त्याग अथवा कष्ट उठाने के लिये तैयार हों, इन तथ्यों की स्वतः जांच कर सकते हैं।

मि०सी० जिनराज दास ने "ऐल्शियौनी के पूर्व जन्म" नामक

पुस्तकों में वर्णित अनेक मनुष्यों के पूर्व जन्मों से तथा अन्य स्वतन्त्र अन्वेषणों द्वारा भी पुनर्जन्म के कुछ नियमों का पता लगाया है, जिन्हें संक्षेप से नीचे दिया जाता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि भिन्न २ श्रेणी के मनुष्यों के स्वर्गीय जीवन की अवधि किस प्रकार सौ डेढ़ सौ बर्षों से लेकर साढ़े इक्कीस सौ बर्षों तक की पाई जाती है। सभ्य मनुष्यों के लिये दो भूलौकिक जीवनों के बीच में दो प्रकार के ठहराव का पता चला है। कुछ लोगों के दो जन्मों के बीच में प्रायः बारह सौ बर्षों का समय बितता है, और कुछ लोगों के दो जीवनों के बीचमें प्रायः सात ही सौ वर्षों का समय लगता है। यदि एक ऐसे जंगली असभ्य मनुष्य को और एक ऐसे साधारण मनुष्य को लिया जाय, जिनका जीवन इस लोक में प्रायः ६० बर्षों का रहा हो, तो स्वर्ग लोक में जंगली मनुष्य का जीवन प्रायः दस पांच बर्षों ही में समाप्त हो जायगा, पर साधारण मनुष्य वहां दो तीन सौ बर्षों तक रह सकेगा।

दूसरे, इस तथ्य का पता लगा है कि प्रत्येक मनुष्य का पुनर्जन्म भिन्न २ देशों तथा भिन्न २ धर्मों में हुआ करता है, ताकि वह प्रत्येक की विशेषता ग्रहण कर सके। इस प्रकार एक ही मनुष्य जिसका एक जन्म भारतवर्ष में हुआ था, उसका दूसरा जन्म अरब देश में हुआ, तीसरा पर्शिया में, चौथा ग्रीस अथवा यूनान में और पांचवा जर्मनी में हुआ। इसलिये जीव का किसी विशेष देश अथवा धर्म से कुछ विशेष लगाव नहीं है। जीव तो एक यात्री है, जो हर जगह घूम कर प्रत्येक प्रकार

के अनुभवों को प्राप्त करता है।

तीसरे, इस नियम का पता चला है कि जीव का कोई लिङ्ग नहीं होता है। एक ही जीव किसी जन्म में पुरुष तन धारण करता है और किसी में स्त्री तन धारण करता है। इस से यह नहीं समझना चाहिये कि इस का कोई नियम ही नहीं है। बात असल यह है कि कुछ ऐसे अनुभव हैं, कुछ ऐसी शिक्षायें हैं, जो केवल मनुष्य तन द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं; और कुछ ऐसी हैं, जो केवल स्त्री तन द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। इसलिये जीव के विकास के लिये जो तन अत्यन्त उपयोगी समझा जाता है, उसी के अनुसार उसको पुरुष अथवा स्त्री का तन मिलता है।

एक और अत्यन्त उपयोगी इस तथ्य का पता लगा है कि भिन्न २ जन्मों में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुधा बदला करते हैं। जो दो जीव एक जन्म में पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में पाये जाते हैं, दूसरे किसी जन्म में पिता पुत्र, किसी जन्म में भाई भाई, और किसी में दोस्त दोस्त, इत्यादि, अनेक प्रकार के परिवर्तित सम्बन्धों में पाये जाते हैं।

इन बातों को सुन कर हमलोग बहुधा ऐसा समझा करते हैं कि ये तो प्राचीन बातें हैं और हमारे यहां तो ये बातें प्राचीन काल से जानी जा रही हैं। बहुत हद तक यह बात ठीक है, पर साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इन नये अन्वेषणों से कुछ ऐसी नई बातें हमें मालूम हो रही हैं जिन्हें अपनी अज्ञानता के कारण हम पहिले ठीक से नहीं जानते थे। यदि हम निष्पक्ष भाव से इस बात पर विचार करें और अपने आप से स्वतः

प्रश्न कर उसका उत्तर दें, तो यह बात अवश्य हमें सत्य प्रतीत होने लगेगी। सब से पहले क्या हम साधारणतः समझते थे कि पुनर्जन्म एक प्राकृतिक तथ्य है और वैज्ञानिक तथ्यों की नाईं इस की सत्यता की जांच भी की जा सकती है। क्या हम जानते थे कि मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य ही योनि में होता है? यही एक आविष्कार मनुष्य को कितना भारी साहस दिलाने-वाला है। क्या हम जानते थे कि प्रत्येक मनुष्य को भिन्न २ देशों तथा भिन्न २ जातियों में जन्म लेना पड़ता है? यदि हम जानते होते, तो धार्मिक तथा जातिगत झगड़े उठते ही नहीं। क्या हम जानते थे कि प्रत्येक मनुष्य को कभी पुरुष और कभी स्त्री का तन धारण करना पड़ता है? यदि इसे भी हम जानते होते, तो हमारे देश में स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा नहीं होने पाती।

इस प्रकार सोचने से मालूम होता है कि इन नये आविष्कारों से भी बहुत कुछ नई बातें प्रगट हो रही हैं, जिनका हमें पहिले ज्ञान न था। मान लीजिये कि यह सब ज्ञान पहिले से ही हमारे यहां मौजूद था, तौभी हम ने उससे लाभ क्या उठाया है? पुनर्जन्म तो एक महान्, महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियम है। इसको समझ कर जान लेने से मनुष्य के हाथों में एक अत्यन्त विशाल शक्ति आ जानी चाहिये। क्या पुनर्जन्म के ज्ञान से हम में और लोगों की अपेक्षा विशेष कोई शक्ति मिली है? नहीं। इसका कारण यह है कि हम ने इसके असली तात्पर्य को नहीं समझा है।

हम अभी देख चुके हैं कि पुनर्जन्म का सच्चा ज्ञान होने से

किस प्रकार हमारे दृष्टि कोण में अर्थात् हमारे जीवन में बहुत बड़ा अन्तर आ जा सकता है। धार्मिक झगड़ों का तो प्रायः अन्त ही हो जा सकता है, क्योंकि कोई धर्म एक दूसरे से बड़ा छोटा नहीं है, प्रत्येक का विशेष कार्य है; और उस विशेष गुण को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को सभी धर्मों में एक जन्म अथवा दूसरे जन्म में रहना पड़ता है। वैसे ही भिन्न २ देश वालों को उचित है कि एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से नहीं देखें, क्योंकि जो आज काला भारत वासी है, वह कल गोरा अङ्गरेज हो जा सकता है, और जो आज गोरा अङ्गरेज है, वह कल काला हिन्दुस्तानी हो जा सकता है, इत्यादि। ऐसे ही पुनर्जन्म का यथार्थ ज्ञान होने से भारतवर्ष में छूत और अछूत जातियां न बनने पातीं। कौन कह सकता है कि समय पलटा नहीं खायेगा और आज जिन्हें हम अछूत बना कर घृणित समझ रहे हैं, कल उसी प्रकार हमारे साथ भी घृणा न की जायगी ? कल की बात तो छोड़ दीजिये। आज ही संसार के सामने हमारी क्या दशा है ? हमारे इतना पतित होने, इतना पद्दलित होने का यह भी एक प्रधान कारण है कि अपने ही देश में कई करोड़ मनुष्यों को हमने पद्दलित कर रखा है। खेद की बात है कि अब भी हमारी आंखें नहीं खुलती हैं। ऐसे ही यहां की स्त्रियों की दशा पर गौर कीजिये। यदि पुरुषों को इस बात का दृढ़ ज्ञान होता कि आज की स्त्रियां कल पुरुष बन जा सकती हैं और आज के पुरुष कल अर्थात् दूसरे जन्म में स्त्री रूप में आ सकते हैं, तो हर्गिज़ वे स्त्रियों के साथ ऐसा अत्याचार नहीं करते।

पुनर्जन्म को ठीक से समझ लेने से अन्य प्रकारों से भी लाभ हो सकता है। अभी हम मृत्यु से इतना डरते हैं और सदा इस को अपने से दूर ही रखना चाहते हैं; क्योंकि हमें इस बात का विश्वास नहीं रहता है कि मृत्यु पश्चात् भी हम ज्यों के त्यों रहेंगे, और न हम यही मानते हैं कि मृत्यु का आना जीव के कार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दिन और रात के लगातार एक के बाद दूसरे के आये गये बिना इस संसार का काम नहीं चल सकता। दिन भर मनुष्य परिश्रम करता है; उसको आराम करने के लिये रात का होना आवश्यक है। उसी प्रकार जीव के लिये यदि इस भूलोक का जीवन एक दिन है, तो मृत्यु के पश्चात् की दशा उसके लिये आराम करने तथा शक्तियों के संचय के लिये एक रात है; क्योंकि इसके बाद उसे फिर कर्मक्षेत्र अर्थात् फिर इस भूमि पर उतर कर कार्य करना पड़ता है। इस लिये पुनर्जन्म का पूरा ज्ञान होने से मृत्यु का आगमन दुःख का कारण नहीं, बल्कि, आराम और शक्ति के संचय का समय होने के कारण, खुशी का कारण हो सकता है।

एक बात और यह है कि इसी जीवन को अन्त समझ कर हम कोई काम निश्चिन्त भाव से नहीं कर सकते हैं। पर यदि हमें इस बात का विश्वास हो जाय कि यह जीवन तो जीव के लिये केवल एक दिन के बराबर है, तो समय की कमी का भय एक दम दूर हो जाय और हम अनन्त समय के अधिष्ठाता बन बैठें। जिस प्रकार मनुष्य दिन भर काम करता है, रात को आराम करता है और दूसरे दिन फिर अपने अधूरे काम को

वहीं से आरम्भ करता है, जहां उसने उसे पिछले दिन छोड़ दिया था; उसी प्रकार जीव भी मृत्यु के बाद पुनः जन्म धारण कर के अपना कार्य जारी रखता है। इस भाव के ग्रहण कर लेने से हमारा जीवन अनन्त कालीन हो जायगा और इस कारण अत्यन्त शान्ति और आनन्द के साथ हम अपने कार्यों को कर सकेंगे। इसलिये घबड़ाने और रोने पीटने की कोई बात नहीं है। अनन्त काल हमारे सामने पड़ा है। हमारी शक्ति भी अनन्त है, जिसे एक न एक दिन प्रत्येक व्यक्ति अवश्य अपनायेगा, और व्यवहार में लायेगा। केवल इस ओर विचार ले जाने से ही हृदय में कैसी शान्ति और शक्ति के भाव भर आते हैं! इसी के अनुकूल जीवन बनाने से यह शान्ति और शक्ति न जानें कितनी अधिक बढ़ जायेगी।

नवां अध्याय

कर्म व्यवस्था

हमारे देश में कर्म पर साधारणतः सभी लोग विश्वास किया करते हैं। प्रायः प्रत्येक मनुष्य समझता है कि जो जैसी करनी करता है, वैसा ही उसको फल भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं; पुनर्जन्म में भी व्यापक रूप से विश्वास होने के कारण लोग यह भी समझा करते हैं कि एक जन्म की कमाई का फल मनुष्य को दूसरे जन्म में मिलता है। कर्म तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी ये ज्ञान अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं। यदि कोई मनुष्य इनके यथार्थ तत्त्व को समझ ले, तो अत्यन्त तेजी से वह अपनी उन्नति कर सकता है; और इस प्रकार शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर आवागमन से रहित हो जा सकता है, क्योंकि इन प्राकृतिक तथ्यों के ज्ञान तथा सदुपयोग से मनुष्य की शक्तियां बे हिसाब अधिक बढ़ जाती हैं। पर आज हम किस प्रकार इन का उपयोग कर रहे हैं? जब कभी मनुष्य पर कोई आफ़त आ पड़ती है, कोई बीमारी अथवा कठिनाई आ पड़ती है, तो वह प्रायः इस बात को स्मरण कर किसी भांति अपने चित्त को शान्त्वना दे लेता है, कि उसके पूर्व जन्म की कमाई ही ऐसी थी, उसको इस जन्म में सुविधायें कहां से मिलें। बस्, इतना सोच कर वह चुपचाप बैठ जाता है, प्रायः निकम्मा हो जाता है। इस प्रकार इन नियमों को शक्ति का साधन बनाने के बदले हमने इनको

अकर्मण्यता का बहाना बना लिया है। एक साधारण मनुष्य, जिसे कर्म तथा पुनर्जन्म की बातें कुछ भी नहीं मालूम हैं, वह ऐसा नहीं करता है। उसके सामने तो जब कोई कठिनाइयां आती हैं, तो वह साहस पूर्वक उनका सामना करने का प्रयत्न करता है। वह पुरुषार्थ को ही अपना कर्त्तव्य समझता है। कैसे आश्चर्य की बात है! कहां तो जीवन के गूढ़ रहस्यों के न जानने पर भी पुरुषार्थ और कहां जीवन के सार तत्त्वों के ज्ञान रखने पर भी अकर्मण्यता! ठीक है, महान् नियमों के अर्थ ग़लत रूप से समझने का यही नतीजा होता है। ऐसी ही समझ के सम्बन्ध में गोसाई तुलसीदास जी ने रामायण में एक स्थान पर लिखा है:

"कादर जन कर एक अधारा। राम २ आलसी पुकारा॥"

इससे यह अभिप्राय नहीं निकालना चाहिये कि तुलसीदास ने यहां पर राम नाम की अवहेलना की है। ऐसा कभी हो नहीं सकता है। वह तो राम जी के ही परम भक्त थे। पर यहां पर उन्हों ने यह भाव दिखलाया है कि आलसी अथवा अकर्मण्य लोग किस प्रकार अपनी अकर्मण्यता को राम नाम अर्थात् किसी महान् तत्त्व की आड़ में छिपाना चाहते हैं।

कर्म से अभिप्राय क्या है? साधारणतः जब हम किसी को धनी, किसी को ग़रीब, किसी को भांति २ के ऐश और आराम में और किसी को भूखों मरते, रोगी तथा अन्य प्रकारों में पीड़ित देखा करते हैं, तो कहते हैं कि ये सभी लोग अपने २ पूर्व जन्मों के कर्मों के फल भोग रहे हैं। इस लिये कर्म का

सम्बन्ध किसी न्यायपूर्ण नियम से जान पड़ता है, जो अपना कार्य मनुष्य के अनेक जन्मों में भी पूरा कर लेता है। इस प्रकार पता चलता है कि प्रकृति किसी का पक्षपात नहीं करती। न अपनी ओर से किसी को इनाम देती है और न किसी को दण्ड। अपनी ही करनी प्रत्येक मनुष्य के सामने आती है, और प्रकृति का यह नियम इतना दृढ़ मालूम होता है कि मनुष्य भले ही अपनी कार्रवाइयों को भूल जाय, पर प्रकृति उसे नहीं भूलती और इसलिये कई जन्मों के बाद भी उसका बदला अवश्य चुकाती है।

वास्तव में कर्म का अर्थ है जो किया जाय। अस्तु, जो किया जाता है, उस में प्राकृतिक रूप से भूत, वर्त्तमान और भविष्यत के भाव मिले रहते हैं। किसी भी कार्य को वर्त्तमान समय में करने के हेतु कुछ कारणों का होना अवश्यक है। कोई कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो कार्य अभी किया जाता है, वह भविष्य में होनेवाले किसी कार्य का कारण बनता है। इसलिये कर्म से कार्य कारण का पारस्परिक सम्बन्ध समझा जाता है।

एक उदाहरण से यह भाव अधिक स्पष्ट हो सकेगा। मान लीजिये, किसी आदमी ने एक दूसरे आदमी को एक चपत मारा। इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे आदमी को चोट लगी और कष्ट हुआ। इस कष्ट का कारण हुआ एक मनुष्य का अपने हाथ द्वारा दूसरे मनुष्य को मारना। पर इस प्रकार हाथ के मारने से वास्तव में हुआ क्या? इस छोटे से कार्य द्वारा विश्व

की शक्तियों की समानता में एक उद्विग्न पैदा हो गया। और यह प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक कार्य का उसके समान ही प्रतिकार्य (reaction) भी होता है। इस प्रकार यदि हम पैर से ज़मीन को दबाते हैं, तो ज़मीन भी उतने ही ज़ोर से हमारे पैर को ऊपर उठाती है। इस तरह से प्राकृतिक समता पुनर्स्थापित हो जाती है। यदि ऐसा नहीं होता, यदि हमारे पैर का दबाव ज़मीन पर उस के ऊपर उठाने वाले ज़ोर से अधिक रहता, तो पैर के अधिक दबाव के कारण ज़मीन नीचे की ओर दबती जाती; और यदि कहीं पृथ्वी का ज़ोर पैर पर अधिक होता, तो पैर ऊपर की ओर उठता जाता। पर न ज़मीन को हम नीचे दबते पाते हैं और न पैर को ऊपर उठते। इसलिये दोनों के पारस्परिक दबाव बराबर हैं; अर्थात्, पैर के दबाव से जिस हद तक प्राकृतिक शक्तियों की समानता में भेद पड़ता है, ज़मीन ठीक उतनी ही शक्ति द्वारा पैर को ऊपर उठा कर प्राकृतिक शक्तियों की समानता क़ायम रखती है। इसी को कार्य और प्रतिकार्य का पारस्परिक सम्बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार उस पहले मनुष्य के शरीर ने जो दूसरे मनुष्य को चोट पहुंचाई है, उसके कारण विश्व की शक्तियों की समानता में अन्तर आ गया है। इसलिये प्रकृति उस मनुष्य को भी ठीक उसी परिणाम में किसी न किसी भांति चोट अवश्य पहुंचायेगी, जिस से प्राकृतिक समता पुनः स्थापित हो जा सकेगी।

यह क्रिया आप से आप प्राकृतिक रूप से हुआ करती है। प्रत्येक कार्य के साथ ही उस का प्रतिकार्य भी आप से आप अर्थात्

प्राकृतिक रूप से लगा रहता है। कार्य प्रति-कार्य और कार्य कारण वास्तव में दोनों एक ही वस्तु हैं, केवल शब्दों तथा उनके भावों के प्रगट करने की रीति में अन्तर है। इसी कार्य कारण अथवा कार्य प्रतिकार्य के प्राकृतिक सम्बन्ध को कर्म व्यवस्था कहते हैं। कर्म को यदि कार्य कहें, तो प्रतिकार्य को कर्म फल कहेंगे।

ऊपर दिखलाया गया है कि कर्म का कर्म फल के साथ किस प्रकार अविच्छेदनीय प्राकृतिक सम्बन्ध लगा हुआ है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि प्रत्येक कर्म का फल भी समय में फ़ौरन मिल जाता है। कुछ कर्म्मों के फल तात्कालिक मिलते हैं और कुछ के फल देर से मिलते हैं। कितने ही ऐसे कार्य हैं, जिनके फल इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में मिलते हैं, और कितने तो ऐसे हैं जिनके फल अनेक जन्मों के बाद मिलते हैं, क्योंकि कर्म की व्यवस्था एक अत्यन्त पेचीली व्यवस्था है। एक २ फल की पूर्त्ति के लिये प्रकृति को अनेक प्रकार के साधनों का सामान करना पड़ता है। पर जो हो, चाहे आज हो, अथवा एक हज़ार वा एक लाख वर्षों के बाद हो, अथवा एक कल्प वा अनेक कल्पों के बाद हो, पर प्रत्येक भले बुरे कर्म्मों का फल मनुष्य को भोगना अवश्यम्भावी तथा अनिवार्य है।

इस तथ्य को साधारणतः लोग व्यावहारिक रूप से प्रायः नहीं जानते हैं। इसी लिये वे बहुधा आज के ही मौज में मग्न रहते है। "खाव, पियो, मौज करो", यही उनका सिद्धान्त रहता है। इस प्रकार अपने मौज, अपने सुख के लिये वे कितने को दुःख पहुंचाते हैं, इस पर वे तनिक भी ध्यान नहीं देते। यदि

उनका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया जाय कि ऐसी करनी का बहुत बुरा दुष्परिणाम उन्हें भोगना पड़ेगा, तो वे बहुधा कहा करते हैं: "आज तो चैन से गुज़रती है। आक़बत की ख़बर ख़ोदा जाने।" हां, ख़ोदा अवश्य जानता है। हम भले ही अपने दुष्कर्मों को भूल जायं, पर कर्म छोटे से छोटे अथवा बड़े से बड़े, भले से भले अथवा बुरे से बुरे किसी भी कार्य को नहीं भूलता है और समय पर अपना फल अवश्य भोगाता है। इस लिये यदि इस तथ्य को हम समझ कर ग्रहण करें, तो अनेक बुरे कार्य हम से आप से आप छूट जायेंगे, और इस प्रकार जीवन बहुत सुधर जायगा।

कर्म के बारे में ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इसका सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर ही द्वारा किये हुए कार्यों से है। इस का सम्बन्ध वासना शरीर की वासनाओं तथा मानसिक शरीरों के विचारों से भी है। जिस प्रकार प्रत्येक शरीर का कार्य भिन्न २ लोकों में भिन्न २ प्रकार से होता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर के भिन्न २ कार्यों का फल भी उन्हें पृथक २ मिलता है। इस प्रकार स्थूल शरीर द्वारा किये कार्यों का फल मनुष्य को स्थूल शरीर ही द्वारा भुगतना पड़ता है, वासना शरीर द्वारा किये कार्यों का फल वासना ही शरीर द्वारा भोगना पड़ता है और मानसिक शरीर द्वारा किये कार्यों के फल मानसिक शरीरों को ही भोगना पड़ता है। कितने ही कार्य ऐसे होते हैं जिनमें हम भिन्न २ शरीरों को भिन्न २ भावों से काम में लाते हैं। ऐसी हालत में उनके फल भी भिन्न २ श्रेणी के होते हैं। जैसे, मान लीजिये, एक भिक्षुक

भीख मांगता हुआ इधर आ निकला और एक आदमी ने क्रोध से भर कर केवल उसको टालने के लिये एक पैसा दे दिया। यहां पर पैसा देने वाले ने एक साथ दो प्रकार के कार्य किये हैं: एक तो उसे पैसा दिया और दूसरे उसकी ओर द्वेष तथा क्रोध का भाव संचालित किया। इसका फल इस प्रकार मिलेगा कि पैसा देने के बदले में तो उस मनुष्य को आगे शारीरिक आराम मिलेगा। पर द्वेष और क्रोध के बदले में उस को आगे जाकर शोक का सामना करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य के पास पैसा न हो और वह उस बेचारे भिक्षुक की ओर केवल दया अथवा सदिच्छा का भाव भेजे, तो आगे चलकर उस को शारीरिक सुख तो इसके बदले नहीं मिल सकेगा, पर उसको प्रसन्नता अवश्य प्राप्त होगी।

भिन्न २ शरीरों द्वारा किये गये कार्यों के सम्बन्ध में साधारण नियम ये हैं। इस जन्म में शरीर द्वारा जो अच्छे अथवा बुरे कार्य, अर्थात्, दूसरों की सहायता अथवा कष्ट पहुंचाने के जो कार्य, मनुष्य करता है, उनके फल स्वरूप दूसरे जन्म में उसको वैसा ही सुख अथवा दुःख के साधन मिलते हैं, अर्थात्, उसी के अनुकूल परिस्थिति में उसका जन्म होता है। इस जन्म में अपनी वासनाओं द्वारा जिस हद तक मनुष्य दूसरों की ओर प्रेम और दया तथा द्वेष और क्रोधादि के भावों का संचालन करता है, उसी के अनुकूल दूसरे जन्म में उसकी अच्छी अथवा बुरी वृत्तियां बनती हैं, अर्थात्, वैसी ही भली अथवा बुरी वासनाओं की ओर दूसरे जन्म में उसकी अभिरुचि रहती है।

इसी प्रकार जिस परिणाम में इस जन्म में मनुष्य अपने भले तथा बुरे विचारों को दूसरों की ओर दौड़ाता है, उसी के अनुरूप उसके दूसरे जन्म में उसकी अभिलाषायें तथा उसकी चिन्तायें होती हैं, अर्थात्, उसी के अनुकूल उसको दूसरे जन्म में भले अथवा बुरे अवसर प्राप्त होते हैं।

यहां पर इस बात पर थोड़ा विचार करना चाहिये कि अपनी परिस्थितियों, अभिरुचियों तथा अवसरों की ओर हमारा भाव कैसा होना चाहिये। एक बात तो स्पष्ट है कि ये पूर्व जन्मों की कमाइयों के फल स्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं। हमारे अपने ही किये कर्म इन रूपों में हमारे सामने आ उपस्थित हुए हैं। इनके बदलने का हमें क्या, किसी को अख्तियार नहीं है। कोई साधु, फ़कीर, महात्मा अथवा देवता कर्म की लकीर को नहीं काट सकते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं: "विधि कर लिखा को मेटनिहारा ?" इनसे निपटेरा तो इन्हें भोग लेने ही से हो सकता है। पर किस प्रकार इन्हें भोगना चाहिये, इसी बात पर आगे आने वाले जन्म की परिस्थितियां आदि निर्भर हैं। आगे आने वाली परिस्थितियों को हम इच्छानुसार अवश्य परिवर्त्तन कर सकते हैं, क्योंकि वर्त्तमान हमारे हाथ में है। इस लिये दुःखदायक परिस्थितियों के सामने आने पर रोना पीटना बेकार है। उन्हें सहर्ष स्वीकार कर आनन्द से उन्हें भोग लेना चाहिये। तभी तो प्राकृतिक हिसाब किताब बराबर हो जा सकेगा, और दुःखद परिस्थितियों के दुःख पहुँचाने की शक्ति अन्त हो जा सकेगी। पर यदि ऐसा न करके हम रोने तड़पने तथा अपने भाग्य को दोष

देने लगें, तो ऐसे भावों तथा विचारों द्वारा हम फिर प्राकृतिक शक्तियों की समता दूषित करते हैं, और इसलिये इन नये कार्यों के बदले आगे चल कर हमें और अधिक दुःखों का सामना करना पड़ेगा। जीवन को तो हमें एक पक्के बहादुर खेलाड़ी की भांति लेना चाहिये। जहां हार गये वहां हार मान लेनी चाहिये, जहां जीत गये वहां जीत मान लेनी चाहिये; पर दोनों ही दशाओं में सदा प्रसन्न चित्त रहना चाहिये। ये बातें तो साधारण भाव से मनुष्य के जीवन में आया जाया करती हैं। इस लिये इनकी वजह से चित्त की शान्ति अथवा समता में कभी उद्विग्न उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। यदि पूर्ण न्याय के साथ हमारा पुराना कर्म अपना फल चुका लेने के लिये हमारे सामने आता है, तो हमें रंज अथवा दुःखी क्यों होना चाहिये? वास्तव में यह खुश होने का अवसर है, क्योंकि इसके ज़रिये कम से कम इस हद तक तो अपनी करनी का बोझ हमारे सिर से उतारा जाता है। इस लिये पहिले से प्राप्त सुख दुःखों से ज़रा बिचलित न हो कर उन्हें सहर्ष स्वीकार कर इस जन्म में हम को अच्छा २ कार्य करना चाहिये, क्योंकि उस हालत में हमारा भविष्य अवश्यम्भावी उज्ज्वल हो सकेगा।

वास्तव में प्रत्येक दुःखद परिस्थिति को हमें एक वाञ्छनीय अवसर समझना चाहिये। इसे हम अपनी सच्ची उन्नति का साधन बना सकते हैं। प्रत्येक ऐसी परिस्थिति से हमारे जीवन की किसी विशेष कमज़ोरी का पता चलता है। उसी त्रुटि के कारण ऐसी परिस्थिति का हमारे सामने आना सम्भव हो सका

है। इस लिये यदि इस परिस्थिति के मूल कारण पर हम ग़ौर करें, तो हम को अपनी उस आन्तरिक त्रुटि का अवश्य पता चल जायेगा। और अपनी त्रुटि को जान लेने पर अपने स्वभाव से ही उस त्रुटि को हटाने की हम कोशिश कर सकते हैं। इस प्रकार उस त्रुटि के दूर हो जाने से, उसके ज़रिये से जिस प्रकार की दुःखद परिस्थिति हमारे सामने आ सकती है, भविष्य में उसका पुनः हमारे सामने आना असम्भव हो जा सकता है। इस लिये जीवन सुधार के निमित्त हम अपने प्रत्येक दुःख को एक स्वर्ण अवसर समझ सकते हैं।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं: सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियामान। सञ्चित कर्म जीव के जन्म जन्मान्तर के सभी कर्मों का ख़ज़ाना है। प्रत्येक जन्म में मनुष्य कुछ अच्छे तथा कुछ बुरे कर्मों के फलों को भोगता है, और साथ ही नये २ अच्छे अथवा बुरे कर्मों को भी करता है। उसके ख़ज़ाने से भोगे हुए कर्म तो ख़ारिज हो जाते हैं, पर नये कर्म उसमें जमा होते जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के उसी सञ्चित किये हुए ख़ज़ाने को उसका सञ्चित कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म सञ्चित कर्म का वह भाग है जिसे लेकर मनुष्य एक जन्म में भोगने आता है। और क्रियामान कर्म उसे कहते हैं जिसे मनुष्य इस जन्म में करता है। इसमें से कुछ तो इसी जन्म में भोग लिया जाता है, और जो शेष रह जाता है, वह सञ्चित कर्म में जमा हो जाता है। इसी लिये क्रियामान कर्म को वर्त्तमान अथवा आगामी कर्म भी कहते हैं।

भिन्न २ जन्मों में जमा होते २ प्रत्येक मनुष्य के सञ्चित

कर्म का भण्डार इतना बढ़ जाता है, कि यदि उस मनुष्य पर उन सभी कर्मों के भोगने का भार एक बार छोड़ दिया जाय, तो वह उसको बर्दाश्त नहीं कर सकता; और चूंकि आरम्भ काल में मनुष्य के हिसाब में दुष्कर्मों का ही हिसाब अधिक रहता है, इस लिये इस प्रकार छोड़ देने से वह नीचे की ही ओर गिरता चला जाता और उसका विकास नहीं होने पाता। पर मनुष्य के लिये प्रकृति का तो नियम है कि वह विकास करे। इस लिये कर्म का लेखा रखने तथा उसका आवश्यकतानुसार संचालन करने का भार एक अत्यन्त उच्च श्रेणी के महात्माओं के ज़िम्मे रहता है, जिन्हें लिपिका अथवा कर्माधिकारी देवता (Lords of Karma) कहते हैं। ये प्रत्येक मनुष्य की बर्दाशस्त करने की शक्ति और उसके विकास की आवश्यकताओं को भली भांति जानते हैं। उन्हीं के अनुकूल मनुष्य के जन्म लेते समय उसके साथ सञ्चित कर्म का उतना ही भाग ये उसके प्रारब्ध में देते हैं, जिसको वह भोगने की शक्ति रखता है, और साथ ही ऐसी परिस्थितिओं तथा ऐसे अवसरों के मध्य उसको भेजते हैं, जहां उसका उत्तमोत्तम विकास हो सकता है।

इस प्रकार प्रत्येक बार जन्म लेते समय नये प्रारब्ध कर्म में भले तथा बुरे कर्मों का नवीन सम्मिश्रण इस हिसाब से किया जाता है, कि जिस से मनुष्य विकास क्रम की सींढ़ी पर अपनी वर्त्तमान अवस्था से—चाहे वह किसी भी श्रेणी की क्यों न हो—क्रम से कम एक क़दम और आगे बढ़ सके। इसमें अन्याय अथवा पक्ष-पात का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपने सभी कर्मों

का पूरा २ फल अवश्य भोगना पड़ता है। पर कौन कर्म उसे कब भोगने के लिये दिया जाय, इस बात के निर्णय करने में उसके क्रमशः विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता है। इस लिये इसको पूर्ण न्याय के साथ २ दैवी दयालुता का शुभ संयोग कहना चाहिये। यह संयोग भी एक प्राकृतिक नियम के ही अनुकूल होता है। इस पूर्ण न्याय तथा परम दया के राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति करते जाना स्वाभाविक ही नहीं, वरन् अनिवार्य भी है। इस तथ्य को हम अपने व्यावहारिक अनुभव में देख नहीं पाते हैं। इसका कारण केवल यही है कि मनुष्य के वास्तविक जीवन का बहुत ही छोटा हिस्सा हमें साधारणतः दृष्टिगोचर होता है। पर हमारी अज्ञानता से किसी प्राकृतिक नियम की सत्यता में कुछ अन्तर नहीं पड़ सकता।

खेद की बात है कि अपनी परिस्थितियों तथा अवसरों के इन रहस्यों को नहीं जान कर हम उलटे अपने भाग्य को ही कोसा करते हैं। हम को स्मरण रखना चाहिये कि बहुत बड़े ज्ञानी महात्माओं ने हमारे जीव के विकास हेतु हमें वर्त्तमान परिस्थिति में भेजा है। इसलिये वहां सहर्ष रह कर हमें उन पाठों को सीखने की कोशिश करनी चाहिये, जिन्हें हम वहां सीख सकते हैं। जिस अवस्था में हम हैं, हमारे विकास के लिये उस परिस्थिति से बढ़ कर दूसरी कोई भी परिस्थिति अधिक अच्छी नहीं हो सकती है। यदि हमें ऐसा ज्ञान हो जाय, तो हम अपने पारिवारिक तथा अन्य प्रकार के झंझटों का सहर्ष सामना करके उन से जीवन के रहस्यों का कुछ पाठ सीखना

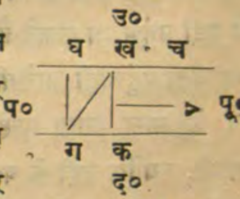
अपना परम कर्त्तव्य समझने लगेंगे। सांसारिक उलझनों को इस भाव से लेने से ही उनकी बहुत कुछ तलख़ी दूर हो जाती है; बल्कि उनकी तलख़ी में भी एक प्रकार के अत्यन्त हितकर मिठास का मज़ा मिलने लगता है।

हम बहुधा ऐसा सोचा करते हैं, कि यदि हमारी परिस्थिति दूसरे प्रकार की होती, यदि अमुक कठिनाइयां हमारे सामने नहीं होतीं, तो हम संसार में बहुत कुछ कार्य कर लेते। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हमारी परिस्थिति उन्हीं गुणों के अनुकूल होती, जिन्हें हम सीख चुके हैं, तो उन गुणों अथवा योग्यताओं को व्यवहार में लाकर हम बहुत कुछ कार्य संसार में कर लेते। पर हम भूल जाते हैं कि प्रकृति का यह अभिप्राय नहीं है। प्रकृति हम को एक ही गुण अथवा योग्यता में प्रवीण बना कर एकाङ्गी नहीं बनाना चाहती है। विकास का लक्ष्य है कि हमारी सर्वाङ्ग उन्नति क्रमशः होनी चाहिये। इसलिये अक्सर हम को ऐसी ही परिस्थिति में रखा जाता है जहां हम अपने स्वभाव की त्रुटियों को पूरा कर सकते हों। ऐसी दशा में अपनी परिस्थितियों से भागना, अपने आप को जीवन के आवश्यक पाठों को सीखने से बंचित रखना है।

कठिनाइयों अथवा दुःखों के सामने आ जाने पर केवल कर्म को दोष देकर कपाल ठोंक कर हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रह जाना चाहिये। कर्म का नियम हम को अकर्मण्यता नहीं सिखलाता है; बल्कि दुःखों को सहर्ष स्वीकार कर कठिन परिस्थिति में भी बहादुरों की तरह निश्चिन्त रह कर आगे अपना

कार्य करने को सिखलाता है, क्योंकि भगवान ने मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दी है और इस शक्ति का सदुपयोग कर के परिस्थितियों के दबाव को हटाता हुआ वह जो चाहे सो कर सकता है। यहां पर भाग्य और पुरुषार्थ की बात आ जाती है। इनके पारस्परिक सन्बन्ध को हम बहुधा ठीक से नहीं समझते हैं। यह तथ्य सुगमता से समझ में नहीं आता है कि भाग्य का भोग तो किंचित मात्र नहीं मिट सकता और साथ ही मनुष्य जो चाहे सो कर भी सकता है। साधारणत: ये दोनों बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं। पर वास्तव में ये विरोधी नहीं हैं।

बात असल यह है कि जब किसी वस्तु में एक ही स्थान पर दो शक्तियां दो भिन्न २ दिशाओं से एक साथ कार्य करने लगती हैं, तो उस वस्तु की गति न तो पहिली शक्ति की ओर होती है और न दूसरी शक्ति की ओर, बल्कि उसकी गति दोनों के बीच की किसी दिशा में होती है। एक उदाहरण लेने से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। किसी नदी के किनारे चले जाइये और तैरने वालों तथा नाव खेने वालों का तमाशा देखिये। मान लीजिये नदी पश्चिम से पूरब की ओर बहती जा रही है और एक मनुष्य दक्षिण किनारे के क बिन्दु के ठीक सामने उत्तर



ख बिन्दु पर दूसरे किनारे जाना चाहता है। यदि यह क के पास नदी में उतर कर सीधे दूसरे किनारे की ओर तैरना शुरू करे, तो वह इच्छित स्थान पर नहीं पहुंच सकेगा। कारण यह है कि वह

तो ख़ुद सीधे उत्तर की ओर जाने की कोशिश करेगा, पर साथ ही नदी की धारा उसको पूरब की ओर बहाये लिये चली जायगी। इसलिये दूसरे किनारे पर वह ख के पास न निकल कर कहीं उस से पूरब च स्थान पर निकलेगा। इसलिये साधारणतः आसानी से दूसरे किनारे पर ख के पास निकलने के लिये लोग क के पास से तैरना शुरू न कर के, क से कुछ पश्चिम किसी ग स्थान से शुरू करते हैं। ग से आरम्भ कर के यदि वे सीधे उत्तर ओर जायं, तो घ के पास न निकल कर ख के पास निकल सकेंगे। अथवा यदि क से तैरना आरम्भ करें और ठीक ख के पास दूसरे किनारे पर जाना चाहें, तो उनको उत्तर की ओर मुख कर के नहीं तैरना होगा, बल्कि पश्चिम-उत्तर की दिशा में मुख कर के तैरना होगा; तब शायद वे ख के पास निकल सकेंगे।

कहां से आरम्भ कर के कितना ज़ोर लगा कर उन को तैरना होगा, यह धारे के बहाव के ज़ोर पर निर्भर है। यदि ग से आरम्भ कर के ख के पास पहुंचना चाहें, तो थोड़े ही परिश्रम में वे वहां पहुंच जा सकते हैं, क्योंकि नदी की धारा भी उनको कुछ सहायता पहुंचाती जायेगी। पर यदि क से ही आरम्भ कर के ख के पास जाना चाहें, तो उनको बहुत अधिक शक्ति लगानी पड़ेगी, क्योंकि नदी के बहाव के प्रभाव का मुक़ाबिला करते हुए उन्हें आगे बढ़ना पड़ेगा।

इस उदाहरण से साफ़ २ मालूम होता है कि न तो नदी के बहाव की शक्ति अपना कार्य कहीं छोड़ती है और न मनुष्य के

तैराव की शक्ति कहीं अपना कार्य छोड़ती है। दोनों स्वतन्त्र भाव से कार्य करती हैं। पर उन दोनों के मेल से जो गति तथा दिशा निर्धारित होती है, उसी संयुक्त (resultant) शक्ति का प्रभाव उस मनुष्य के स्थानान्तर पर पड़ता है। विज्ञान का यह एक साधारण नियम है और विज्ञान जानने वाले इसे बहुत आसानी से समझ ले सकते हैं। इस वैज्ञानिक नियम को किसी प्रकार की दो शक्तियों के पारस्परिक कार्यों का नतीजा निकालने के लिये लगा सकते हैं।

ठीक यही हाल भाग्य और पुरुषार्थ का है। भाग्य की शक्ति के साथ पुरुषार्थ की शक्ति को लगा देने से भाग्य के दुष्परिणामों को बहुत हद तक बदल दिया जा सकता है; बहुत हद तक क्या, उसके रुख़ को एकदम पलट भी दिया जा सकता है। मान लीजिये हमारे भाग्य में दो सौ रुपये के ऋण का दुष्परिणाम लिखा है। वैसी हालत में साधारण भाव से रहने से किसी न किसी भांति हम को दो सौ रुपयों का ऋण हो जायगा और उस का दुष्परिणाम भी हमको भुगतना पड़ेगा। पर यदि साहसपूर्वक रुपया कमाने पर हम कमर बांध लें, तो आरम्भ में तो हम को कुछ प्राप्ति होती नहीं दीख पड़ेगी, क्योंकि जितनी शक्ति हम लगाते जायेंगे, उतनी आने वाले दो सौ रुपये के ऋण के दुष्परिणाम का मुक़ाबिला करने में कटती जायेगी। इस प्रकार जितनी शक्ति लगाने से कोई ऋण से रहित मनुष्य दो सौ रुपयों को हाथ में कर ले सकता है, उतना ही, अर्थात् दो सौ रुपये, हाथ में करने के लिये हम को चार सौ रुपये कमाने तक की

शक्ति लगानी पड़ेगी। तब कहीं हम को चार सौ नहीं, लेकिन केवल दो सौ रुपये प्राप्त हो सकेंगे। कर्म के ही नियम हम को सिखलाते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। इस प्रकार साधारणतः कर्म की लीक टूटती हुई दीख पड़ती है, क्योंकि दो सौ रुपयों के ऋण के स्थान पर हम को दो सौ रुपयों की प्राप्ति हो जाती है। लेकिन ग़ौर करने से मालूम होगा कि इस में कर्म की लीक नहीं टूटती है, बल्कि इस उदाहरण से भी कर्म का ही अटूट नियम स्थापित होता है। कर्म ने इन दो सौ रुपयों की प्राप्ति में ही अपना पुराना बदला सधा लिया है। अगर नहीं सधाया होता, तो हम को दो सौ नहीं, बल्कि चार सौ रुपये मिले होते। इस उदाहरण से मालूम होगा कि पुरुषार्थ द्वारा भाग्य की शक्ति का नाश तो नहीं किया जा सकता है, पर उसका प्रभाव कम कर दिया जा सकता है, यहां तक कि पलट भी दिया जा सकता है।

कर्म के नियमों का पूरा ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। ग़ौर कीजिये एक एक जन्म में मनुष्य कितने हज़ार आदमियों तथा अन्य प्राणियों के साथ कितने प्रकार के भले बुरे कार्य करता है। इन सभों का लेखा रखना, सभों के प्रभावों से सञ्चित कर्मों में से जितने कट जाते हैं, उन्हें काट कर शेष में से प्रत्येक जन्म का प्रारब्ध कर्म निर्धारित करना, उस प्रारब्ध कर्म के भोग के लिये जन्म जन्मान्तर के सम्बन्धों से निकाल कर माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुरुष, मित्र, शत्रु, आदि के सम्बन्धों को मिला कर जीव की आवश्यकताओं को पूरा होने के अनुकूल देश, प्रान्त, स्थान, धर्म, परिस्थिति, अवसर आदि

का हिसाब ठीक करना, कितना कठिन काम है। सो भी एक आदमी के लिये नहीं, बल्कि सभी प्राणियों के लिये; और तिस पर भी तुर्रा यह कि कर्म के नियमों के संचालन में किंचित मात्र भूल न हो सके; और प्रत्येक व्यक्ति को छोटे से छोटे काम का भी पूरा बदला मिल सके—इन बातों पर विचार करने ही से दिमाग़ में चक्कर आने लगता है। पर कर्माधिकारी देवता निश्चिन्त बैठे इन कठिन कार्यों को सुचारु रूप से चलाते रहते हैं। कितना बड़ा उनका ज्ञान है! कैसा भगवान का प्राकृतिक नियम है कि किसी के सम्बन्ध में कदापि अन्याय नहीं होने पाता!

इस से जान पड़ेगा कि कर्म के मर्म को जानना कितना कठिन है। पर कर्म के नियमों का साधारण ज्ञान होने से भी हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। इस के सहारे हम अपने आप को कुछ हद तक पहिचान सकते हैं। अपनी परिस्थितियों, अपनी अभिरुचियों तथा अपने सामने आने वाले अवसरों से हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि पूर्व जन्म में हमारा जीवन कैसा रहा है, पूर्व जन्म में हमने विशेषत: क्या २ अच्छे अथवा क्या २ बुरे काम किये हैं। इन को समझ कर अपने कर्मों के परिणामों को हम सहर्ष भोग सकते हैं, जिससे दु:खों तथा कठिनाइयों के कांटे दूर हो जाते हैं, जिस से प्रत्येक दु:ख ईश्वर का आशीर्वाद स्वरूप प्रगट होने लगता है; और समझदार मनुष्य अपने भाग्य को कोसने के बदले कर्माधिकारी देवताओं को हार्दिक धन्यवाद देने लगता है क्योंकि उन्होंने उस दु:ख

को इस जीवन में भोगने के लिये दे कर उसको पूर्व जन्मों के एक ऋण से तो मुक्त किया। साथ ही आगे के लिये अपने जीवन को जैसा उज्ज्वल हम चाहें बना सकते हैं। कर्म के नियम हम को यही सिखलाते हैं, कि बाहर से कोई वस्तु—सुख अथवा दुःख—किसी के पास नहीं आती है। अपने ही कर्म अपने सामने आते हैं। यदि प्राचीन काल के कर्म आज हमारे सामने आ रहे हैं, तो आज के कर्म कल हमारे सामने आयेंगे। आज की परिस्थिति को तो हम बदल नहीं सकते, क्योंकि उनका सम्बन्ध भूत काल से है। पर आने वाली परिस्थितियों को हम अवश्य बदल सकते हैं, क्योंकि उनके स्वरूप का निर्माण वर्त्तमान काल के कार्यों द्वारा ही होता रहता है। यह वर्त्तमान काल हमारे हाथ में है: इसलिये इस को अच्छे २ कामों में लगा कर जैसा हम चाहें वैसे भविष्य का निर्माण हम कर सकते हैं।

कर्म तथा पुनर्जन्म के ज्ञानी पुरुष अपने सामने आने वाले वाक़ेयात की ओर कैसा भाव रखते हैं, यह एक कथा द्वारा स्पष्ट रूप से प्रगट होता है। एक बार बुद्ध भगवान कहीं बैठे थे। कहीं से घूमता फिरता एक आदमी उधर आ निकला और अकारण बुद्ध भगवान को बुरी तरह से गाली गलौज दे कर चला गया। बुद्ध भगवान ने कुछ उत्तर नहीं दिया, केवल मुसकुरा कर चुप रह गये। उस आदमी के चले जाने पर उन के शिष्यों ने विनय पूर्वक भगवान बुद्ध से पूछा कि क्या कारण था कि उस आदमी ने बिना किसी कारण के आप के पास आ कर आप को इस प्रकार गालियां दी और उस की गालियों पर

आप मुसकुराये क्यों ? बुद्ध भगवान ने उत्तर दिया कि बहुत काल बीते एक कल्प में हम और ये दोनों एक स्थान पर पैदा हुए थे। उस समय हमने उसको एक बार योंही बहुत गालियां दी थी। आज इस ने उसका बदला चुका कर हम को उस प्राचीन ऋण से मुक्त कर दिया। हंसने का कारण यह था कि वह इस बात को नहीं जानता था, योंही अनायास क्रोधवश गालियां देता रहा। पर मुझे यह प्राचीन बात याद आ गई और इसलिये हमने उन गालियों को सहर्ष स्वीकार कर कहा कि अच्छा लो बदला सधा लो। इसी कारण मुसकुराहट आ गई थी। वाह ! कर्म का नियम कितना न्याय पूर्ण, कितना पक्का है ! छोटा से छोटा कर्म भी भूल नहीं सकता। कभी न कभी उसका बदला अवश्य चुकाना पड़ता है। पर इसमें निराशा का कोई कारण नहीं है, बल्कि ख़ुश होने का मौक़ा है, क्योंकि जिस प्रकार बुरे कर्मों के कारण हम को कभी न कभी दुःखों को भोगना पड़ता है, उसी प्रकार सुकर्मों में लगे रहने से हम अपना विकास अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक कर सकते हैं। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य अपने भाग्य का स्वतन्त्र विधाता है !

दसवां अध्याय

मनुष्य का त्रैलौकिक जीवन

मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में तीन लोकों का ज़िक्र विशेष प्रकार से आता है। ये तीन लोक हैं—भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक। इन लोकों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्थान आदि के सम्बन्ध में पहिले वर्णन किया जा चुका है। इन लोकों के बारे में विचार करते समय उन बातों को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

इन लोकों से सम्बन्ध स्थापित करने तथा इन में भ्रमण करने के लिये प्रत्येक मनुष्य के भिन्न २ शरीर हैं। स्वर्लोक के दो प्रधान बिभागों के लिये कारण शरीर तथा लघु मानसिक शरीर हैं, भुवर्लोक के लिये वासना शरीर, काम शरीर अथवा काम रूप—काम रूप भी इसे कभी २ कहते हैं—है और भूलोक के दो विशेष बिभागों के लिये लिङ्ग, ईथरिक अथवा छाया शरीर—ये तीनों प्राणमय कोष के ही भिन्न २ नाम हैं—और स्थूल शरीर हैं। साधारणतः कारण शरीर में हम सज्ञान रूप से कार्य नहीं करते। पर और शरीरों के तो हम निरन्तर व्यवहार किया करते हैं। इसलिये मनुष्य का जीवन साधारणतः त्रैलौकिक जीवन कहा जाता है। इस बात को सुन कर बहुधा लोग हंस दिया करते हैं। पर प्राकृतिक लोकों तथा मनुष्य के शरीरों के वर्णन जानने के बाद इस विषय के समझने में कोई दिक्क़त नहीं होनी चाहिये।

इन तीन लोकों के साथ हमारा सम्बन्ध चार भिन्न २ अवस्थाओं में हुआ करता है : साधारण दैनिक जीवन में अर्थात् जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में, मृत्यु पश्चात् और जीवन काल में ही योग बल द्वारा प्राप्त अवस्था में। इन में से प्रत्येक का वर्णन संक्षेप से नीचे किया जायगा।

सब से पहिले हमें स्मरण रखना चाहिये कि साधारण दैनिक जीवन में हम सर्वदा भू, भुवः तथा स्वः, इन तीनों लोकों में कार्य करते रहते हैं। हमारे स्थूल तथा छाया शरीर भूलोक के दो भागों में कार्य करते रहते हैं, वासना शरीर भुवर्लोकमें कार्य करता रहता है और मानसिक शरीर स्वर्लोक में कार्य करता रहता है। यदि हमारे हृदय में कोई कामना, कोई वासना अथवा कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वास्तव में यह कार्य हमारे वासना शरीर द्वारा होता है, और पीछे स्थूल मस्तिष्क द्वारा जाग्रत अवस्था में हम को इसका ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि हम किसी विषय पर विचार करते हैं, तो यह विचारने का कार्य हमारे मानसिक शरीर द्वारा किया जाता है, और तब, बहुत तह दर तह होता हुआ, उस विचार का प्रभाव हमारे स्थूल मस्तिष्क पर पड़ता है और हमें जाग्रत अवस्था में उसका ज्ञान प्राप्त होता है।

इस भाव को ठीक से समझने के लिये हम को स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक प्रकार के कार्य के लिये प्रकृति ने हमारे भीतर एक २ विशेष अङ्ग की रचना कर रखी है। एक अङ्ग का काम दूसरा अङ्ग नहीं कर सकता। जैसे, देखने का काम केवल आंखों

द्वारा हो सकता है। आंखों को बन्द कर लेने पर हम किसी बस्तु को नाक, कान, जिह्वा अथवा अन्य अङ्गों से नहीं देख सकते। सुनने का काम केवल कान ही कर सकता है। इसी प्रकार अन्य बाह्य स्थूल इन्द्रियां भी स्वतन्त्र रूप से अपना २ विशेष कार्य करती हैं। पर कान के सुनने अथवा आंख के देखने का तात्पर्य सिर्फ यही है, कि शब्दों द्वारा वायु में जो कम्प पैदा होते हैं, कान के पर्दों में ऐसी शक्ति है कि वायु के कणों का उनके साथ स्पर्श होते ही उन में भी कम्प पैदा हो जाते हैं, और उन पर्दों से यह कम्प अनुकूल स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क के केन्द्र में पहुंचाये जाते हैं। बस, कान केवल वायु के कम्पों को ग्रहण कर अनुकूल स्नायुओं में वैसे ही कम्प संचालित कर देने के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं कर सकता है। उसमें समझने की शक्ति नहीं है। उसमें यह भी जानने की शक्ति नहीं है कि ये शब्द सुनने के लिये अच्छे हैं अथवा बुरे। कान केवल टेलीफोन के रिसीवर (receiver) अर्थात् ग्राहक यन्त्र का कार्य करते हैं। इस यन्त्र का केवल यही कार्य है कि टेलीफोन के तार पर जो ख़बरें आती हैं, उन्हें ग्रहण कर उसकी शक्ति को बढ़ा कर वायु में फिर वैसे ही कम्प पैदा कर देता है, जैसा ख़बर भेजनेवाले ने पैदा किया था। इससे बढ़ कर उसका दूसरा कोई कार्य नहीं है। इसी प्रकार आखों का सिर्फ इतना ही काम है, कि बस्तुओं से जो प्रकाश की किरणें ईथर तत्त्व के कम्पों द्वारा चारों ओर फैलती हैं, उन्हें बेतार के यन्त्रों की नाईं ग्रहण करें और आंख से सरोकार रखने वाले स्नायुओं में उनके अनुकूल कम्प पैदा कर दें। इससे

अधिक आंख का कुछ काम नहीं है। कौन वस्तु सोहावनी है, कौन भयावनी, किस को ग्रहण करना चाहिये, किस को नहीं, इत्यादि, बातों का ज्ञान आंख द्वारा नहीं हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार वायु के कम्पों को ग्रहण करने के लिये कान है, ईथर के कम्पों को ग्रहण करने के लिये आंख है, पर उन में ज्ञान शक्ति नहीं है, उसी प्रकार इच्छाओं के उत्पादन तथा ग्रहण के लिये भी हमारे भीतर एक विशेष अङ्ग है, विषयों के बारे में विचार करने के लिये भी हमारे भीतर कोई एक दूसरा ही अङ्ग है। साथ ही हम यह भी समझ सकते हैं, कि जिस प्रकार शब्द—स्थूल शब्द—पदार्थों की एक विशेष अवस्था अर्थात् वायवीय अवस्था द्वारा कानों तक पहुंचाया जाता है, प्रकाश ईथरिक तत्त्वों के माध्यम द्वारा प्रगट होता अथवा कार्य करता है, उसी प्रकार इच्छाओं और विचारों के कार्यों के लिये भी विशेष माध्यमों का होना आवश्यक है। ये माध्यम क्या हैं ? आधुनिक विज्ञान से इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। पर योगी लोग बतलाते हैं कि इच्छाओं का कार्य भुवर्लोक के तत्त्वों द्वारा होता और विचार का कार्य स्वर्लोक अर्थात् मानसिक लोक के तत्त्वों के अत्यन्त सूक्ष्म कम्पों द्वारा होता है।

इसलिये साधारण दैनिक जीवन में अपने भिन्न २ प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अङ्गों द्वारा भिन्न २ अवस्थाओं के तत्त्वों में हम एक साथ कम्प पैदा करते रहते हैं; अर्थात, भिन्न २ लोकों में हम एक साथ जीवन व्यतीत करते रहते हैं। यदि हम एक पुष्प को

देखते हैं और उसे देख कर हमारा चित्त हर्षित हो जाता है, तो फूल के देखने और चित्त में उस के सम्बन्ध में एक सुन्दर भाव के आने में, जिसका ज्ञान हमें जाग्रत अवस्था में प्राप्त रहता है, कुछ बिलम्ब तो नहीं लगता है, फूल को देखते २ उस के अनुकूल भाव हृदय में उत्पन्न हो जाता है, पर वास्तव में स्थूल मस्तिष्क तक इस भाव का ज्ञान पहुंचने के पहिले अनेक प्रकार के प्राकृतिक कार्य हमारे भीतर गुप्त रूप से हो चुके रहते हैं।

देखिये, इस साधारण बात में कितने प्रकार के कार्य होते हैं। उस पुष्प पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है, अर्थात्, ईथर के कण, जो प्रकाश के वाहन हैं, कम्पित हो कर उस पुष्प पर लगते हैं और वहां से टकरा कर अथवा प्रतिबिम्बित हो कर लहरों के रूप में ठीक उसी प्रकार चारों ओर फैल जाते हैं, जिस प्रकार तालाब में ईंट फेंक देने से तरंग पैदा हो कर चारों ओर फैल जाती है। ईथर की कुछ लहरें आंखों की पुतलियों पर टकराती हैं। उनके टकराने से आंख की पुतली में कम्प पैदा होता है। आंख की पुतली से इस के अनुकूल कम्प आंख से सम्बन्ध रखने वाले स्नायुओं में पैदा होता है। स्नायुओं के ज़रिये वह कम्प मस्तिष्क के केन्द्र पर पहुंचता है। इस स्थूल मस्तिष्क से यह कम्प ईथरिक शरीर के मस्तिष्क के केन्द्र में प्रवाहित होता है। ईथरिक तत्त्वों से यह कम्प आगे वासना शरीर तक पहुंचाया जाता है। वासना शरीर के उस के अनुकूल कम्पित होने से उसके अनुकूल भावना उत्पन्न होती हैं। फिर वासना शरीर से लघु मानसिक शरीर में कम्प पैदा होता है, जिस से उस पुष्प के सम्बन्ध में विचार बनते

हैं। वहां से भी आगे बढ़ कर कारण शरीर तक कम्प पहुंचता है और वहां जीव उस पुष्प के भावनाओं तथा विचारों आदि को ले कर उनके सम्बन्ध में निर्णय करता है कि इस पुष्प को चित्ताकर्षक अथवा अन्य प्रकार का समझना चाहिये। पुनः यह निर्णय लघु मानसिक, वासना तथा छाया शरीरों से होता हुआ इस स्थूल मस्तिष्क में अपना प्रभाव प्रगट करता है, और तब जागृत अवस्था में हमें उस पुष्प का ज्ञान होता है और हम यह समझ पाते हैं कि उस की ओर हमारा कैसा भाव होना चाहिये।

इस बात को सुन कर अक्सर दिमाग़ चक्कर में आ जाया करता है, कि इतनी कम देर में इतने प्रकार के परिवर्त्तन भिन्न २ कोषों और भिन्न २ लोकों में कैसे हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि ऊपर के लोकों के तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जैसा पहिले बतलाया जा चुका है; और इस लिये अत्यन्त कम समय में प्राकृतिक रूप से वे अपना कार्य कर लेते हैं। ग़ौर कीजिये, विचार शक्ति किस प्रकार कार्य करती है। क़िसी वस्तु की ओर ख्याल दौड़ाने की देरी रहती है और मन में उसका मानसिक चित्र बनते देर नहीं लगती। मन में क्षण मात्र में अनेक प्रकार के चित्र बनते और बिगड़ते रहते हैं। साधारणतः मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं रहता है। पर मन को एक स्थान पर रोकने की कोशिश कीजिये और अभ्यास के आरम्भ में अवश्य मालूम होगा कि मन कितना चँचल है। क्षण भर में सैकड़ों प्रकार के रूपों को बनाता है और बिगाड़ता है। सूक्ष्म होने के कारण ऊपर के तत्त्वों के कार्य होने में हमें समय लगने का कुछ पता

नहीं चलता। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मन को तो छोड़ ही दीजिये, प्रकाश की ही गति को लीजिये। वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि एक सेकेण्ड में प्रकाश एक लाख छियासी हज़ार मील की दूरी तक पहुँच जाता है। यह गति केवल भूलोक के ईथरिक तत्त्वों की है; फिर भुवर्लोक और स्वर्लोक के तत्त्वों के सम्बन्ध में तो कुछ कहने की बात ही नहीं। इस लिये ऊपर के वर्णनों को सुन कर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि हमारे वासना अथवा मानसिक शरीर तभी कार्य करते हैं, जब स्थूल शरीर की इन्द्रियों द्वारा कुछ प्रभाव उन पर डाला जाता है। जिस प्रकार स्थूल शरीर की इन्द्रियां एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से कार्य करती रहती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के भिन्न २ शरीर भी एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार सम्भव है कि मन कुछ और ही विचारने में लगा हो, वासना शरीर किसी दूसरे ही भाव अथवा वासना में मग्न हो और स्थूल शरीर अथवा इसकी स्थूल इन्द्रियां कुछ और ही कार्यों में लगी हों। वास्तव में मनुष्य के लिये तो असली संग्राम क्षेत्र यही है। उसके प्रत्येक शरीर उसे अपनी २ ओर स्वतन्त्र रूप से खींचते रहते हैं। एक दूसरे के साथ सहयोग कर के काम नहीं करते। उन सभों में मेल जमा कर सभों से एक समय में केवल एक ही काम कराना चाहिये, जो जीव का असली काम है। हम आगे देखेंगे कि यही तो योग साधन का प्रधान अभिप्राय है।

यहां पर एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक

है। वह बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य के प्रत्येक कार्य का—चाहे वह कार्य भूलोक में हो अथवा भुवर्लोक में अथवा स्वर्लोक में—प्रभाव केवल उसी पर नहीं, बल्कि समस्त प्राणियों पर पड़ता है ; और जितने ही सूक्ष्म तत्त्वों द्वारा ये कार्य किये जाते हैं, उतने ही अधिक बढ़े हुए उनके अच्छे अथवा बुरे प्रभाव होते हैं। इस प्रकार हमारे प्रत्येक भाव का तथा हमारे प्रत्येक विचार का भी प्रभाव सभों पर पड़ता है, जो या तो उनको सुखी बनाता है या दुःखी। अपने इस उत्तरदायित्व को हम बहुधा नहीं समझा करते हैं। अक्सर हम सोचते हैं कि इस लोक में केवल हमारे स्थूल कार्यों द्वारा ही दूसरों को सुख अथवा दुःख पहुंच सकता है, हमारी वासनाओं अथवा विचारों द्वारा नहीं। यह भारी भूल है। फ़ारसी में एक मसल मशहूर है : 'अफ़सुर्दा दिल अफ़सुर्दा कुनद् अन्जुमने रा'। इसका भाव यह है कि अगर किसी जल्से में एक उदास आदमी पहुँच जाय, तो वह सारी मजलिस को उदास बना देता है। इसी प्रकार एक प्रसन्न चित्त आदमी भी स्वभावतः दूसरों को आनन्दित किया करता है। इस के लिये कुछ मुख से बोलने अथवा और कुछ करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह तो अपने हृदय से सदा प्रसन्नता के भावों को स्वभावतः प्रगट करता रहता है। भुवर्लोक के तत्त्वों द्वारा ये प्रसन्नता के भाव चारों ओर फैलते रहते हैं, और हमारे वासना शरीरों में आ कर टकराते हैं और वैसे ही भाव आप से आप हमारे भीतर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये ऐसा कहने से काम नहीं चल सकता कि हम दुःखी हैं, हमारे विचार बुरे हैं,

तो इस से दूसरों को क्या ? हम अपनी हानि न कर रहे हैं, दूसरों की नहीं न। वास्तव में हम अपनी हानि के साथ २ सभों की हानि कर रहे हैं, क्योंकि सभों के साथ गुप्त तत्त्वों द्वारा हमारा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध लगा है। इसलिये मनुष्य को अपने इस महान् उत्तरदायित्व को भलीभांति समझ कर इसके अनुकूल अपना जीवन बनाना चाहिये।

अपने विचारों के सम्बन्ध में तो हम और अधिक लापरवाह दीख पड़ते हैं। हम नहीं जानते हैं कि भगवान ने विचार रूपी कितनी प्रबल शक्ति हमारे हाथों में दी है। विचार का इतना प्रबल प्रभाव बतलाया है कि केवल एक विचार से मनुष्य जिसे चाहे जिला सकता है, जिसे चाहे मार सकता है। इतनी प्रबल तो यह शक्ति है; पर जितना दुरुपयोग हम इस शक्ति का करते हैं, उतना शायद ही अपनी और किसी शक्ति का करते हों। अक्सर बैठे २ तरह २ के बुरे विचार हम यों ही निकाला करते हैं; अथवा निन्दा, शिकवा शिकायत में लगे रहते हैं। हमें ज़रा भी ज्ञान नहीं रहता है कि ऐसा करने से हम क्या २ बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। तुलसीदास जी ने रामायण में कहा है :

"पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
नहिं निन्दा समान अघ भाई॥"

वास्तव में निन्दा से बढ़ कर दूसरा कोई पाप नहीं है। एक महात्मा ने कहा है कि यदि संसार से निन्दा उठ जाय, तो संसार का आधे से अधिक दुःख मिट जाय। हम तो प्रायः ऐसा समझा करते हैं कि निन्दा से बढ़ कर दूसरी मीठी बस्तु ही नहीं है। पर

महात्मा लोग समझते हैं कि इस से बढ़ कर दूसरी कोई बुरी वस्तु है ही नहीं। चूंकि यह इतने महत्त्व की चीज़ है और इसका हमारी साधारण विचार शैली से इतना घना सम्बन्ध है, इस लिये इस पर कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है। इससे सम्बन्ध रखने वाले नीचे दिये हुए विचार मि० जे० कृष्णमूर्त्ति द्वारा लिखित एक अङ्गरेज़ी पुस्तक "श्री गुरुदेव चरणेषु" (At the Feet of the Master) से लिये गये हैं।

विचार एक बहुत प्रबल शक्ति है। हम जिस प्रकार का विचार मन में लाते हैं, उस प्रकार के रूप विचार तत्त्व में बन कर वहां के वातावरण में दशों दिशाओं में फैल जाते हैं। यह प्रक्रिया भी उसी प्रकार से होती है, जैसे ईंट फेंकने से तालाब में लहरें पैदा हो जाती हैं, अथवा शब्दों के उच्चारण करने से वायु में तरंगें पैदा हो कर चारों ओर फैल जाती हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं में अन्तर प्रधानतः यह है कि प्रत्येक विचार मानसिक तत्त्वों में विशेष रूप धारण कर इधर उधर तमाम उड़ने लगते हैं, और जहां कोई ऐसा व्यक्ति मिला कि जो उस विचार को ग्रहण कर सकता हो, तो ये उसके मानसिक शरीर में जा लिपटते हैं। इस प्रकार मिलने का नतीजा क्या होता है? यदि वह बुरा विचार है, तो ठीक अपने ही प्रकार का विचार उसके मन में उत्पन्न कराता है; और यदि अच्छा विचार है, तो उसी प्रकार अच्छा विचार उसके मन में भी उत्पन्न कराता है। मनुष्य के भीतर सभी प्रकार के सद्गुणों तथा दुर्गुणों के बीज वर्त्तमान हैं, और इस प्रकार अपने विचारों द्वारा हम उन बीजों को अङ्कुरित

करने में सहायता पहुंचाते हैं। इस लिये अपने विचार के गुणानुसार हम दूसरों को भी अच्छा अथवा बुरा बनाते रहते हैं।

अब देखिये, एक बुरा विचार मन में लाने से उससे क्या २ बुराइयां होती हैं। सब से पहिले तो उसी विचार करने वाले की बुराई होती है, क्योंकि मन में बुरा विचार लाकर अपने को वह बुरा बनाता है। इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य के विचार जैसे होते हैं, वह वैसा ही वास्तव में बन जाता है। भगवान ने गीता में कहा है: "यो यच्छ्रद्धः स एव सः"; अर्थात्, जिस की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है; और हमारी श्रद्धा ठीक वैसी ही होती है, जैसे हमारे विचार होते हैं। हो सकता है विचार के अनुसार गुण के प्रगट होने में कुछ बिलम्ब लगे, पर प्रत्येक विचार गुप्त रूप से हमारे भीतर अपने अनुकूल गुणों को अवश्य जागृत करता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। इस लिये निन्दात्मक विचार करने वाला मनुष्य अपने में भी उस निन्दात्मक अवगुण का बीज अङ्कुरित करता है। यह तो पहली हानि हुई।

फिर देखिये, जिस के बारे में वह सोचता है, उस पर उसके विचार का क्या प्रभाव पड़ता है। उसका विचार रूप धारण कर उसके मानसिक शरीर में जा मिलता है; और यदि उस मनुष्य में वह बुराई मौजूद है, जिसके बारेमें विचार किया गया है, तो यह विचार उस बुराई को और दृढ़ बनाता है। पर अक्सर ऐसा होता है कि वास्तव में उस आदमी में वह बुराई नहीं रहती है; केवल अनुमान द्वारा लोग उसे वैसा बुरा समझते हैं। ऐसी

हालत में यह विचार उसके भीतर उस दुर्गुण के बीज को जाग्रत करने में सहायता पहुंचाता है। इस प्रकार इस विचार से उस दूसरे आदमी को भी हानि पहुंचती है, जिसके बारे में सोचा जाता है।

इसके अलावे एक और तीसरे प्रकार से भी हानि होती है। उस बुरे विचार के अनुकूल विचार-रूप उस विचारने वाले के पास से आरम्भ हो कर मानसिक वातावरण में तमाम फैलने लगते हैं, जिस से प्रत्येक प्रभावशील मनुष्य को हानि पहुंचती है; अर्थात, इस प्रकार संसार के दुःख का भार कुछ और अधिक बढ़ जाता है।

इन विचारों से ज़ाहिर होगा कि किसी के सम्बन्ध में एक बुरा विचार मन में लाने से कितनी हानियां होती हैं; और निन्दात्मक विचारों का तो यह हाल है, कि एक आदमी दूसरे से कहता है, दूसरा तीसरे से, तीसरा चौथे से और इस प्रकार इस का सिलसिला एक दो दिन नहीं, बल्कि महीनों, वर्षों तक जारी रहता है। सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसी हालत में एक निन्दात्मक विचार से संसार में कितनी बुराइयां फैलती हैं और इस से उस असहाय बेचारे की क्या दशा होती होगी, जिसकी ओर रात दिन इतनी दिशाओं से तीक्ष्ण वाणों की नाईं ज़हरीले विचारों की बौछारें होती रहती हैं। इस लिये कभी भी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये। न किसी के सम्बन्ध में कोई निन्दात्मक बात सुननी चाहिये। यदि कोई कहे भी तो विनय पूर्वक वहीं उसको रोक कर कहना चाहिये, कि शायद ये बातें सत्य नहीं हैं; और यदि सत्य हों भी, तौ भी इनका ज़िक्र नहीं ही करना अधिक दयालुता का कार्य है।

इस लिये अपने साधारण दैनिक जीवन में हम को अपने उत्तरदायित्व को भली भांति समझ कर कार्य करना चाहिये। इस अध्याय के इस भाग को जान बूझ कर कुछ बढ़ा कर लिखा गया है, क्योंकि इसी पर ध्यान देने से और सभी दशाओं में हम समुचित रूप से चल सकते हैं। इस जीव के विकास के लिये वास्तव में कार्य क्षेत्र यहीं है। मृत्यु पश्चात् इसे और लोकों में भी विश्राम करने के हेतु जाना पड़ता है, पर फिर अपना कार्य पूरा करने के लिये इस को इसी लोक में उतरना पड़ता है। इस लिये मनुष्य को अपनी जाग्रत अवस्था में अपने कार्यों को भली भांति संभाल कर सावधानी से चलने की कोशिश करनी चाहिये; फिर और अवस्थायें इसी के सहारे आप से आप सुधर जायेंगी।

अब स्वप्नावस्था के रहस्य पर थोड़ा विचार करना चाहिये। सोने और जागने में वास्तव में क्या अन्तर है? क्या कारण है कि मनुष्य सोने पर बाह्य संसार का ज्ञान नहीं रखता? जीव उस समय में किस दशा में रहता है? स्वप्न क्या वस्तु है? साधारणतः स्वप्न को हम कोई असार मायावी वस्तु समझते हैं; फिर भी क्यों कभी २ स्वप्न में मनुष्य ऐसी घटनाओं को देखता है, जिनके बारे में उसने कभी सोचा विचारा नहीं है, पर जो वास्तव में सच्ची निकलती हैं? स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की ऐसी बातें मन में स्वाभाविक रूप से उठती हैं, और यह विषय भी अत्यन्त रोचक तथा उपदेश प्रद है। पर इस छोटी पुस्तक में सिवाय अत्यन्त संक्षेप वर्णन के अधिक नहीं कहा जा सकता। यों तो स्वप्नों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें पाई जाती हैं,

पर हाल में अन्वेषण कर के कई व्यक्तियों ने अपने अनुभवों का वर्णन किया है। खेद है कि ये सभी पुस्तकें अङ्गरेजी भाषा में हैं, शायद अभी तक इनका हिन्दी भाषा में तर्जुमा नहीं हो पाया है।

जाग्रत और स्वप्नावस्था में विशेष अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था में यह स्थूल शरीर लिङ्ग अर्थात् छाया शरीर के साथ ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, पर जीव और शरीरों को साथ ले कर इसमें से बाहर निकल जाता है। उस समय उसका बाहरी शरीर भुवर्लोक के तत्त्व का होता है, और जीव प्रायः उस मनुष्य के स्थूल शरीर के ऊपर भुवर्लोक के वातावरण में उड़ता रहता है। कभी २ जीव स्वप्नावस्था में दूर २ तक भी घूमा करता है, पर साधारणतः सोये हुए स्थूल शरीर के ही आस पास रहता है।

इस तथ्य के जानने से कई प्रश्नों के उत्तर हल हो जाते हैं। इससे मालूम होता है कि क्यों शरीर में प्राण की क्रिया जाग्रत अवस्था की नाईं जारी रहती है। कारण यह है कि प्राण का संचालन छाया शरीर द्वारा होता है और छाया शरीर स्थूल शरीर के साथ ही स्वप्नावस्था में भी लगा रहता हैं, इस लिये प्राण की क्रिया में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। इससे इस बात का भी पता चलता है कि क्यों स्थूल शरीर में बाह्य संसार के ज्ञान रखने की शक्ति नहीं रहती है; क्योंकि ज्ञान तो जीव के इस शरीर में रहने के कारण होता है, पर इस दशा में वह इस शरीर से बाहर रहता है। इस लिये स्वप्नावस्था में बाह्य स्थूल संसार का ज्ञान नहीं हो पाता। फिर भी जीव भुवर्लोक में सज्ञान रूप से विचरता रहता है। वहां भांति २ के अनुभव वह ठीक उसी तरह से प्राप्त करता

रहता है, जैसे बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाग्रत अवस्था में स्थूल जगत का ज्ञान होता रहता है। पर तब प्रश्न यह उठता है कि यदि स्वप्न का सम्बन्ध जीव के सच्चे अनुभवों से है, तो हम को जागने पर उसका उलटा पुलटा ज्ञान क्यों हो जाता है? क्यों हम को जागने पर सभी बातें ज्यों की त्यों याद नहीं रहती हैं?

इसका प्रधान कारण यह है कि, जैसा पहिले कहा जा चुका है, हमारे भिन्न २ शरीरों में पारस्परिक मेल नहीं है। सभी अपनी २ ओर भिन्न २ दिशाओं में खींचा तानी कर रहे हैं। सो जाने पर मनुष्य के स्थूल मस्तिष्क तथा छाया शरीर के मस्तिष्क प्रायः उन्हीं बातों को दुहराया करते हैं, जिनसे जाग्रत अवस्था में उनका सम्बन्ध रहता है। वासना शरीर तथा मानसिक शरीर भी प्रायः उन्हीं दिन भर के अनुभवों को अलग २ अपने स्वेच्छानुसार दुहराया करते हैं, पर उन के अतिरिक्त भुवर्लोक के और भी विशेष अनुभव उन्हें प्राप्त होते हैं। इसी कारण स्वप्नावस्था में मनुष्य अपने प्रायः दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को ही देखा करता है। पर उनका स्पष्ट ज्ञान न होने का कारण यह है कि सभी शरीरों के एक मेल में न रहने के कारण, जब पुनः मनुष्य अपने वासना शरीर के साथ इस स्थूल शरीर में प्रवेश करने लगता है, तो उसके अनुभव उसी प्रकार टुकड़े २ हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा का रूप हिलोरे खाते हुए पानी में पड़ने पर टुकड़े २ हो जाता है। और कभी अगर इत्तफ़ाक़ से जीव का प्रकाश कुछ अपने स्वरूप में इस स्थूल मस्तिष्क में आ सका, तो वह बात सच्ची स्वाभाविक रूप में

निकलती है, और नहीं तो बे-मतलब, बे-सिर पैर की बातें मालूम होती हैं।

भुवर्लोक तथा वासना शरीर की दो और विशेषतायें हैं, जिन की वजह से स्वप्नावस्था की बातें इस प्रकार बे-मेल दीख पड़ती हैं। उनमें से एक बात तो यह है कि भुवर्लोक में गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। उसकी तीव्रता देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो देश और काल का वहां कोई बन्धन ही नहीं है। अभी पटना और अभी कलकत्ता, अभी हिन्दूस्तान तो अभी वेलायत, इस प्रकार भुवर्लोक में क्षण भर में ही अनेक स्थानों के अनुभव एक बार प्रतीत होते हैं। और दूसरी विशेषता भुवर्लौकिक जीवन की यह है कि उसमें वस्तुओंको मनमाने रूप से बढ़ाने तथा घटाने की शक्ति रहती है। इसलिये साधारण ज्ञान में हम जिस वस्तु को जितनी छोटी अथवा जितनी बड़ी जानते हैं, उसको स्वप्नावस्था में हम सैकड़ों गुणा बढ़ाई हुई अथवा सैकड़ों गुणा घटाई हुई भी देखते हैं।

स्वप्न में जो हम अक्सर मरे हुए मनुष्यों से मिलते जुलते अथवा वार्त्तालाप करते हैं, वह तो अत्यन्त स्वाभाविक ही बात है। जितने रिश्तेदार भुवर्लोक में रहते हैं, सोने के बाद उन से मनुष्य का मेल मिलाप तथा बात विचार ठीक उसी प्रकार का होता है, जैसा जाग्रत अवस्था में एक दूसरे के साथ होता है। यह कोई मायावी बात नहीं रहती है, बल्कि उसी हद तक सच्ची रहती है, जिस हद तक हम लोगों का स्थूल संसार में मिलना जुलना, बोलना चालना सत्य है। पर जागते समय ऊपर दिये कारणों से ये

अनुभव प्रायः टुकड़े २ हो बेमतलब के हो जाते हैं और इस लिये हम उन्हें केवल मिथ्या, मायावी समझा करते हैं।

इस प्रकार स्वप्न को कई श्रेणियों में बांट सकते हैं। कुछ स्वप्न स्थूल अथवा छाया शरीर के मस्तिष्क के कम्पों के कारण होते हैं। कभी २ कोई साधारण घटना स्वप्न में एक विशेष नाट्य का रूप धारण कर लेती है, जैसे, देखा गया है कि यदि किसी सोये हुए मनुष्य के सिर पर कोई वस्तु गिरे अथवा उसे ज़रा चोट लगे, तो जागने पर वह साधारण चोट भिन्न २ भयङ्कर रूपों के स्वप्नों में परिणत हो कर प्रगट होता है। अधिकांश स्वप्न तो सोये हुए समय में जीव द्वारा भुवर्लोक में प्राप्त अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं। पर कभी २ जीवात्मा अथवा कोई महात्मा रूप अथवा अरूप मानसिक लोकों से आगे आने-वाली घटनाओं के कोई सम्बाद स्वप्न में मनुष्य के पास भेजते हैं, ताकि मनुष्य पहिले से ही आगे आने वाली मुसीबतों के लिये तैयार हो जाय। पर ऐसा कभी २ ही होता है।

इस प्रकार मालूम होगा कि स्वप्नकाल भी जीव के लिये भुवर्लोक में कार्य का समय है, केवल मायावी रूपों में बिताने का समय नहीं है। इसी लिये यदि हमारे सामने कोई ऐसा प्रश्न आ जाय, जिसका उत्तर हम जाग्रत अवस्था में बहुत सोचने विचारने पर भी नहीं निकाल सकते हैं, और यदि सोने के पूर्व उस प्रश्न को हम स्मरण कर उसी ओर ध्यान रख कर सो जायं, तो ज़्यादेतर सम्भव है कि जागने पर उसका उत्तर आप से आप हम को मिल जायेगा। जो इस रहस्य को जानते

हैं, वे स्वप्नकाल के जीवन से भी वैसा ही लाभ उठाते हैं, जैसा जाग्रत काल के जीवन से उठाते हैं; बल्कि सच्ची बात तो यह है कि जाग्रत काल की अपेक्षा भी उससे अधिक लाभ उठाया जा सकता है। योगी लोग सज्ञान रूप से स्वप्नावस्था में भी विचारते हैं और इस प्रकार जागते सोते हर हालत में वे एक भाव से कार्य करते रहते हैं।

यहांतक मनुष्य के जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के त्रैलौकिक जीवन का साधारण तौर से वर्णन हुआ। मृत्यु के पश्चात् किस प्रकार मनुष्य को भूलोक से भुवर्लोक में और भुवर्लोक से स्वर्लोक में जाना होता है, इसका वर्णन पहिले आ चुका है। पुनर्जन्म पर विचार करते समय यह भी दिखलाया जा चुका है, कि जीव के अरूप स्वर्लोक में पहुंचने पर, जब उसका पुनरागमन होता है, तो किस प्रकार वह अरूप लोक से रूप मानसिक लोक में उतरता है, रूप मानसिक लोक से भुवर्लोक में उतरता है और भुवर्लोक से पुनः स्थूल भूलोक तक पहुंचता है। इस प्रकार जीव को बार २ इन तीन लोकों में भ्रमण करना पड़ता रहता है। इसी को जीव का त्रिलोकी जीवन अथवा आवागमन कहते हैं। इस जन्म मरण के आवागमन से जीव की कैसे रिहाई होती है, इसका वर्णन आगे मिलेगा।

यहां तक यह देखा गया कि जागते सोते, जीते मरते हर काल में मनुष्य के जीवन का सम्बन्ध भू, भुवः तथा स्वः, इन तीन लोकों से कैसे लगा रहता है। इन तीन अवस्थाओं से एक और भिन्न अवस्था भी है, जिसमें मनुष्य इन लोकों का अनुभव

प्राप्त करता है। अब तक लोकों में आवागमन का जो ज़िक्र किया गया है, वह स्वेच्छापूर्वक आवागमन का नहीं है। अपने कर्मों के बन्धन वश उसे भिन्न २ लोकों में आना जाना अथवा उनका अनुभव प्राप्त करना होता है। पर स्वेच्छावश भी सज्ञान भाव से मनुष्य भिन्न २ लोकों में भ्रमण कर सकता है। योगाभ्यास द्वारा मनुष्यों में यह शक्ति आती है। इस शक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य जब चाहे तब अपने स्थूल तथा छाया शरीर को त्याग कर भुवर्लोक, स्वर्लोक, तथा, अत्यन्त उन्नत दशाओं में, और ऊपर के लोकों में भी अपनी इच्छा से अपने सूक्ष्म शरीरों द्वारा जा सकता है और वहां अपना कार्य कर के पुनः सज्ञान भाव से इस लोक में स्थूल शरीर में उतर आ सकता है। पर यह तभी सम्भव होता है, जब मनुष्य को सच्चे सद्गुरु से भेंट होती है, जो उसे आभ्यान्तरिक ग्रन्थियों को खोलने अथवा तोड़ने का उपाय बतलाते हैं। यहां इससे अधिक नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध का कुछ और वर्णन योगाभ्यास तथा गुरुशिष्य प्रणाली पर विचार करते समय मिलेगा।

ग्यारहवां अध्याय

युग धर्म और विकास क्रम

हमारे यहां साधारण भाव से प्रायः सभी मनुष्य जानते हैं, कि जिस प्रकार समय के छोटे २ टुकड़े, जैसे, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु, आदि, अपने २ नियमानुसार बदलते रहते हैं, और उनके साथ २ उनके धर्म अर्थात् उनके विशेष गुण भी बदलते रहते हैं ; उसी प्रकार समय के बड़े २ काल (periods) भी होते हैं, जो अपने नियमानुसार बदलते रहते हैं। ऐसे बड़े २ कालों को युग कहते हैं, और प्रत्येक युग का एक विशेष धर्म होता है। इस हिसाब से वर्त्तमान युग कलियुग है, और कलियुग का वर्णन है कि इस में धर्म का केवल एक पद बंचता रहता है और इसलिये इस युग में सिवाय अनर्थ, अत्याचार, व्यभिचार, दुर्व्यवहार, आदि के कोई अच्छा काम नहीं हो सकता। इस भाव से हमारे देश का जितना सत्यानाश हुआ है, उतना शायद ही और किसी एक भाव से हुआ हो। जब किसी प्रकार की बुराई की बात सामने आती है, तो उसको सुधारने की कोशिश तो दूर रहे, लोग बहुधा यही समझ कर मन को संतोष दे लेते हैं, कि यह तो कलिकाल है। इसमें सिवाय बुराई के भलाई कहां से हो सकती है। बस, ऐसे ही विचारों से वे अपनी सभी बुरी दशाओं के दुष्परिणामों का समाधान कर लेते हैं, और अपनी दशा सुधारने

की ओर किञ्चित मात्र कोशिश नहीं करते ।

क्या युग धर्मों के ज्ञान का यही आशय था ? यहां भी हम देखते हैं, कि महत्त्व-पूर्ण प्राकृतिक नियमों के यथार्थ तत्त्व को ठीक से न समझ कर केवल उनका ऊपरी ज्ञान रखने से किस प्रकार बुरे तौर से उनका दुरुपयोग किया जाता है। जो युग धर्म जीवन पथ पर दृढ़ता पूर्वक बिना भूले भटके चलने में सहायता पहुँचाने के हेतु पथ प्रदर्शक का कार्य करने के लिये प्रगट किया गया था, वह आज हमारी अज्ञानता के कारण हमारी घोर अकर्मण्यता का प्रचण्ड कारण बन रहा है। हम से तो हज़ार दर्जे अच्छे वे लोग हैं, जिन्हें इन युग धर्मों का कुछ भी ज्ञान नहीं है ; क्योंकि वे यदि किसी प्रकार की बुराई अपने में अथवा अपने समाज में देखते हैं, तो फ़ौरन उसको दूर करने के लिये प्रयन्त करने लगते हैं और अन्त में सफलीभूत भी होते हैं। ठीक है, पुरुषार्थ से मनुष्य क्या नहीं कर सकता है ! जिस प्रकार पुरुषार्थ मनुष्य के उत्थान का मार्ग है, उसी प्रकार अकर्मण्यता उसके पतन—घोर पतन—का खुला द्वार है। और हमारे पतन में अब शेष रहा ही क्या है ! भगवान अब भी हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें, कि जिससे हम यह जान सकें, कि हम को इन महान् प्राकृतिक नियमों का ज्ञान इस लिये दिया गया था, कि इनके सहारे हम अपने जीवन को औरों की अपेक्षा अधिक उन्नत बना सकें।

युगों के धर्मों को समझना अत्यन्त कठिन बात है। हम तो अभी आज कल की फ़िक्र में परीशान हो रहे हैं ; फिर हम युगों

की बात कैसे समझ सकते हैं, क्योंकि उन का सम्बन्ध तो लाखों वर्षों से है? कहा जाता है कि युग चार हैं: सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। ये एक के बाद दीगरे आते हैं; और यह भी कहा जाता है कि कलियुग की अवधि समाप्त होने पर पुनः सत्ययुग आरम्भ होता है, और फिर सभी युग क्रमशः बीतते हैं। इस प्रकार यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर सृष्टि आरम्भ होती है और रात होने पर प्रलय होता है; पर ब्रह्मा का जीवन समाप्त होने पर महाप्रलय आता है और सारा विश्व—दृश्य तथा अदृश्य—ईश्वर में विलीन हो जाता है।

अब ज़रा इन युगों के कालों पर विचार करना चाहिये।

कलियुग= ४, ३२, ००० वर्ष
द्वापर युग=८, ६४, ००० "
त्रेता युग=१२, ९६, ००० "
सत्य युग=१७, २८, ००० "
एक दिव्य युग=चारों युग=४३, २०, ००० "
ब्रह्मा का दिन=सौ दिव्य युग=४३, २०, ००,००० वर्ष
ब्रह्मा का वर्ष=ब्रह्मा के ३६० दिन
ब्रह्मा का जीवन काल=ब्रह्मा के १०० वर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन युगों में सब से छोटा कलियुग है, पर उसका भी जीवन काल चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का होता है। धर्म पुस्तकों में इन युगों के धर्मों का वर्णन है और उन्हीं बातों को लेकर बिना समझे बूझे लोग केवल यही कह कर मन को संतोष दे लेते हैं, कि कलियुग में तो धर्म का

केवल एक पद बंचता रहता है ; इस लिये इस समय में अधर्म छोड़ कर धर्म कहां से हो सकता है। ऐसे संकीर्ण विचारों के साथ इन महान् युगों के धर्मों के बारे में बातचीत करनी बहुत बड़ी भूल है। ऐसा करने से हानि के सिवाय कदापि लाभ नहीं हो सकता। उदार तथा संकीर्ण विचारों की गुंजाइश एक साथ एक स्थान पर नहीं हो सकती। उदारता तथा संकीर्णता पारस्परिक बिरोधी भाव हैं।

हम अच्छी तरह से जानते हैं, कि जैसे २ समय बीतता जाता है, समय का धर्म भी बदलता जाता है। लाख वर्षों की तो बात ही छोड़ दीजिये, वह तो बर्त्तमान इतिहास के दायरे से बाहर की बात है। पर संसार का इतिहास देखने से भी मालूम होता है, कि एक हज़ार क्या, एक सौ वर्ष के भीतर भी संसार में घोर परिवर्तन हो जाते हैं। इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि आज से ढाई हज़ार वर्ष पहिले जहां महलें, पाठशालायें, मन्दिरें, आदि, स्थापित थीं, उन स्थानों परआज पचासों, सैकड़ों फ़ीट मिट्टी की तहें जम गई हैं। मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है! फिर यदि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के नाम जपने वाले लोगों से पूछा जाय कि इन युगों के परिवर्तन तो लाखों वर्षों के बाद हुआ करते हैं, हम उनको अभी नहीं समझ सकते हैं; इस लिये हमें कोई यह तो बतलाये कि आज से हज़ार, दो हज़ार, दस हज़ार वर्ष पहिले के कालों के धर्म क्या २ थे, और आज से आगे आने वाले हज़ार, दो हज़ार, दस हज़ार, आदि, वर्षों के बाद वाले

कालों के धर्म क्या २ होंगे, तो इसका उत्तर नहीं मिलता है। साधारण मनुष्यों के बारे में तो कहना ही क्या है, बड़े २ पण्डित भी इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते।

सीधी बात तो यह है, कि अभी हमारे विचार ऐसे संकुचित दायरों में काम कर रहे हैं, कि हमारे लिये इन महान् युगों के धर्मों का जानना प्रायः असम्भव है। हम दिन और रात के गुणों को जानते हैं और उन्हीं के अनुकूल अपना दैनिक जीवन निर्धारित करते हैं। ऋतुओं के गुण भी हमें मालूम हैं। इस लिये इनके अनुकूल भी हम सदा अपना जीवन परिवर्तन करते रहते हैं। किस समय के लिये हमें कैसे भोजन, कैसे वस्त्र की आवश्यकता होगी, उसके लिये वैसे ही वस्त्रादि का प्रबन्ध हम पहिले ही से करके रखते हैं। हम जानते हैं कि किस समय में किस अन्न को बोना चाहिये, कैसे उसको पटाना चाहिये और कब फसल काटनी चाहिये। इस प्रकार समय के भिन्न २ काल के जिन गुणों को हम जानते हैं, उन से हम लाभ उठाते हैं। उन्हीं के अनुसार अपना जीवत बनाते हैं। पर यदि आज कल के मनुष्यों को बतलाया जाय कि सौ वर्षों के बाद कैसा समय आने वाला है, उसके लिये आज से ही हमें किस प्रकार अपने को तैयार करना चाहिये, तो ऐसी बात कुछ थोड़े लोगों को छोड़ कर अधिकांश मनुष्यों को पसन्द नहीं आयेगी। वे बहुधा कहेंगे कि आज ही से सौ वर्ष आगे की बातों को लेकर कौन झखने जाय; जब समय आयेगा तो देखा जायगा। पर जाड़ा आने से पहिले ही प्रायः सभी लोग जाड़े के कपड़ों का सामान कर

लेते हैं और अगर कर नहीं सकते, तो कम से कम उसकी ज़रूरत को अवश्य महसूस करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण साफ़ है कि हमारा विचार अभी वर्ष महीनों के ही भीतर सीमाबद्ध है। इसकी पहुंच सौ वर्ष आगे अथवा सौ वर्ष पीछे की बातों तक नहीं हुई है। इस लिये सौ वर्ष आगे पीछे की बातें हमें सिर्फ निरस मालूम होती हैं। लेकिन सौ वर्ष आगे पीछे की बात कोई करे अथवा न करे, पर लाखों वर्षों के आगे पीछे की बातें प्रत्येक मनुष्य करता है। कलियुग की महिमा का गान कौन नहीं करता है? पर वास्तव में इसको काल अथवा युग धर्म का ज्ञान नहीं कह सकते हैं; यह तो केवल अपनी अकर्मण्यता, अपनी काहिली अथवा आलस्य को छिपाने का एक बहाना मात्र है। हम युग के तत्त्व को तब समझ सकेंगे और अपने जीवन को उसके धर्म के अनुकूल तब बना सकेंगे, जब हम को लाखों वर्षों के आगे पीछे की बातों के समझने की कुछ शक्ति हो जायगी।

गत पचास वर्षों के भीतर महात्माओं ने पुनरावृत्तिक (cyclic) नियमों को भी पहिले से कुछ अधिक स्पष्ट रूप से प्रगट किया है। उसका सारांश यह है कि जब महाप्रलय के बाद सृष्टि का नवनिर्माण होने लगता है, तो चन्द प्राकृतिक नियमों के अनुसार सृष्टि की भिन्न २ अवस्थाओं का निर्माण होता है। यहां पर इस अत्यन्त रहस्य-पूर्ण और कठिन विषय का केवल स्थूल भाव से अत्यन्त संक्षेप में कुछ वर्णन दिया जा सकेगा।

अव्यक्त अवस्था से जब व्यक्त सृष्टि का निर्माण होता है, तो उस की भिन्न २ प्रक्रियायें ईश्वर के सत, चित् और आनन्द

इन तीन स्वरूपों (aspects) द्वारा प्रवाहित शक्तियों द्वारा संचालित होती हैं। इन्हीं तीन स्वरूपों अथवा शक्तियों को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश भी कहते हैं। ईश्वर के सत् स्वरूप अर्थात् ब्रह्मा द्वारा जो महान् शक्ति प्रगट होती है, उसके द्वारा सातों प्राकृतिक लोकों और उनके उपलोकों के तत्त्वों तथा उप-तत्त्वों का निर्माण होता है, जिनका वर्णन पहिले हो चुका है। फिर दूसरी महान् शक्ति का प्रवाह ईश्वर के चित् अर्थात् विष्णु स्वरूप से होता है, और इसके प्रभाव से क्रमशः सातों लोकों तथा उप लोकों में वस्तुओं के भिन्न २ रूपों का निर्माण होता है। इस प्रकार सात प्रकार के जीवन विभाग प्रत्येक लोक में क़ायम होते हैं। इन में से तीन तो अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंके भूत अर्थात् प्राणी बिभागों से सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें थियौसोफी की किताबों में प्रथम भूत विभाग (Elemental Kingdom) द्वितीय भूत विभाग और तृतीय भूत विभाग वा सर्ग कहते हैं। प्रत्येक लोकका चौथा जीवन विभाग खनिज अवस्था का होता है, जिसमें जीवन उस लोक के अत्यन्त स्थूल रूपों में प्रगट होता है। उस के बाद बनस्पति विभाग, पशु विभाग और अन्त में मनुष्य विभाग का स्थान आता है। मनुष्य विभाग पर पहुंचने पर ईश्वर के तीसरे अर्थात् आनन्द अथवा महेश स्वरूप से एक तीसरी महान् शक्ति मिलती है, जो मनुष्य को ऊपर बढ़ कर सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रेरित करती है।

पर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि सृष्टि आरम्भ होते ही सातों लोक एक बार तैयार हो जाते हैं। जीवन तरंग धीरे २

एक लोक से दूसरे लोक में उतरती है ; दूसरे से तीसरे में और तीसरे से चौथे में । चौथा उसके लिये अत्यन्त स्थूल अवस्था होती है । उसके बाद यह तरंग चौथेसे पांचवेंमें नीचे न उतर कर पुनः तीसरे लोकमें फिर जाती है, और तब तीसरे से दूसरेमें और दूसरे से पहले में जाती है । इस प्रकार एक आवृत्ति पूरी हो जाती है । फिर कुछ काल के बाद जब दूसरी बार जीवन तरंग चलती है, तो दूसरे लोक से प्रारम्भ कर के पांचवें तक नीचे उतरती है और फिर अन्त में दूसरे लोक पर ही वापस जाती है । ऐसे ही कई प्रक्रियाओं के बाद सभी लोक तथा उनके प्राणी प्रगट होते हैं ।

इस से ज़ाहिर होगा कि जीवन तरंग की किसी एक आवृत्ति में पहिले ईश्वर का सूक्ष्म तत्त्व धीरे २ अपने को स्वतः बन्धनों में डालता जाता है । इसको अन्तरावतरण (Involution) कहते हैं । सत्यलोकमें न जानें कैसी शक्ति प्रगट होती होगी । पर वही शक्ति जब एक लोक भी नीचे उतर कर तप लोक में पहुंचती है, तो उस पर एक आवरण लग जाता है, जिससे उसका तेज़ कुछ कम हो जाता है । इस प्रकार चौथे लोक में पहुंचते २ पदार्थों में अन्तरावतरण की पराकाष्ठा हो जाती है । उसके बाद फिर क्रमशः विकास आरम्भ होता है ।

पर इस प्रकार के जीवन के अवतरण तथा विकास की भी अनेक श्रेणियां अथवा क्रम हैं । व्यक्त संसार अनन्त ब्रह्माण्डों अर्थात् सूर्यमण्डलों (Solar Systems) से बना हुआ है । प्रत्येक सूर्य मण्डल में दस विकास प्रणालियां (Schemes of Evolution) कार्य करती हैं । प्रत्येक विकास

प्रणाली में सात संसार-मालायें (Chains) होती हैं, जिन में से प्रत्येक का सात संसारों से सम्बन्ध रहता है। ये सातो संसार एक प्राकृतिक लोक में नहीं होते, प्रायः चार लोकों में होते हैं। यहां पर हमें इस बात को ठीक से समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक लोक में अनन्त संसार उस लोक के तत्त्वों अर्थात् द्रव्यों से बने हो सकते हैं। जैसे, हमारी यह पृथ्वी स्थूल भूलोक के तत्त्वों से बनी हुई, एक स्थूल संसार है, वैसे ही अनन्त और स्थूल संसार प्राकृतिक भूलोक में हो सकते हैं। इसी प्रकार भुवर्लोक तथा अन्य लोकों के संसारों को भी समझना चाहिये। ख़ैर, औरों को तो अभी छोड़ दीजिये; जिस विकास प्रणाली से हमारी पृथ्वी का सम्बन्ध है, उस में दो संसार लघु मानसिक लोक में हैं, दो भुवर्लोक में, दो ईथरिक लोक में और सब से स्थूल, यह पृथ्वी, स्थूल भूभाग में है। इन सात संसारों को मिला कर एक संसार माला बनती है।

इस संसार माला में जीवन तरंग पहले रूप मानसिक लोक वाले संसार में आई, वहां से फिर भुवर्लोक के संसार में आई, वहां से ईथरिक लोक वाले संसार में आई और तब वहां से इस पृथ्वी पर आई। एक समय किसी संसार माला में जीवन तरंग एक ही संसार में रहती है। जब इस पृथ्वी पर इस जीवन तरंग का कार्य समाप्त हो जायेगा, तो फिर यह तरंग ईथरिक संसार तथा भुवर्लौकिक संसार होता हुआ, रूप मानसिक संसार में वापस चली जायगी। इस प्रकार एक बार जीवन तरंग का चक्र सातों संसारों पर पूरा हो जायगा। इसको

एक संसार चक्र (Round) कहते हैं। ऐसे सात संसार चक्रों को मिलाकर एक संसार माला होती हैं। यहां पर स्मरण रखना चाहिये कि जीवन तरंग के अवतरण तथा विकास काल में जो एक लोक में दो २ संसार मिलते हैं, वे एक नहीं, बल्कि पृथक् २ दो २ संसार हैं, और दोनों के विकास में बहुत अन्तर रहता है। एक संसार चक्र समाप्त होने पर उस संसार माला के भिन्न २ संसारों पर खण्ड प्रलय होता है, पर उन संसारों का प्रलय नहीं होता है। लेकिन संसार माला की अवधि पूर्ण होने पर उन संसारों के भी नाश हो जाते हैं। और तब एक दूसरी संसार माला का निर्माण होता है, जिस में सभी संसार क्रमानुसार एक लोक नीचे उतर आते हैं, अथवा एक लोक ऊपर उठ जाते हैं।

अब देखिये, एक संसार में जितने समय में जीवन तरंग का कार्य होता है, उसको एक संसार काल (World Period) कहते हैं। अब इसका कुछ अन्दाज़ करना चाहिये कि एक संसार काल कितना बड़ा होता है। प्रत्येक संसार काल में सात मूल जातियां (Root Races) क्रमशः प्रगट होती हैं ; प्रत्येक मूल जाति की सात उपजातियां (Sub Races) होती हैं और प्रत्येक उपजाति की दो २ शाखा जातियां (Branch Races) होती हैं। हमारे संसार में प्रस्तुत मूल जाति आर्य जाति है। इसके पहिले चौथी ऐटलान्टियन (Atlantian) मूल जाति थी, जिसके रहने का प्रधान स्थान उस भूमि पर था जो आज ऐटलान्टिक महासागर (Atlantic Ocean) के नीचे है, और उससे पहिले तीसरी मूल जाति लेम्यूरियन्स् (Lemurians)

की थी, जिन का प्रधान केन्द्र आज पैसिफ़िक महासागर के (Pacific Ocean) के नीचे है।

वर्त्तमान आर्य जाति को अब तक पांच उपजातियां हो चुकी हैं। इसकी पहली उपजाति भारतीय आर्य हैं; दूसरी मिश्र निवासी (Egyptians); तीसरी इरानियन (Eranian) जाति थी, जिसमें आजकल के पारसी शामिल हैं; चौथी सेल्ट लोगों (Celts) की उपजाति थी, जिसमें ग्रीस, फ्रांस, इटली, आदि, के निवासी शामिल हैं; और पांचवीं को अङ्गरेजी में ट्यूटौनिक (Teutonic) जाति कहते हैं, जिनमें डच, जर्मन, अङ्गरेज़, आदि, शामिल हैं। छठीं उपजाति के लोग इस समय संसार में कहीं २ जन्म ले रहे हैं और सातवीं का समय इसके बाद कई हज़ार वर्षों में आयेगा। यहां दूसरी तथा तीसरी उपजातियों से मिश्र तथा ग्रीस आदि के वर्त्तमान निवासियों से अभिप्राय नहीं है, बल्कि वहां के प्राचीन निवासियों से मतलब है, जब अपने २ समय में इस संसार में उन्हीं का बोलवाला था। इससे एक मूल जाति के जीवन काल का कुछ अन्दाज़ मिलेगा। ऐसी सात मूल जातियों के काल क्रमशः समाप्त होने पर एक संसार काल पूरा होता है।

इन पुनरावृत्तिक नियमों को संक्षेपतः इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं: यथा,

१ ब्रह्माण्ड अथवा सूर्य मण्डल =१० विकास प्रणाली
१ विकास प्रणाली ... =७ संसार माला
१ संसार माला ... =७ संसार चक्र
१ संसार चक्र ... =७ संसार काल

१ संसार काल	...	=७ मूल जाति
१ मूल जाति	...	=७ उपजाति
१ उपजाति	...	=२ शाखा जाति

इस हिसाब से हम लोगों का कौन समय अभी गुज़र रहा है? इस पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाले सूर्य मण्डल की जिस विकास प्रणाली में हम हैं, उसमें वर्त्तमान समय उसकी चौथी संसार माला के चौथे संसार चक्र के चौथे संसार काल की पांचवीं मूल जाति की पांचवीं उपजाति का समय है। ऊपर के वर्णन से मालूम होगा कि प्रत्येक आवृत्ति का चौथा स्थान घोर स्थूलता का स्थान होता है। इस लिये हमारे जीवन का घोर स्थूल काल उस समय हुआ होगा, जब चौथी मूल जाति की चौथी उपजाति इस संसार में राज्य करती होगी। वर्त्तमान समय में हम लोग उससे कुछ आगे उन्नति की ओर बढ़े हैं।

साधारण युग विधान में हम एक ही चतुर्थ काल अथवा युग का वर्णन पाते हैं। पर इस वर्णन में तो अनेक चतुर्थ काल से हमारा इस समय भी सम्बन्ध है। कलियुग से किस चौथे काल से विशेष तात्पर्य है, यह अभी ठीक नहीं मालूम होता। हो सकता है आगे चल कर नये अन्वेषणों द्वारा इन दोनों शैलियों का मेल अधिक विस्तार के साथ मिलाया जा सके। जो हो, इससे इतना तो अवश्य मालूम होता है कि प्रत्येक आवृत्ति काल का चौथा स्थान—चाहे वह वृहत् प्रमाण का हो अथवा लघु—हर हालत में चौथा स्थान घोरतम स्थूलता का स्थान है। इसी के मध्य काल से विकास क्रम ऊपर की ओर आरम्भ होता है। पर यह ज्ञान

अकर्मण्यता का पाठ सिखलाने के लिये नहीं है। हां, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके इसके अनुकूल चलना भी अत्यन्त कठिन बात है। प्राचीन ऋषि महात्मा लोग इन भेदों को भली भांति जानते थे। आज कुछ हद तक उन रहस्यों पर से थोड़ा पर्दा हटाया गया है। फिर भी अभी बहुत कुछ भाग गुप्त छिपा हुआ है, जिस के बिना युगों के कालों तथा धर्मों का स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

श्रीमती डा० एनी बेसेन्ट तथा बिशप लेडबीटर ने एक बृहत् पुस्तक इस विषय पर लिखी है, जिसका नाम है "मनुष्य : कहां से, कैसे और किधर ?" (Man : Whence, How and Whither ?)। उसमें उन लोगों ने योग बल द्वारा भिन्न २ लोकों तथा कालों का अनुसन्धान कर के इस बात का वर्णन किया है कि मनुष्य यहां इस पृथ्वी पर कहां से आया, कैसे आया और आगे इसको कहां जाना है। उस पुस्तक में इन भिन्न २ श्रेणी के युगों का कुछ विस्तार पूर्वक वर्णन दिया गया है, और उसमें विशेषतः यह दिखलाया गया है कि आगे जो छठों उपजाति आ रही है, जिसका प्रधान स्थान औस्ट्रेलिया में होगा और जो आज से छ सात सौ वर्षों के बाद अपना कार्य आरम्भ करेगी, उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, धार्मिक, आदि, दशायें कैसी होंगी। अनेक मनुष्य अपने आप को उस समय के कार्य के लिये अभी से तैयार कर रहे हैं। युगों के रहस्यों के जानने का यही अभिप्राय है।

प्राचीन काल में लोग इन युगों के असली तात्पर्य को जानते थे, और सदैव अपने जीवन को इन युगों के धर्मों के अनुकूल

बना कर चलते थे । उसकी नक़ल आज भी हमारे यहां दैनिक पूजा पाठ में बर्त्तमान है । पर असलियत से हम हाथ धो बैठे हैं । पूजा कराते समय सङ्कल्प के जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन मंत्रों का कुछ अंश इस प्रकार है : यथा, "वैवश्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशति कलियुगे कलि प्रथम चरणे यम्बूद्वीपे भारतखण्डे आर्यावर्त्तैकदेशे..." आदि । सङ्कल्प के इस भाग में भिन्न २ युगों के साथ हमारे बर्त्तमान काल का क्या सम्बन्ध है, यह दिखलाया गया है । पर कितने पण्डित इस मन्त्र के यथार्थ तत्त्व को समझते हैं ? क्या वे वास्तव में जानते हैं कि वैवश्वत मनु कौन हैं, जिन के नाम पर बर्त्तमान मन्वन्तर का नाम रखा गया है ? अष्टाविंशति कलियुग क्यों कहा गया है ? यम्बू द्वीप से क्या अभिप्राय है ? इन बातों का अभी वर्णन किये गये आवृत्तिक नियमों से सम्बन्ध है । पर इस रोचक विषय को हमें यहीं छोड़ देना होगा, क्योंकि यह सम्भव नहीं है, कि इस छोटी पुस्तक में ये सारी बातें तूल से दी जा सकें ।

भिन्न २ श्रेणी के युगों के वर्णन, जो ऊपर दिये गये हैं, उन से प्रगट होगा कि चाहे किसी भी श्रेणी के युगों को लिया जाय, उसके प्रथम तीन युगों में पुरुष प्रकृति में अपने को अधिकाधिक छिपाता जाता है । चौथे युग में वह अत्यन्त स्थूलता को प्राप्त होता है और उसके बाद वहीं से ऊपर का उत्थान अर्थात् विकास क्रम आरम्भ होता है । विकास क्रम धीरे धीरे ऊपर की ओर ले जाता है । यही प्राकृतिक नियम है । जहां केवल चार युगों के वर्णन दिये गये हैं, वहां भी यही नियम लागू

होगा। पर इन दोनों प्रणालियों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट रूप से मालूम नहीं होता है। हो सकता है आगे के अन्वेषणों से इन सम्बन्धों पर अधिक प्रकाश पड़ सके।

पर ऐसी बातें हम प्रत्येक आवृत्तिक नियम के सम्बन्ध में देखते हैं। हम यदि लङ्गर को झुलाते हैं, तो वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है, और फिर दूसरे सिरे से पहिले सिरे तक लौट जाता है। दोनों सिरे एक ऊंचाई पर होते हैं, पर मध्यम स्थान सब से नीचे का स्थान होता है। तरंग के इधर उधर आने जाने के रास्ते में दोनों बार यह पड़ता है, पर इस सब से नीचे वाले बिन्दु पर पहुंचने पर फिर लङ्गर सिरे से घूमना शुरू नहीं करता है। चौथे काल की स्थूलता को ध्यान में रखते हुए उसको हमें समय रूपी लङ्गर के तरंग का अन्तिम सब से नीचा ही बिन्दु कहना होगा। पर यहीं से ऊपर का उत्थान आरम्भ होता है और यह उत्थान उसी ऊंचाई तक जाकर रुक जाता है, जिस ऊंचाई से यह तरंग आरम्भ हुआ था। यदि लङ्गर को यों ही हिला कर छोड़ दिया जाय, तो कुछ देर तक हिलते २ वह अन्त में रुक जायगा। पर जिस प्रकार तालाब में तरंग एक स्थान पर पैदा हो कर पानी के सतह को ऊंचा उठाता तथा नीचा दबाता हुआ आगे की ओर बढ़ता जाता है; उसी प्रकार जीवन का तरंग भी भिन्न २ युगों में ऊंचा नीचा होता हुआ सदा आगे की ओर बढ़ता जाता है। हाल में ही युग युगान्तर सम्बन्धी बातें कुछ अंशों में आम तौर से प्रगट की गई हैं। नहीं तो काल ज्ञान अत्यन्त गुप्त भेद है, और ऋषि महात्मा लोग इन भेदों को अधिकारी जिज्ञासुओं अथवा

अभ्यासी शिष्यों को छोड़ कर और किसी को नहीं बतलाते थे। आज भी जितना ज्ञान इस विषय में प्रगट किया गया है, उसका सार अथवा यथार्थ अभिप्राय बिना किसी अनुभवी पुरुष की सहायता के जानना असम्भव है।

जो हो, इन विचारों से हमें इस बात का पता साफ़ २ चलता है, कि समय का प्रवाह जल के तरंगों की नाईं हुआ करता है, और बर्त्तमान युग में हम लोगों अर्थात् मनुष्यों के लिये समय का प्रवाह ऊपर विकास की ही ओर है। विकास का प्राकृतिक नियम भी पहिले उतने स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं था, जैसा आज है। पर धर्म पुस्तकों में सांकेतिक रूप से इसकी ओर भी इशारा किया गया है। इन रहस्यों के गुप्त रखने के सम्बन्ध में हमें हमेशे स्मरण रखना चाहिये कि इन के गुप्त रखने का प्रधान कारण यही है, कि अधिकारी नहीं होने से मनुष्य इन का सदुपयोग कर के लाभ नहीं उठा सकता, बल्कि दुरुपयोग कर के इन से बहुत हानि पहुंचा सकता है, जैसा कि आज कल हम लोग कर रहे हैं। नहीं तो ऐसी कोई बात नहीं है कि ऋषि लोग किसी को कुछ बतलाना ही नहीं चाहते हों। वास्तव में कमी सच्चे सीखने वालों की है, बतलाने वालों की नहीं। महात्मा लोग तो अज्ञान का अन्धकार नाश करने के लिये सदा उत्सुक रहते हैं; पर सीखने वाले बहुत कम निकलते हैं।

ख़ैर, अवतार प्रणाली पर जरा ग़ौर कीजिये। जो प्रधान अवतार आज तक हो चुके हैं, उनका क्रम यह है: मच्छ, कच्छ, बाराह, नृसिंह, बामन, परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध। भगवान

के इस प्रकार मछली और कछुए का अवतार धारण करने की बात सुन कर हम बहुधा हंस दिया करते हैं। पर हंसने की कोई बात नहीं, ग़ौर करने की बात है। सोचने से मालूम होगा कि अवतार के इस क्रम में विकास का सार तत्त्व छिपा है। जीवन के जिस विभाग में जीव रहता है, उसी विभाग के शरीर द्वारा उस की सहायता की जा सकती है। इस अवतार प्रणाली में यह दिखलाया गया है कि जब विश्व में पृथ्वी तत्त्व का उद्भव नहीं हुआ था, संसार केवल जलमय ही था, उस समय से लेकर आज पृथ्वी के उद्भव होने पर मनुष्य अवस्था तक पहुंचते २ जीव को किन २ प्रधान अवस्थाओं से हो कर गुज़रना पड़ा है। ऐसे समय का ख्याल कीजिये कि जब पृथ्वी का नाम मात्र नहीं था। संसार केवल जल-मय था। उस समय जितने जीव उत्पन्न हुए होंगे, वे सभी जल में ही वास करने वाले होंगे। हम लोग भी उस समय जलचरों की ही श्रेणी में होंगे। उस समय जल जन्तुओं की सहायता करने अथवा उनके राह दिखलाने की आवश्यकता को पूरी करने के लिये भगवान को किसी जल जन्तु का ही रूप धर कर आना पड़ा होगा। हम भगवान को आज जल जन्तु के रूप में नहीं देखना चाहते हैं। अगर उनका अवतार हो, तो मनुष्य के ही रूप में हम उन्हें देखना चाहते हैं, क्योंकि हम स्वतः मनुष्य हैं। इसी रूप से हम उनसे अधिक शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जब हम सभी लोग जलचरों की श्रेणी में होंगे, तो उस समय भगवान हमारे हित के लिये भला दूसरा रूप धारण कर क्यों आते? इस लिये भगवान का पहला अवतार मछली

का कहा जाता है।

दूसरा अवतार कछुए का है। कछुआ जल में भी रहता है और थल पर भी रहता है। पर उसका वासस्थान जल के ही समीप रहता है। इसलिये भगवान के कच्छप अवतार का वह समय कहा जा सकता है, जब पृथ्वी का बनना आरम्भ हो गया था, पर जल की ही प्रधानता थी।

तीसरा अवतार बाराह का है, अर्थात्, ऐसे पशु का है, जो जमीन पर ही रहता है, पर जल में भी अच्छी तरह तैर सकता है। उसके वासस्थान के लिये जल का होना आवश्यक नहीं है। इस लिये पहले जलचर जीवों का स्थान आया, दूसरा ऐसे जीवों का जो जल और थल दोनों पर रहते हों, पर जिन में जल में वास की ही प्रधानता हो और तीसरा स्थान ऐसे पशुओं का आया, जो केवल थल पर स्वच्छन्दता पूर्वक रह सकते हों।

इसके बाद चौथा अवतार नृसिंह रूप में हुआ। यह उस समय का पता देता है, कि जब पशु से विकास पा कर जीव का मनुष्य श्रेणी में आना आरम्भ हुआ होगा। ऐसे मनुष्यों में अधिकांश वृत्ति पाशविक होगी, पर मनुष्य का भी कुछ गुण उनमें आया होगा। इसलिये इस अवतार को ऐसा स्वरूप दिया गया है, जिसका आधा शरीर पशु का है और आधा मनुष्य का।

तत्पश्चात् बामन अवतार का स्थान आता है। इससे उस समय का ज्ञात होता है, कि जब जीव पशु-नर अवस्था से विकसित हो कर पूर्ण मनुष्यत्व के दर्जे में आ गया हो, पर

मनुष्यत्व के पूर्ण गुण उस में भलीभांति विकसित नहीं हो पाये हों। इसलिये इस श्रेणी के मनुष्य का बामन अर्थात् नाटे स्वरूप द्वारा वर्णन किया गया है।

फिर परशुराम का अवतार होता है। यह उस समय से सम्बन्ध रखता है, कि जब मानव जाति में राजसिक प्रवृत्ति अत्यन्त विकसित हो गई हो, क्योंकि परशुराम जी मशहूर क्रोधी थे।

इसके बाद रामावतार का स्थान आता है। यह उस समय से सम्बन्ध रखता है, जब मानव जाति सभ्यावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। श्री रामचन्द्र जी का जीवन क्या है, समाज में भिन्न २ मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का आदर्श नमूना है। भाई भाई, पति पत्नी, पिता पुत्र, राजा प्रजा, आदि, में कैसे सम्बन्ध होने चाहिये, इनको भगवान ने अपने जीवन द्वारा प्रदर्शित किया है।

इस के बाद कृष्णावतार आता है। कृष्णावतार की विशेषता है प्रेम। यह मानव जाति की उस अवस्था से सम्बन्ध रखता है, कि जब सामाजिक जीवन के नियमों के पालन करने से आगे बढ़ कर मनुष्य केवल प्रेम का जीवन व्यतीत करता है। सामाजिक जीवन में तो सभ्य मनुष्य एक दूसरे की पारस्परिक सहायता करते हैं। यदि वे किसी को कुछ देते हैं, तो साथ ही बदले में कुछ हासिल भी करने की इच्छा रखते हैं। उसके बाद निवृत्ति अवस्था आती है, जब मनुष्य किसी से कुछ प्राप्ति की आशा नहीं रखता, बल्कि विश्वव्यापी प्रेम से विह्वल हो कर

सब को निःस्वार्थ भाव से जीवन तथा साहाय्य प्रदान करता रहता है।

इस के बाद बुद्धावतार है। यह मानव जाति अथवा मनुष्य की उस अवस्था का परिसूचक है, कि जब मनुष्य निवृत्ति पथ पर आरूढ़ हो कर अपने भीतर वर्त्तमान गुप्त दैवी शक्तियों को विकसित कर मानव पूर्णता को प्राप्त कर मनुष्य की गणना से आगे बढ़ कर महात्माओं की गणना में पहुंचना चाहता है।

इस प्रकार हम देखेंगे, कि इन अवतारों के भीतर कैसा सुन्दर विकास का रहस्य छिपा पड़ा है। पर यह तो अवतार का केवल एक अभिप्राय है। प्रत्येक अवतार का प्रायः तीन प्रकार का अभिप्राय हुआ करता है : सब से पहिले विश्व व्यापक अभिप्राय होता है, जिसे हम क्षुद्र, संकुचित बुद्धि से नहीं समझ सकते, पर भिन्न २ संसारों, तथा लोक लोकान्तरों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा भिन्न २ युगों के तात्पर्य समझने पर ही समझ सकते हैं। दूसरा अभिप्राय मनुष्य मात्र के हित के सम्बन्ध में होता है—सो भी समष्टि रूप से, व्यष्टि रूप से नहीं। और तीसरा अभिप्राय प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखता है। इन तीनों लक्ष्यों को सामने रख कर यदि हम अवतारों के रहस्यों को समझने की कोशिश करें, तो हम को पता चलेगा कि प्राकृतिक विश्व के विकास का क्या नियम है, मानव जाति के विकास का क्या क्रम है और प्रत्येक मनुष्य के विकास के कौन २ दर्जे हैं।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है, कि और प्राणियों की भिन्न २

अवस्थाओं के चाहे जो नियम हों, पर मनुष्य के लिये तो प्राकृतिक नियम विकास ही का है। अवतारों पर विचार करने से भी यही पता चलता है। इसलिये जो मनुष्य अपना स्वाभाविक धर्म विकास न समझ कर और कुछ समझता है, वह बहुत भारी भूल करता है। वह प्राकृतिक नियम के बिरुद्ध जाता है और इस लिये अपनी भी क्षति पहुंचाता है और दूसरों को भी क्षति पहुंचाता है। खेद है कि हमारे यहां जीवन के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण नियमों के भण्डार प्रगट रहने पर भी हम उन से अत्यन्त अनभिज्ञ बने हुए है; बल्कि अज्ञानता के कारण उनका दुरुपयोग कर के हम अपनी और अपने समाज की बहुत बड़ी हानि पहुंचा रहे हैं।

विकास एक प्राकृतिक नियम है। इसका पता व्यापक भाव से मनुष्यों को वर्त्तमान काल में ही चला है। और समयों में भी ख़ास २ लोग इसे जानते थे, पर आज तो इस का व्यापक प्रचार हो गया है। विज्ञान ने भी स्थूल द्रव्यों के सम्बन्ध में इस नियम को ढूंढ़ निकाला है। धार्मिक अन्वेषण करने वाले योगियों ने भी जीवन के प्रत्येक विभाग में इसे लागू पाया है; और मनुष्य के लिये तो यह नियम विशेष रूप से लागू है। इस लिये विकास के प्राकृतिक नियम का आविष्कार और व्यापक प्रचार वर्त्तमान युग के अन्वेषणों का विशेष फल कहा जा सकता है। यदि ऐसी दशा में भी हम कलिकाल की ही घोर पतित महिमा गाते पड़े रहें, तो हम से बढ़ कर अभागा दूसरा कौन होगा। विकास क्रम धैर्य और साहस का पाठ सिखलाता है, जीवन की अंधेरी गहरी

खाइयों पर प्रकाश डालता है, और हम को विश्वास दिलाता है कि हमारा भविष्य अवश्यमेव अत्यन्त उज्ज्वल है। समय हमें प्राकृतिक रूप से उसी ओर खींचे लिये चला जा रहा है। विकास के आविष्कार ने निराशा को समूल भस्म कर अवश्यम्भावी आशा का दीपक प्रज्वलित कर दिया है।

बारहवां अध्याय

मनुष्य के जीवन की अवस्थायें

मनुष्य के जीवन की अवस्थाओं पर विचार करने के पहिले इस बात को समझ लेना ज़रूरी है, कि यहां पर मनुष्य अथवा मनुष्य के जीवन से क्या अभिप्राय है। साधारणतः हम स्थूल शरीर को ही मनुष्य समझते हैं, और इस स्थूल शरीर के जीवन काल को मनुष्य का जीवन काल समझते हैं। पर पीछे दिखलाया जा चुका है कि ये दोनों भाव अत्यन्त ग़लत हैं। असली मनुष्य जीव अथवा जीवात्मा है, जो रूप मानसिक, वासना, छाया तथा स्थूल शरीरों के भीतर अरूप मानसिक अथवा कारण शरीर में वास करता है; और जो अमर है, अर्थात्, जिसका नाश इन चारों शरीरों के नाश होने पर भी नहीं होता है। उसी को अहङ्कारी जीव भी कहते हैं। उसी को प्रत्येक मनुष्य "मैं" कर के समझता है। वही अमर जीव अर्थात् अमर मनुष्य आवागमन के बन्धन में पड़ कर बार २ त्रिलोकी जीवन में उतरता है और फिर अपना कार्य समाप्त कर के अरूप मानसिक लोक में वापस जाता है। यद्यपि यह जीव अमर है, पर फिर भी एक समय ऐसा आता है, जब इस का भी नाश होता है, जैसा आगे देखा जायगा। यह काल अनेक अर्थात् सैकड़ों, हज़ारों जन्मों के ही बाद आता है। इस लिये मनुष्य के

जीवन से यहां जीव के उस जीवन से अभिप्राय है, जिसके लिये यह भूलौकिक जीवन केवल एक दिन के बराबर है ।

हम पीछे देख चुके हैं, कि जीवन के विकास क्रम में मनुष्य का स्थान पशु विभाग के बाद आता है । पशु विभाग में जीवों में अहङ्कार अर्थात् व्यक्तित्व का भाव नहीं रहता है। पशुओं के एक २ गरोह के लिये केवल एक समष्टि जीव होता है। इस प्रकार दस, बीस अथवा पच्चास कुत्तों, गायों, खरहों, आदि, को मिला कर उनके लिये एक समष्टि जीव होता है । इस लिये जब किसी पशु की मृत्यु होती है, तो उसका जीव अपने समष्टि जीव के भण्डार में जा मिलता है । इस प्रकार इसका अपना अनुभव समस्त समष्टि जीव में बंट जाता है, और उस समष्टि जीव के और जीवों के अनुभव इसमें भी मिल जाते हैं। यही कारण है कि क्यों पशुओं में समष्टि भाव (herd instinct) स्वभावतः पाया जाता है। इस अवस्था में स्थूल, छाया तथा वासना शरीरों के साथ २ लघु मानसिक शरीर का भी क्रमशः विकास होता रहता है। इस प्रकार क्रमशः विकास करते २ जब पशु ऐसी अवस्था में पहुंचते हैं, कि उनकी विशेषतायें अपने झुण्ड के और पशुओं की विशेषताओं से प्रधान रूप से भिन्न होने लगती हैं, तो उस समय जीवन की तीसरी महान् तरंग ईश्वर के आनन्द स्वरूप से उतरती है, जिसके फल स्वरूप आत्मा (Monad) से एक किरण नीचे के लोकों में उतरती है, और इसी के अवलम्ब पर आत्मा-बुद्धि-मनस् का एक सूत्र तैयार होता है, जो एक व्यष्टि जीव बन जाता है, और उस पशु के पशु विकास द्वारा तैयार किये हुए

लघु मानसिक, वासना तथा अन्य शरीरों में निवास करता है। यही समय है कि जब वह पशु अपने समष्टि जीव से अलग हो जाता है, और फिर बार २ अकेला नीचे के लोकों में उतरता अथवा वापस जाता रहता है। यहीं से मनुष्य जीवन आरम्भ होता है, और यह जीवन तब तक जारी रहता है, जब तक मनुष्य मानव पूर्णता को प्राप्त कर, आवागमन से रहित हो कर, ऋषि महात्माओं की श्रेणी में नहीं चला जाता है। इसलिये मनुष्य के जीवन काल से यहां तात्पर्य उस काल से है, जो उस समय से आरम्भ होता है, जब मनुष्य पशु जीवन विभाग से मानव विभाग में पहुंचता है, और जो उस समय अन्त होता है, जब मनुष्य विकसित हो कर मानव पूर्णता को प्राप्त कर ऋषि, महात्माओं की श्रेणी में पहुंच जाता है।

मनुष्य का यह जीवन काल प्रधानतः दो विभागों में बंटा हुआ है: प्रवृत्ति काल और निवृत्ति काल। प्रवृत्ति काल में मनुष्य विषयों में अधिकाधिक लिप्त हुआ रहता है और प्रत्येक वस्तु को अपने ही लिये ग्रहण करना चाहता है। इस प्रकार वह भांति २ के कर्म बन्धनों को अपने लिये उत्पन्न कर लेता है। निवृत्ति काल में मनुष्य धीरे २ प्रवृत्ति के ऋणों को सधाता हुआ, प्राणी मात्र से कुछ ग्रहण करने की इच्छा छोड़ कर, सदा उनको कुछ देने अर्थात् निःस्वार्थ भाव से स्वभावतः उनकी सेवा में लगे रहने का प्रयत्न करता रहता है। इसलिये प्रवृत्ति अवस्था का स्वाभाविक नियम ग्रहण करना है और निवृत्ति अवस्था का स्वाभाविक नियम त्याग करना है। प्रवृत्ति अवस्था में ग्रहण करने से ही मनुष्य

की उन्नति होती है, पर निवृत्ति पथ पर त्याग के ही सहारे मनुष्य आगे बढ़ता है। पर इन दोनों के बीच में एक मध्यम अवस्था भी होती है, जब मनुष्य कभी विषय की ओर अधिक झुक जाता है, और कभी त्याग की ओर। इस अवस्था में उसके भीतर निरन्तर इन दोनों वृत्तियों के मध्य झगड़ा होता रहता है। पर अन्त में मनुष्य की ऊपर ले जाने वाली शक्ति नीचे ले जाने वाली शक्ति को दबा देती है और तब मनुष्य निवृत्ति पथ पर आरूढ़ हो जाता है।

जो लोग इन दोनों अवथा तीनों अवस्थाओं को जानते हैं, वे भी कभी २ इस बात की भूल किया करते हैं, कि वे समझते हैं कि एक ही साधारण भूलौकिक जीवन में मनुष्य इन तीनों अवस्थाओं को पार कर जा सकता है। वास्तव में इनमें से प्रत्येक अवस्था से निकल कर आगे बढ़ने में मनुष्य को सैकड़ों जन्म बिताने पड़ते हैं।

इस बात को सुन कर कि प्रवृत्ति अवस्था में मनुष्य की उन्नति ग्रहण करने की शक्ति बढ़ाने से ही होती है, बहुत लोग आश्चर्य करते हैं, कि ईश्वर के विधान में ग्रहण करना किसी भी अवस्था में मनुष्य का धर्म कैसे हो सकता है। ये लोग इस प्राकृतिक नियम को नहीं जानते, कि सृष्टि का यही क्रम है, कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पहिले जीवन तरंग नीचे उतर कर विषयों में अर्थात् नीचे के लोकों के स्थूल द्रव्यों में फंसती जाती है, और पीछे उनसे उसका निवारण अर्थात् विकास होता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो गुप्त शक्तियों का विकास होने ही नहीं

पाये। इस पर ग़ौर करने से मालूम होगा कि जीवन को सफल बनाने के लिये जीव का सम्बन्ध जो स्थूल लोकों अथवा स्थूल पदार्थों से होता है, उसका कुछ विशेष अभिप्राय है। उस संसर्ग द्वारा जीव को कुछ सीखना रहता है, जो स्थूल द्रव्यों की अवहेलना करने से वह नहीं सीख सकता। इस लिये जिस समय जीवन तरंग नीचे उतरती रहती है, उस समय अपने को नीचे के लोकों के स्थूल द्रव्यों में जान बूझ कर फंसाना, अर्थात्, अपनी शक्तियों को जान बूझ कर सीमाबद्ध होने देना ही उस तरंग में भाग लेने वाले प्रत्येक प्राणी का धर्म होता है। जो प्राणी ऐसा नहीं करते, वे समय के प्रवाह के साथ नहीं चलते हैं। इस लिये उस जीवन तरंग से वे गिर जाते हैं, और सृष्टि के संचालन में इस उतराव अर्थात् अवतरण से जो कार्य निकालना रहता है, उसको दूसरे मन्वन्तर अथवा दूसरे किसी युग, में उनको पूरा करना पड़ता है।

मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है। जो अभी प्रवृत्ति मार्ग पर हैं, उन को निवृत्ति मार्ग की बातें प्राय: असर ही नहीं कर सकतीं; और अगर कोई सांसारिक झंझटों से भागने के निमित्त प्रवृत्ति मार्ग को हठात् ग्रहण कर अपनी वासना आदि का नाश कर दे, तो हो सकता है कि एक मन्वन्तर अथवा एक कल्प के लिये उसको आराम करने का सावकाश मिल जाय, पर फिर उस को जन्म धारण कर ठीक वहीं से प्राकृतिक नियमानुसार अपना जीवन आरम्भ करना पड़ता है, जहां से उसने झंझटों के भय से जीवन तरंग से अपना नाता तोड़ रखा था।

पर इस का यह अभिप्राय भी नहीं समझ लेना चाहिये, कि विषयों में लिप्त होना तो मनुष्य के लिये प्राकृतिक नियमानुकूल है, इसलिये हम इन से बाहर निकलने की चेष्टा ही क्यों करें। दोनों ही हद पर चलना ग़लत है। अपना धर्म समझने के लिये पहिले अपनी अवस्था का ज्ञान करना आवश्यक है। और जिस मनुष्य में ऐसा प्रश्न उठ सकता है, कि हम यह काम करें अथवा वह काम करें, वह तो वास्तव में प्रवृत्ति मार्ग से निकल कर निर्वृत्ति की ओर जा रहा है। प्रस्तुत काल में साधारण भाव से मनुष्य जाति प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की मध्यमावस्था में पहुंची है। इस लिये हमारे लिये तो कदापि झगड़ों के भय से भाग कर केवल विषय वासना में लिप्त रहने की बात को सोचना लागू हो ही नहीं सकती। मनुष्य में एक साधारण प्रवृत्ति है कि अपनी कमज़ोरियों को छिपाने के लिये वह बहुधा कोई न कोई बहाना ढूंढ़ा करता है। ऐसा न कर के हमें अपनी अवस्था को समझने की कोशिश करनी चाहिये और उसके अनुकूल धर्मानुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

इस बात को बहुत लोग नहीं समझते हैं, कि भिन्न २ मनुष्यों की भिन्न २ अवस्थायें होती हैं, और इसलिये यदि हम उनकी सहायता करना चाहते हैं, तो हमें उनकी अवस्था का धर्म समझ कर उसी पर चलने में उनको सहायता पहुंचानी चाहिये। ऐसा न कर के वे स्वतः जिस बात को अच्छी समझते हैं, उसी के अनुसार बहुधा सब को चलाना चाहते हैं। ऐसा करने से सहायता पहुँचाने के बदले लोगों की हानि हुआ करती

है। इस लिये मनुष्य की अवस्थाओं तथा उनके धर्मों को भली भांति जानना प्रत्येक मनुष्य के लिये, और विशेषतः प्रत्येक सुधारक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, गीता में भागवान ने कहा है कि निष्काम कर्म मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। साधारण मनुष्य इसी के बल पर केवल निष्काम कर्म का प्रचार करना चाहते हैं, और आशा करते हैं कि सभी लोग निष्काम कर्म के उपदेशानुसार चल सकेंगे। पर यदि वे ग़ौर कर के देखें, तो मालूम होगा कि स्वतः भगवान ने भी दूसरे अध्याय में अर्जुन को भांति भांति के प्रलोभनों द्वारा कार्य करने के लिये उत्तेजित करने की कोशिश की है। जिस गीता में निष्काम कर्म का प्रधान उपदेश हो, वहां पर उन्हीं भगवान द्वारा इस प्रकार प्रलोभन आदि की बातें बे-मेल अर्थात् अनुचित स्थान पर जान पड़ती हैं। पर ग़ौर करने से मालूम होगा कि उन प्रलोभनों में क्रमानुसार यह भाव भरा है, कि भिन्न २ अवस्थाओं के मनुष्यों को कार्य करने के लिये किस प्रकार उत्तेजित करना चाहिये। उन से भी मनुष्य के विकास की भिन्न २ अवस्थायें समझी जा सकती हैं। यहां इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ विचार करने का स्थान नहीं है।

साधारणतः दूसरों के सामने कोई बात रखने से पहिले सुधारकों को भगवान का यह श्लोक स्मरण कर लेना चाहिये :—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वं कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥"

—गी० अ० ३, श्लो० २६॥

अर्थात्, 'किसी ज्ञानी पुरुष को कर्म में फंसे हुए अज्ञानी पुरुषों के मन में विभेद नहीं पैदा करना चाहिये; बल्कि मुझ से युक्त हो कर अनुकूल आचरण कर के सभी कर्मों को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।' इसका भाव यह है कि जब तक हम किसी को उसके अवस्थानुसार वर्त्तमान परिस्थिति से अच्छी परिस्थिति नहीं दे सकें, तब तक उसके साथ छेड़ छाड़ करना बेकार है। ऐसी दशा में कदापि अपने विश्वासों अथवा अपने मार्गों को हठात् दूसरों पर नहीं मढ़ना चाहिये। इसका यह अभिप्राय भी नहीं है, कि मनुष्य जिस बात को समाज के हित के लिये समझे, उसका प्रचार ही नहीं करे। प्रचार करना चाहिये, पर दूसरों के हित की बात सोचते समय अपने लिये जो बात अच्छी मालूम हो, उसको ही उनके सामने नहीं रखनी चाहिये, बल्कि उनकी अवस्थाओं तथा उनकी आवश्यकताओं को सामने रख कर उनके लिये जो बातें उपयोगी प्रतीत हों, उनका प्रचार उनके मध्य में करना चाहिये।

जैसा पहिले कहा जा चुका है, मनुष्य के जीवन की अवस्थाओं तथा उन की आवश्यकताओं का ज्ञान अवतार के क्रमों पर विचार करने से कुछ हद तक हो सकता है। वहां पर नौ अवतारों का वर्णन किया गया है। उन में से तीन का सम्बन्ध तो केवल पशु जीवन से है। उन्हें छोड़ कर शेष छ अवतार मनुष्य के जीवन की अवस्थाओं के परिसूचक हैं। इन अवस्थाओं के समष्टि अभिप्राय पर कुछ विचार पहिले ही किया जा चुका है। यहां पर केवल इनके व्यष्टि भावों पर कुछ विचार

करने की कोशिश की जायगी।

इस श्रेणी का पहिला अवतार नृसिंह भगवान का है। यह जीव की उस अवस्था का सूचक है, जब मनुष्य अभी पशु जीवन विभाग से विकसित हो कर मनुष्य श्रेणी में पहुंचा हो। पर मनुष्य होते हुए भी उस का अर्द्ध भाग पशु का ही होता है, अर्था इस अवस्था में जीव में अधिकांश पाशविक वृत्तियां ही रहती हैं। यही जंगली अर्थात् आदिम मनुष्यों की अवस्था है। इस पाशविक अवस्था में मनुष्य एक दूसरे को मार कर भी खा जाता है। पर धीरे २ कुछ दवाव अर्थात् रुकावट आप से आप उस पर आने लगती है, और तव अपने सुख के हेतु अपनी जाति के लोगों अर्थात मनुष्यों को छोड़ कर और प्राणियों को ही मार कर वह खाता है और रहता है। ऐसे जंगली मनुष्यों पर हंसने अथवा उन के साथ घृणा करने की कोई वात नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को आरम्भ काल में इस अवस्था से हो कर गुजरना पड़ता है। इतना ही नहीं, बल्कि अनेक जन्म प्रत्येक मनुष्य को इसी अवस्था में लेना पड़ता है। यही मनुष्य के प्रवृति मार्ग का पूर्व भाग है। इस अवस्था को मनुष्य का अर्थात मनुष्य के जीव का शैशव काल कह सकते हैं। इस को जीव की शूद्रावस्था भी कह सकते हैं।

दूसरा अवतार वामन स्वरूप में हुआ। यह उस अवस्था का परिसूचक है, जब जीव जंगली अवस्था से विकसित हो कर आगे बढ़ता है, अर्थात्, जब उसमें मनुष्य के कुछ लक्षण अपूर्ण भाव से दीख पड़ते हैं। इस अवस्था में जीव घोर पाशविक वृत्तियों से

पृथक् हो कर समाज के मध्य जीवन व्यतीत करने लगता है, और समाज के नियमों से कुछ सम्बन्ध रखने लगता है। पर तौभी उसमें स्थूल वस्तुओं को अपने लिये ग्रहण करने की ओर ऐसी प्रबल प्रवृत्ति रहती है, कि वह चाहता है कि समस्त संसार का धन उसी को मिल जाय। बामन भगवान थे तो नाटे, पर जब दान से प्राप्त तीन डेग पृथ्वी नापने लगे, तो तीन ही डेग में तीनों लोकों को इन्हों ने ग्रहण कर लिया। सांकेतिक रूप से इसे प्रवृत्ति मार्ग के उत्तर भाग का परिसूचक कह सकते हैं। इस को जीव की वैश्यावस्था भी कह सकते हैं। इसी के बाद प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच की मध्यावस्था आरम्भ होती है।

तीसरा अवतार परशुराम जी का है। परशुराम जी बड़े क्रोधी तथा शक्ति के उपासक थे। इस से जीव की उस अवस्था का भाव निकलता है, जब वह स्थूल पदार्थों को जमा करते २ उन से थक जाता है। उन में उस को शान्ति नहीं मिलती है, इस लिये उनकी ओर से अपनी प्रवृत्ति को फेरता है। त्याग की ओर कुछ ख्याल जाता है, पर फिर भी इस मध्यावस्था में प्रवृत्ति ही उसको अधिकतर अपनी ओर खींच लेती है। इसलिये स्थूल धन वैभव की ओर से मुख मोड़ने पर भी वह सूक्ष्म शक्तियों तथा अधिकारों की खोज में लगा रहता है। वह उत्तम से उत्तम शक्ति को अपने ही भीतर रखना चाहता है। वह यह नहीं चाहता कि दूसरों को भी शक्ति मिल सके। इसको जीव की क्षात्रावस्था का पूर्व भाग कह सकते हैं, क्योंकि इस में क्षात्रावस्था का एक ही भाग आता है। दूसरा भाग आगे वाले अवतार द्वारा सूचित

होता है।

इस के बाद प्रवृत्ति और निवृत्ति की माध्यमिक अवस्था का दूसरा भाग आता है। इस में भी मनुष्य दो प्रकार की पारस्परिक विरोधी शक्तियों के बीच में पड़ कर डांवाडोल होता रहता है। कभी एक ओर खिंचा जाता है, तो कभी दूसरी ओर। इस प्रकार इस अवस्था में भी सदैव आन्तरिक शक्तियों में झगड़े हुआ करते हैं, पर अन्त में दैवी शक्तियां पाशविक शक्तियों को दबा देती हैं। श्री रामचन्द्र जी के जीवन को लीजिये, पारिवारिक जीवन हो अथवा राजनैतिक जीवन हो, सर्वत्र उनको दोनो ओर खींचने वाली शक्तियों के बीच से हो कर अपना रास्ता निकालना पड़ा है। इसलिये उन्हों ने अपने जीवन द्वारा यह प्रगट किया है, कि सभ्य मनुष्यों को इस संसार में अन्य मनुष्यों के साथ अपने भिन्न २ सरोकारों तथा कर्त्तव्यों को कैसे निबाहना चाहिये। पर उनके जीवन से एक बात और भी स्पष्ट रूप से प्रगट होती है, कि किसी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा ही घनिष्ठ क्यों न हो, पर अपने अन्तिम कर्त्तव्य का निर्णय करते समय सदा व्यक्तिगत भावों के ऊपर सिद्धान्तों की ही प्रधानता दी जानी चाहिये।

रामायण पढ़ते समय हम बहुधा उन झंझटों का स्पष्ट चित्र अपने सामने नहीं रखते हैं, जिनके मध्य में रामजी को अपने कर्त्तव्यों का निर्णय करना पड़ा था। राज्याभिषेक के अवसर पर उनके अपने बनगमन की बात को लीजिये अथवा बन से लौटने पर सीता जी के बनवास की बात को लीजिये। हम उनके

असली तात्पर्य को तब तक नहीं समझ सकेंगे, जब तक हम अपने आप को उनकी अवस्था में रख कर यह न सोचें कि हम ऐसे अवसरों पर क्या करते। वस्तुतः हम इन कठिनाइयों के महत्त्व का तभी अनुभव कर सकते हैं, जब अपने जीवन में भी हम सदैव सिद्धान्तों के ऊपर ही आरूढ़ हो कर चलने की कोशिश करें। तब पता चलेगा कि रात दिन किस प्रकार दो प्रकार को दो ओर खींचने वाली शक्तियों के मध्य में कितने विकट रूप में हमारे अन्दर संग्राम होता रहता है; और सत्य पर डटे रहने पर किस प्रकार अन्त में दैवी शक्तियों की ही विजय होती है। पर उसके साथ २ इस संसार में अनेक प्रकार के कष्टों को भी सहन करना पड़ता है। इस अवस्था का जीवन साधारण सांसारिक दृष्टि से तो अत्यन्त दुःखमय दीख पड़ता है, पर जीव को वही अत्यन्त आनन्दमय प्रतीत होता है, क्योंकि जीव को इस बात का ज्ञान रहता है कि इन दुःखों को सहर्ष भोग कर वह केवल अपने सिर से कर्म के ऋणों के बोझ को उतारता रहता है, और इस लिये उसको इस प्रकार दुःखों के झेलने में विशेष रूप से आनन्द मिलता है। खुलासा यह है कि इस अवस्था का जीवन आन्तरिक तथा बाह्य संग्रामों से भरा रहता है, और इस लिये इसको भी जीव की छात्रावस्था ही कह सकते हैं। वास्तव में यह छात्रावस्था के उच्च आदर्शों का जीवन है।

इसके बाद कृष्णावतार से जीव की उस अवस्था का अभिप्राय जान पड़ता है, जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मध्य भाग के झगड़ों के तय हो जाने पर निवृत्ति मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक

स्थित हो जाने पर आती है। इस अवस्था में कोई विशेष संग्राम नहीं रहता है, न किसी से कुछ विशेष अभिप्राय रहता है। फिर भी स्वाभाविक रीति से मनुष्य सदा अपने हृदय से समस्त प्राणियों की ओर प्रेम प्रवाहित करता रहता है। वृन्दावन के बाल कृष्ण का स्मरण करते ही हृदय प्रेम से गद्गद हो जाता है। उनकी प्रेम लीला की ओर ध्यान ले जाइये और देखिये उनकी बंशी की मधुर तान से किस प्रकार स्त्री पुरुष, पशु पत्ती, वृत्त लता, नदी पर्वत, आदि, सभी एक भाव से प्रभावित हो कर आकर्षित हो जाते थे। निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ पुरुषों से स्वाभाविक रूप से आप से आप विश्वव्यापी प्रेम के फौवारे सदा इसी प्रकार निकलते रहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य में व्यक्तित्व भाव का नाम मात्र शेष नहीं रहता है! वह तो प्रेम का स्वरूप हो जाता है और सदा प्राणी मात्र के विकास के लिये स्वाभाविक रीति से उच्च कोटि के प्रभावों को प्रवाहित करता रहता है। इस को जीव की ब्राह्मणावस्था कह सकते हैं।

इसके बाद बौद्धावतार से जीवन की जिस अवस्था का भान होता है, उसे ब्राह्मणावस्था का उत्तर भाग कह सकते हैं। इसके पहले की अवस्थाओं में चरित्र गठन, सेवा भाव तथा निःस्वार्थता के पाठों में जीव को प्रवीणता प्राप्त हो गई रहती है। अब उस निःस्वार्थता तथा सेवा के बाद गुप्त आभ्यान्तरिक शक्तियों के विकास का समय आता है। इस जीवन में भी मनुष्य के सामने अनेकों प्रकार की बाधायें आती हैं, तरह २ के प्रलोभन अत्यन्त मनोहर रूपों को धारण कर सामने खड़े हो जाते हैं। जो जीव

इन से किञ्चित मात्र विचलित न हो कर अपने लक्ष्य की ओर एक चित्त हो लगा रहता है, वह अन्त में अनेकों प्रकार के शारीरिक तथा अन्य कष्टों के सहन करने के बाद मानव पूर्णता प्राप्त करता है। तब वह मनुष्य की गणना से आगे बढ़ जाता है, और सच्चे महात्माओं की श्रेणी में पहुंच जाता है। इसी अवस्था के बाद मानव पूर्णता का अन्तिम फल प्राप्त होता है। ब्राह्मणावस्था अथवा निवृत्ति अवस्था का यही अन्तिम शिखर है।

इस प्रकार इन अवतारों पर ग़ौर करने से और उनके जीवनों को अच्छी तरह समझने से, हम इस बात का पता लगा सकते हैं, कि जब से जीव पशु जीवन विभाग से विकसित हो कर मनुष्य जीवन विभाग में प्रवेश करता है, उस समय से ले कर और जिस समय वह पुनः मनुष्य जीवन से विकसित हो कर महात्माओं की श्रेणी में प्रवेश कर जाता है, उस समय तक जीव को किन २ प्रधान अवस्थाओं से हो कर अपना सफर तय करना पड़ता है। यहां पर इन अवस्थाओं का अत्यन्त संक्षेप से स्थूल भाव से विचार किया गया है, क्योंकि यहां अधिक विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं है। पर अवतारों की ओर देखने का यह एक तरीक़ा है, जिसको साधारण भाव से लोग अवतारों पर विचार करते समय अपने सामने नहीं रखते हैं। पर यदि ग़ौर कर के इस प्रकार प्रत्येक अवतार के जीवन की भिन्न २ प्रधान कार्रवाइयों को देखा जाय, और मनुष्य के जीवन की भिन्न २ अवस्थाओं के प्रधान विशेषताओं से उन्हें मिलाया जाय, तो जीवन की भिन्न २ अवस्थाओं की

विशेषताओं पर बहुत प्रकाश पड़ेगा। देखिये स्थूल भाव से भी देखने पर उन में से कैसे २ अपूर्व रहस्य प्रगट होते हैं। यदि इनके अनुकूल हम अपना जीवन बनाना चाहें, तो हम में से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी अवस्था का क्यों नहीं हो, इन से बहुत लाभ उठा सकता है।

स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य की ये अवस्थायें सभी मनुष्यों के लिये व्यापक रूप से लागू होती हैं। वास्तव में इन के द्वारा केवल प्राकृतिक तथ्यों के कुछ रहस्य प्रगट किये गये हैं। डा० एनी बेसेन्ट तथा बिशप लेडबीटर ने ईसा मसीह के जीवन का अध्ययन कर के इस बात का पता लगाया है, कि ईसा मसीह के जीवन का प्रत्येक प्रधान कार्य मनुष्य की दीक्षाओं की एक २ अवस्था का परिसूचक है। इसी प्रकार हम भी अवतारों के जीवनों से अपने जीवन सम्बन्धी अनेक आवश्यक उपदेशों को निकाल सकते हैं, तथा उन्हें ग्रहण कर विशेष लाभ उठा सकते हैं। अवतार लीला कर के तथा अवतारों के वर्णनों को पढ़ कर हम कुछ ऐसे पाठों को सीखना चाहते हैं। अधिकतर रामावतार तथा कृष्णावतार के ही जीवनों से हम सरोकार रखते हैं। लेकिन हम को स्मरण रखना चाहिये कि नृसिंहावतार, बामनावतार तथा परशुरामावतार के जीवनों में भी हमारे लिये जानने योग्य अनेक आवश्यक उपदेश छिपे पड़े हैं। उन के भी न जानने से हमारा अपने जीवन सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। इसलिये हमें उन से भी ज्ञान प्राप्त कर के उस ज्ञान के अनुकूल अपने जीवन को चलाना चाहिये।

इस प्रकार मनुष्य के जीवन की छः प्रधान अवस्थायें मिलती हैं। पहले दो में प्रवृति की ही बोलवाला रहती है। इसके पूर्व भाग में मनुष्य निरा पाशविक जीवन व्यतीत करता है और कई जन्मों के जीवन द्वारा उस अवस्था में भी अपने को कुछ हद तक संभालना सीखता है। इसके उत्तर काल में मनुष्य सामाजिक बन्धनों को समझने लगता है। फिर भी वह दूसरों के सुख दुःख का ख़्याल न कर केवल अपने ही लिये धन-वैभव आदि जमा करने की फ़िक्र में लगा रहता है। इसके बाद प्रवृत्ति और निवृत्ति की मध्यावस्था के दो भाग आते हैं। इस मध्यावस्था में इन दोनों वृत्तियों में सदा संग्राम होता रहता है। इसके पहले भाग में प्रवृत्ति की ही प्रधानता रहती है, और दूसरे में निवृत्ति की। इस पहले भाग में मनुष्य सांसारिक धन वैभवों को जमा करते २ उन से थक कर उन से शान्ति न पा कर उनकी ओर से मुंह मोड़ना चाहता है। निवृत्ति का यहां आरम्भ होता है, पर प्रवृत्ति ही उसको बार २ धर दबाती है। नतीजा यह होता है, कि साधारण धन वैभव को छोड़ कर मनुष्य प्रायः सूक्ष्म अधिकारों तथा शक्तियों के प्राप्त करने में फंस जाता है। अनेक जन्म ऐसे बीतते २ धीरे २ प्रवृत्ति का ज़ोर कम होता जाता है और निवृत्ति का प्रभाव बढ़ता जाता है। तब इस मध्यावस्था का दूसरा भाग आता है, जिसमें मनुष्य को और भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। पर इस अवस्था तक पहुंचते २ मनुष्य भिन्न २ लोगों के साथ भिन्न २ सम्बन्धों के अपने कर्त्तव्यों को अच्छी तरह पालन करना सीख

लिये रहता है, और अपने जीवन द्वारा उन्हें सदा निबाहता रहता है। साथ ही प्रत्येक कर्त्तव्य के निर्णय करने में वह व्यक्तिगत भावों के ऊपर सिद्धान्तों को ही प्रधानता देता है। इसके बाद निर्मल निवृत्ति पथ का जीवन आरम्भ होता है, जिसके पहिले भाग में वह निःस्वार्थ भाव से प्राणी मात्र के साथ प्रेम तथा उनकी सेवा करता है, और अन्त में इसके दूसरे भाग में योगाभ्यास द्वारा अपने भीतर की गुप्त शक्तियों के विकास कर वह मानव पूर्णता को प्राप्त करता है, और मनुष्य योनि से आगे बढ़ कर महात्माओं की श्रेणी में दाखिल हो जाता है। हमें हमेशे याद रखनी चाहिये कि इन में से प्रत्येक अवस्था में से निकल कर उसके बाद वाली अवस्था में पहुंचने के पहले मनुष्य को सैकड़ों जन्म उसी अवस्था में धारण कर के उस अवस्था के विशेष अनुभवों को प्राप्त करना पड़ता है।

जब मनुष्य का जीवन सिद्धान्तों पर विशेष रूप से अवलम्बित होने लगता है, जब वह निवृत्ति मार्ग पर प्रायः आरूढ़ होने लगता है, अर्थात्, जब उसमें स्वार्थ का भाव दूर हो, निःस्वार्थ सेवा का भाव प्रधान रूप से पाया जाता है, तब उसको अपने सद्गुरु के साथ संसर्ग होने लगता है। इसके बाद के जीवन में अदृश्य भाव से सद्गुरु का आशीर्वाद सदा उसको मिलता रहता है, जिस से उसके विकास में बड़ी सहायता पहुंचती है। निवृत्ति पथ के इस भाग का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करने से पहले हम को अब इस बात के समझने की कोशिश करनी चाहिये कि सद्गुरु से अभिप्राय क्या है, और तब इस बात पर

विचार करना चाहिये कि उनके पास मनुष्य कैसे पहुंच सकता है। पहिले भी कई स्थानों पर महात्माओं के ज़िक्र आ चुके हैं, और कहा गया है कि मनुष्य योनि का कार्य समाप्त होने पर मनुष्य विकसित हो कर महात्माओं की श्रेणी में पहुंचता है। ऐसे अवसरों पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि ये महात्मा अथवा सद्गुरु कौन हैं, क्या हैं, कैसे रहते हैं, क्या करते हैं, इत्यादि। इसलिये अगले अध्याय में महात्माओं के अस्तित्व पर ही विचार किया जायगा।

तेरहवां अध्याय

महात्माओं का अस्तित्व

हमारे देश में साधारण तौर से लोग विश्वास करते हैं कि महात्मा लोग बहुधा जंगल अथवा पहाड़ की गुफाओं में रहते हैं, और कभी २ मनुष्यों के मध्य में भी आ जाते हैं। उनमें अनेक दिव्य शक्तियां प्रगट रहती हैं, जैसे, देखते २ दृष्टि से लोप हो जाना, आकाश में उड़ जाना, दूसरों के मन की बातों को बिना कहे जान लेना, इत्यादि। ऐसे महात्माओं के दर्शन दुर्लभ होते हैं। बहुत लोग पर्वतों पर उनके दर्शन के ही निमित्त बहुत दिनों तक जा कर रहते हैं, पर सब को उनका दर्शन नहीं होता है। दर्शन उन्हीं को होता है, जिन के पूर्व जन्मों का संस्कार विशेष रूप से अच्छा रहता है। ऐसा भी लोग पौराणिक कथाओं से जानते हैं, कि कई ऐसे महात्मा हैं, जो अमर हैं और जो पृथ्वी के प्रलय काल तक जीवित रहेंगे। इस प्रकार की बहुत सी बातें महात्माओं के सम्बन्ध में साधारणतया प्रचलित हैं। पर ऐसे लोग बहुत कम देखने में आते हैं, जो महात्माओं के अस्तित्व तथा उन के कार्यों के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान रखते हों।

अधिकतर तो लोग उन्हीं को सिद्ध महात्मा समझा करते हैं, जो नंग धड़ंग लापरवाही से पड़े रहते हैं; न उनके वस्त्र का ठिकाना रहता है, न भोजन का। जो कुछ मिला खा लेते हैं,

अच्छा बुरा कुछ हो, उस को पी लेते हैं। कहा जाता है कि ये महात्मा जिस पर ख़ुश होते हैं, उसको गालियां दे बैठते हैं, अथवा ईंट पत्थर फेंक कर उसे मार बैठते हैं। ऐसी हालत में लोग बहुधा अपने भाग्य को धन्य मनाते हैं, और समझते हैं कि जिस कार्य के निमित्त वे महात्मा जी के पास आये थे, वह अवश्य पूर्ण हो जायेगा। और वह कार्य क्या रहता है? मुक़दमा जीतना, धन प्राप्त करना, रोग अच्छा हो जाना, लड़का पैदा होना, इत्यादि। किसी २ हालत में ऐसी बातें सत्य भी निकल जाती हैं, पर सब किसी की हालतों में ये बातें सत्य नहीं ठहरती हैं। इस प्रकार हम महात्मा उन्हीं लोगों को समझने लगे हैं, जो मैले कुचैले, नंग धड़ंग रहते हैं, खाने पीने की वस्तुओं की पवित्रता अथवा अपवित्रता पर कुछ .ख्याल नहीं करते और जिनका कार्य प्रत्यक्ष रूप से केवल यही मालूम होता है, कि उनके आशीर्वाद से मनुष्य को धन आदि का लाभ हो सकता है। इस से बढ़ कर कोई अन्य आदर्श महात्माओं के सम्बन्ध में साधारणतः हमारे .ख्याल में नहीं रहता है। इस प्रकार असली तात्पर्य न जानने के कारण आज प्राचीन पवित्र नामों तथा पदों का बहुत बुरी तरह से दुर्व्यवहार हो रहा है। कोई भी आज महात्मा, परिव्राजक, परमहंस, इत्यादि, पदों को अपने नाम के साथ जोड़ ले सकता है; और तिस पर भी तुर्रा यह है, कि संसार के भोले भाले लोग उस को श्रद्धा तथा भक्ति की दृष्टि से देखने लगते हैं।

एक समय था, जब इस देश में प्रत्येक ऐसे पदों के असली

अभिप्राय को लोग समझते थे; और वे ही लोग उनको अपने नाम के साथ धारण कर सकते थे, जो उनके अधिकारी होते थे। दूसरे लोग उन पदों को अत्यन्त पवित्र समझते थे और कभी उनका दुरुपयोग नहीं करते थे। पर आज उन पदों के योग्य बनना तो दूर रहे, हम उनके असली अर्थ तक को नहीं जानते हैं; बल्कि प्रायः उनका दुर्व्यवहार ही किया करते हैं। आज भी हम डाक्टर, बी० ए०, एम० ए०, कलक्टर, जज, आदि, पदवियों को उन्हीं के सम्बन्ध में व्यवहार करते हैं, जो उन पदों के अधिकारी होते हैं। किसी डाक्टर अथवा कलक्टर के लड़कों अथवा अन्य लोगों को हम डाक्टर अथवा कलक्टर नहीं कहते हैं। हम समझते हैं कि उनके नाम के साथ इन पदों का व्यवहार करना अनुचित तथा असम्भव बात है। पर धार्मिक क्षेत्र में हम अपनी अज्ञानता के कारण इसके बिल्कुल बिपरीत व्यवहार करते हैं, और हमें अक्सर इस बात का पता तक नहीं रहता है कि हम ग़लती कर रहे हैं। परिव्राजक तथा परमहंस मनुष्य के जीवन की भिन्न २ विशेष अवस्थाओं के नाम हैं। इनके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। पर यहां पर संक्षेप से यही देखना चाहिये कि महात्मा से वास्तव में क्या अभिप्राय है।

साधारण भाव से हम देखते हैं कि ऋषि, महात्माओं के वर्णन प्रत्येक जाति के धर्म पुस्तकों में पाये जाते हैं। प्रत्येक धर्म के संस्थापक प्रायः ऐसी ही श्रेणी के जीव होते हैं। भिन्न २ देशों के इतिहासों के पढ़ने से भी पता चलता है कि संसार के भिन्न २ स्थानों पर कभी न कभी ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति हुए हैं,

जिन को उस समय के साधारण मनुष्यों में नहीं गिन सकते। इस के अलावे हम अपने साधारण अनुभव में भी प्रत्येक अवस्था में कुछ लोगों को उस अवस्था से ऊपर और कुछ को उस अवस्था से नीचे पाते हैं। खनिज पदार्थों से बनस्पतियां अधिक विकसित होती है, बनस्पतियों से अधिक पशु और पशुओं से अधिक मनुष्य विकसित होते हैं। इस में सन्देह का स्थान नहीं है, क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है। मनुष्यों में अनेक अवस्थाओं के विकास वाले लोग पाये जाते हैं। पर साधारण अनुमान से भी यह बात असम्भव मालूम होती है, कि विकास का उच्चतम शिखर मनुष्यों पर ही आ कर समाप्त हो जाय। जैसे और वर्ग के जीवों के लिये विकास का एक हद है, जहां पहुंचने पर वे उस वर्ग से निकल कर उस से ऊपर वाले वर्ग में पहुंच जाते हैं, वैसे ही यह बात भी तर्क संगत मालूम होती है, कि मनुष्य की पूर्णता का भी कुछ हद होना चाहिये; और उस से ऊपर भी विकास का क्रम वैसे ही आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये, जैसा उसके नीचे पाया जाता है। इस प्रकार प्राचीन धर्म ग्रन्थों से, प्राचीन इतिहासों से, मनुष्यों के साधारण विश्वासों से तथा प्राकृतिक विकास क्रम पर विचार करने से सिद्ध होता है कि यह एक अत्यन्त स्वाभाविक बात है कि मनुष्य कोटि से बढ़ कर पूर्णता प्राप्त मनुष्यों की एक अथवा अनेक और श्रेणियां होनी चाहिये। पर यह बात केवल तर्क वितर्क के ही लिये नहीं है, निजी अनुभव द्वारा भी इस को पूर्ण रूप से सिद्ध किया जा सकता है। और आज भी अनेक योगी अपने

अनुभवों के अवलम्ब पर इस बात का समर्थन करते हैं, कि जिस प्रकार मनुष्य के नीचे विकास क्रम की अनेक सीढ़ियां हैं, जिनमें से कुछ को ही हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं और अधिकांश को नहीं देखते, उसी प्रकार मनुष्य से ऊपर भी विकास की अनेक और पीढ़ियां हैं।

पीछे के प्रकरणों में विकास क्रम पर विचार करते समय यह दिखलाया जा चुका है, कि जब मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर लेता है, तो महात्मा के पद पर पहुंच जाता है। यह भी दिखलाया जा चुका है कि साधारण तौर पर मनुष्य के जीवन का सम्बन्ध भू, भुवः तथा स्वः इन्हीं तीन लोकों से रहता है, और कर्म बन्धन में फंस कर इन्हीं तीन लोकों के भीतर मनुष्य का जीव घूमता फिरता रहता है, जिसको उसका आवागमन कहते हैं। पर क्रमशः विकास करते २ वह एक न एक समय इस अवस्था को प्राप्त होता है, कि जब वह इन तीनों लोकों को जीत लेता है। तब वह आवागमन से रहित हो कर महात्माओं की श्रेणी में दाखिल हो जाता है।

इस रहस्य को कुछ और स्पष्ट रूप से समझने के लिये आत्मा (Monad), जीव (Ego) और देहाभिमानी जीव (Personality) के पारस्परिक सम्बन्धों को समझना आवश्यक है। आत्मा परमात्मा का एक अंश है और उसका स्वाभाविक निवास स्थान दूसरे प्राकृतिक लोक अर्थात् अनुपादक लोक पर है। वह अपना एक अंश नीचे उतारता है, जो आत्मा-बुद्धि-मनस् स्वरूप में मनुष्य का जीव बनता है। इस जीव का

साधारण निवास स्थान अरूप मानसिक लोक में है। फिर यह जीव अपना एक अंश और नीचे उतारता है, जिसको देहाभिमानी अथवा देहात्मक जीव कहते हैं, जो लघु मानसिक, वासना, छाया तथा स्थूल शरीरों द्वारा रूप मानसिक, भुवः तथा भू लोकों में कार्य करता है। पहिले तो मनुष्य अपने को केवल देहाभिमानी जीव समझता है। इसमें भी पहिले केवल स्थूल शरीर को "मैं" कर के जानता है। जब इससे आगे बढ़ता है, तो अपने भावों को अर्थात् वासना शरीर को "मैं" कर के मानता है; और जब मानसिक शक्तियों का क्रमशः विकास होता है, तो वह अपने को अपने विचारों अर्थात् लघु मानसिक शरीर से भिन्न नहीं समझता है। इतने समय तक देहाभिमानी जीव की ही प्रधानता रहती है, पर धीरे २ जीवात्मा अपना अधिकार इस पर जमा लेता है, और तब से मनुष्य अपने को जीव स्वरूप में समझने लगता है और नीचे के शरीरों को केवल अपना वाहन समझता है। उस समय जीवात्मा और देहाभिमानी जीव के बीच में जो एक सूक्ष्म सूत्र लगा हुआ है, जिस को अन्तःकरण कहते हैं, वह जाग जाता है। इस प्रकार देहाभिमानी जीव और जीवात्मा के बीच में विशेष सम्बन्ध अर्थात् योग स्थापित हो जाता है, और तब से देहाभिमानी जीव केवल जीवात्मा का प्रतिरूप बन जाता है। हम आगे चल कर देखेंगे कि योग का असली तात्पर्य यही है, कि मनुष्य के भिन्न २ भागों में इसी प्रकार का मेल स्थापित किया जाय।

पर योग का कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। जिस प्रकार

अनेक जन्मों के प्रयत्न द्वारा पहले देहाभिमानी जीव के चारों शरीरों का विकास होता है, और फिर जीवात्मा और देहाभिमानी जीव के बीच सम्बन्ध अर्थात् योग स्थापित हो जाता है, उसी प्रकार जीव का भी विकास होता है; और उसके भिन्न २ शरीरों के विकसित हो जाने पर जीवात्मा अर्थात् जीव और आत्मा के बीच पुनः ऐसा ही सम्बन्ध अर्थात् योग स्थापित हो जाता है।

जीव के इस कार्य को हम बहुधा नहीं जानते हैं। हम समझते हैं कि नीचे के चार शरीरों द्वारा जो कार्य होते हैं, मनुष्य का पूरा कार्य उतना ही है। पर यह तो जीव के एक अंश का कार्य है, जिसको अनुभव प्राप्त करने के लिये उसने नीचे के लोकों में भेजा है। इसके साथ २ और प्रकारों से भी वह अपना कार्य करता रहता है, जिससे उसका निजी विकास होता रहता है। इस लिये देहाभिमानी जीव के विकास के साथ २ जीव का भी विकास अपने लोकों में होता रहता है। उस का कार्यक्षेत्र अनुपादक, आत्मिक, बुद्धि तथा अरूप मानसिक लोकों में है। सब से पहले उसके अरूप मानसिक लोक के शरीर अर्थात् कारण शरीर की उन्नति होती है। यह प्रायः देखा गया है कि मनुष्य जैसे २ जंगली अवस्था से सभ्यावस्था में और फिर सभ्यावस्था में प्रवृत्ति पथ से निवृत्ति पथ पर पहुंचता है, वैसे २ उस का कारण शरीर भी बढ़ता अर्थात् उन्नति करता जाता है। इस लिये उन्नत अवस्था में मनुष्य अपने को अपने सिद्धान्तों से एक समझने लगता है; और जो इस अवस्था पर

पहुँचता है, वह प्रायः ऐसा समझता रहता है, कि यदि उसके सिद्धान्त उससे अलग हटा लिये जायं, तो उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा अथवा उसका सर्वनाश हो जायगा। नीचे की अवस्थाओं से यह अवश्य उन्नत अवस्था है। पर मनुष्य की आत्मा सिद्धान्त आदि से भी बहुत परे है।

इसके बाद क्रमशः मनुष्य के बुद्धि शरीर की उन्नति होती है; और चूंकि उसकी विशेषता एकता है, इस लिये उस अवस्था में पहुंचने पर मनुष्य प्राणी मात्र के साथ एकता का अनुभव करने लगता है। इससे भी आगे बढ़ने पर आत्मिक शरीर के विकास होने पर वह परमानन्द का अनुभव करने लगता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। जब ये सभी ऊपर वाले कोष क्रमशः उन्नत हो जाते हैं, तब एक समय ऐसा आता है, जब मनुष्य की आत्मा और जीवात्मा के मध्य विशेष सम्बन्ध अर्थात योग स्थापित हो जाता है। इस योग के पूर्ण हो जाने पर देहाभिमानी जीव तथा जीवात्मा का पूर्णतया विनाश हो जाता है, और मनुष्य शुद्ध आत्म स्वरूप में अनुपादक लोक पर पहुंच जाता है। जब यह अवस्था पहुंचती है, तब मनुष्य के विकास का फल पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाता है, और मनुष्य, मनुष्य न रह कर, महात्माओं की श्रेणी में पहुंच जाता है।

महात्मा पद पर पहुंचने पर मनुष्य जीव रूप से हट कर असली आत्म स्वरूप में पहुंच जाता है। आत्मा का प्रधान स्थान अनुपादक लोक है। पर महात्मा के पद पर पहुंचते २ उस में ऐसी शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं, कि अनुपादक

लोक से लेकर नीचे आत्म, बुद्धि, मानसिक, भुवः तथा भूः, जिस लोक में वह उतरना चाहे, उस लोक के शरीर का वह अपनी इच्छा शक्ति द्वारा निर्माण कर ले सकता है, और कार्य समाप्त हो जाने पर वह पुनः उस शरीर का नाश भी कर सकता है। स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा लोग आवागमन के बन्धन से मुक्त रहते हैं। उस पद पर पहुंचने पर नीचे के पांचों प्राकृतिक लोकों में कोई शक्ति ऐसी शेष नहीं रह जाती है जो उनको ज़बरदस्ती जन्म लेने के लिये मजबूर कर सके; पर उन में ऐसी शक्ति साधारण रूप से विकसित रहती है, कि जिस लोक में वे चाहें वे उतर जा सकते हैं, और जब चाहें तब वहां से वापस चले जा सकते हैं। उनका इस प्रकार का उतरना अथवा वापस जाना बिल्कुल स्वेच्छा पूर्वक होता है। जिस लोक में वे विशेष रूप से कार्य करना चाहते हैं, क्रिया शक्ति द्वारा वे उस लोक का एक शरीर अपने लिये बना लेते हैं, जिसको जब तक वे चाहें क़ायम रख सकते हैं। हां, एक बात और स्मरण रखनी चाहिये कि महात्मा लोग भिन्न २ लोकों पर केवल खेल कूद अर्थात् तमाशा करने के हेतु नहीं चढ़ते अथवा उतरते हैं। सब से पहले नोट करने की बात तो यह है कि महात्मा पद पर पहुंचने पर भी उनके लिये असीम विकास का द्वार खुला रहता है, जिसकी ऊँचाई का हम विचार तक नहीं कर सकते। वे उसी कार्य में लग जाते हैं। साथ ही इस अवस्था पर पहुंचने पर ईश्वर की शक्ति के साथ उनका ऐक्य हो जाता है; इस लिये उनका आगे का जीवन केवल ईश्वर की इच्छा अर्थात् विधान के अनुसार चलने के लिये रहता है।

ईश्वर की अनन्त लीला के भिन्न २ भागों को पूरा करने के लिये वे सज्ञान रूप से उस लीला के एक २ अङ्ग बन जाते हैं; और हमें प्रत्यक्ष रूप से यह बात प्रगट हो अथवा न प्रगट हो, पर वे सदा अदृश्य रूप से ईश्वरीय विधान के अनुसार विकास क्रम के संचालन में लगे रहते हैं।

महात्मा पद पर पहुंचने पर साधारणतः सात प्रकार के मार्ग उनके सामने खुले रहते हैं, जिन में से किसी एक को वे स्वेच्छा-पूर्वक ग्रहण कर सकते हैं। इन मार्गों पर विचार करते समय हमें इन में से किसी को एक दूसरे से छोटा अथवा बड़ा नहीं समझना चाहिये। सभी बराबर हैं। जिस महात्मा का जिसकी ओर विशेष झुकाव रहता है, वह उसको ग्रहण कर लेते हैं। आगे चल कर सभी मार्ग पर चलने वाले महात्मा अन्त में एक ही लक्ष पर पहुंचते हैं। उनमें से दो मार्ग ऐसे हैं, जिनके द्वारा वे निर्वाण मार्ग में प्रवेश कर जाते हैं; और आगे चल कर उनका कार्य किस प्रकार का होता है, इसका हम कुछ अनुमान नहीं कर सकते। धर्म ग्रन्थों में कहा गया है, कि वे धर्म-काय तथा संभोग-काय वाहन धारण करते हैं। पर इन शब्दों से क्या यथार्थ अभिप्राय है, इस का कुछ ठीक पता नहीं चलता। तीसरे मार्ग पर जाने वाले महात्मा इस ब्रह्माण्ड के सूर्य नारायण के साधारण अधिकारी वर्ग (Staff Corps) में दाखिल हो जाते हैं, और तमाम ब्रह्माण्ड के जिस लोक में जब जहां आवश्यकता होती है, तो वहां जा कर ये वहां का कार्य संभालते हैं। चौथे मार्ग पर चलने वाले महात्मा इस संसार माला के बाद आने

वाली संसार माला की तैयारी में लग जाते हैं। पांचवें मार्ग वाले महात्मा देव-विकास (Deva Evolution) की राह ग्रहण कर लेते हैं। छठां मार्ग उन महात्माओं का है, जो अदृश्य लोकों में निर्माण काय वाहन अथवा शरीर धारण कर इसी संसार अर्थात् पृथ्वी के साथ अपना सम्बन्ध क़ायम रखते हैं, अर्थात्, जो इस संसार के भिन्न २ वर्गों के विकास क्रम में सहायता पहुंचाने के लिये उच्च लोकों से ऊंचे दर्जे के प्रभाव संचालित करते रहते हैं। इस संसार के लिये उन्हें ऊँचे दर्जे के प्रभावों का महान् भण्डार कह सकते हैं। और सातवां मार्ग उन महात्माओं का है, जो स्थूल पार्थिव शरीर धारण कर इसी पृथ्वी के किसी भाग में आश्रम बना कर रहते हैं, और उनके अनेक गुप्त तथा महान् कार्यों के साथ २ उनका एक प्रधान कार्य यह भी रहता है, कि योग्य अर्थात् अधिकारी मनुष्यों को उच्च कोटि की योग शिक्षा दे कर उन की गुप्त शक्तियों के विकास में सहायता पहुंचाते हैं। इन्हीं को सद्गुरु कहते हैं।

ये ही सच्चे गुरु हैं, जो अधिकारो मनुष्यां को शिष्य ग्रहण कर आवागमन से रहित होने के सच्चे मार्ग का सदुपदेश करते हैं। अन्य मार्गों को ग्रहण करने वाले महात्माओं के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान प्रगट किया गया है, पर इन सद्गुरुओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त है। ये इस पृथ्वी के आध्यात्मिक शासन के भिन्न २ पदों को ग्रहण कर अपना कार्य करते हैं। इस आध्यात्मिक शासन का कुछ वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। इन महान् सद्गुरुओं के कार्यों का भी हम अनुमान

नहीं कर सकते। साधारणतः मनुष्य मात्र के जीवों के विकास के सम्बन्ध में अदृश्य ऊंचे लोकों में इनका कार्य होता रहता है। किसी विशेष व्यक्ति से इनका विशेष सांसारिक तात्पर्य नहीं रहता है। ये तो केवल विकास कार्य के सहायक होते हैं। मनुष्य मात्र के साहाय्य तथा उत्थान के निमित्त ये निर्वाण पद के अनन्त आनन्द का त्याग किये रहते हैं। इनका सर्वस्व जीवन ही सेवा-मय होता है। इसलिये यद्यपि किसी मनुष्य के सांसारिक जीवन से इन्हें कुछ विशेष तात्पर्य नहीं रहता है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य के जीव के विकास से इन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस-लिये ये सदा इस ताक में रहते हैं, कि कब कोई मनुष्य सांसारिक सुखों की ओर से मुख मोड़ कर अचल आनन्द की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की सच्ची अभिलाषा की ओर ध्यान फेरेगा, कि जिसमें ये उसकी विशेष रूप से सहायता कर सकें। पर स्मरण रखना चाहिये कि व्यक्तिगत मुक्ति, जिसमें स्वार्थ का भाव भरा हो, उससे इन्हें कोई सरोकार नहीं है। ये तो स्वयं मोक्ष प्राप्त कर संसार की सेवा के निमित्त संसार के साथ स्वेच्छा पूर्वक अपना सम्बन्ध स्थापित किये रहते हैं। सूर्य नारायण (Solar Logos) के ये सच्चे सेवक हैं। इसलिये ये भी ऐसे ही मनुष्यों को चाहते हैं, जो सेवा भाव से भरे रहते हैं, जिन में संसार से वैराग्य अर्थात् विरक्तता इसलिये नहीं होती है, कि वे स्वतः आवागमन के झंझटों से पार हो जायें, बल्कि इसलिये होती है, कि वे सांसारिक दुःखों का कारण ढूंढ़ कर उन से निवृत्त होने का मार्ग निकाल सकें और संसार को दुःखों से बचाने

के हेतु दिव्य शक्ति के रूप धारण कर सकें, अर्थात्, जिनमें निःस्वार्थता के साथ २ सेवा का भाव कूट कूट कर भरा हो। इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ आगे गुरु शिष्य प्रणाली के सम्बन्ध में वर्णन किया जायगा।

इन बातों को सुन कर मनुष्य को सब से पहले बहुधा आश्चर्य होता है, कि क्या ऐसे मनुष्य वास्तव में हो सकते हैं? यदि हो सकते हैं, तो उनके आश्रम कहां हैं, मनुष्यों के मध्य में वे प्रगट क्यों नहीं होते, और उन के पास कैसे पहुंचा जा सकता है? इनके अस्तित्व की सम्भावना के सम्बन्ध में तो ऊपर विचार किया जा चुका है। इनकी प्राप्ति के मार्ग पर आगे किसी अध्याय में विचार किया जायगा। पर यहां पर इनके अस्तित्व तथा निवास आदि के सम्बन्ध में कुछ और विचार कर लेना चाहिये।

इन महात्माओं के सम्बन्ध में हमेशे एक बात का ख़्याल रखना चाहिये, कि ये अत्यन्त उदार भाव के होते हैं। हम लोगों के ऐसा जाति, देश अथवा धर्म के भेद इनमें नाम मात्र को नहीं पाये जाते हैं। ये मनुष्य मात्र के लिये होते हैं। जिस प्रकार प्रकाश, वायु, आदि, मनुष्य मात्र के लिये एक हैं, वैसे ही ये महात्मा लोग भी मनुष्य मात्र के लिये एक भाव से होते हैं। फिर भी अपने २ कार्यों के संचालन की सुविधा के अनुसार ये भिन्न २ विशेष स्थानों में आश्रम बना कर रहते हैं। ऐसे आश्रम जगह २ पर तमाम संसार में वर्त्तमान हैं। पर भारत वर्ष ऐसे आश्रमों का प्रधान केन्द्र जान पड़ता है। ये बहुधा ऐसे

निर्जन, अगम्य स्थानों में, पहाड़ों अथवा तराइयों में आश्रम बनाते हैं, जहां साधारण तौर से मनुष्य इनको तंग नहीं कर सकते, और इनके महत्व पूर्ण कार्यों में बाधा नहीं पहुंचा सकते। इस से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मनुष्यों के झंझटों से ये अपने को दूर रखना चाहते हैं। मनुष्यों के झंझटों को निपटाने के लिये ही तो ये अपने निर्वाणानन्द को त्याग कर इस पृथ्वी के साथ सम्बन्ध क़ायम रखते हैं। इनका इस प्रकार संसार में रहते हुए भी संसार से अलग रहना ठीक वैसा ही है, जैसा कार्य के समय हमारा अपने को बच्चों से अलग रखना है। इस प्रकार से अपने को अलग रखने का यह मानी थोड़े लगाया जा सकता है, कि हम अपने बच्चों से प्रेम नहीं रखते अथवा उनके लिये कोई कार्य नहीं करना चाहते। और इन महात्माओं के सम्बन्ध में तो ऐसा भाव और भी प्रधान रूप से कदापि लागू नहीं हो सकता। जिन लोगों को इन के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे सभी एक स्वर से कहते हैं, कि ये दया, प्रेम तथा सेवा के पूर्ण अवतार होते हैं।

संसार से अपने को अलग रखने और अपने स्थूल शरीर द्वारा संसार के मध्य में प्रगट न होने का प्रधान कारण यह है, कि क्रिया शक्ति द्वारा ये अपने लिये जिन स्थूल शरीरों का निर्माण करते हैं, वे अत्यन्त पवित्र, कोमल तथा सूक्ष्म उपतत्त्वों के बने हुए अत्यन्त प्रभावशील होते हैं। इस संसार के रात दिन के प्रतिकूल कम्पों से उन शरीरों का शीघ्र नाश हो जा सकता है। पर उन का ध्यान केवल अपने स्थूल शरीरों को ही

संभालने और दुरुस्त करने में नहीं लगा रहता है। इसलिये अपने महान् कार्यों के संचालन के .ख्याल से ही वे अपने स्थूल शरीरों को साधारण सांसारिक वातावरण से बचा कर रखते हैं। फिर भी ऐसा नहीं होता है, कि कभी वे अपने स्थूल शरीर को संसार में लाते ही न हों। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब उन्हों ने अपने स्थूल शरीरों को इस संसार में मनुष्यों के मध्य में उतारा है। पर ऐसा कभी २ ही होता है। साधारणतः ये वासना देह अथवा मानसिक शरीरों द्वारा ही मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं सूक्ष्म शरीरों द्वारा वे संसार में जहां आवश्यकता होती है, वहां बात की बात में पहुंच जाया करते हैं। अगर कहीं स्थूल रूप में प्रगट होना आवश्यक हुआ, तो यह भी तो उनके लिये महज़ साधारण बात है। वे फौरन वहीं पर एक नया स्थूल शरीर बना कर प्रगट हो जाते हैं और कार्य समाप्त होने पर उस का वहीं विनाश भी कर देते हैं। इस प्रकार अपने असली स्थूल शरीर को हमेशे व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस भांति ये अपने स्थूल शरीरों को स्वास्थ्यकर वातावरण में रख कर उन्हें कई सौ क्या, कई हज़ार वर्षों तक क़ायम रख सकते हैं।

इन महात्माओं के अस्तित्व, निवास तथा कार्य आदि के सम्बन्ध में इस समय के अनेक जीवित मनुष्यों की शहादतें मौजूद हैं। उनके कई शिष्य आज कल संसार में वर्त्तमान हैं, जिनको सूक्ष्म लोकों में तथा भूलोक में भी उनका साक्षात्कार हुआ है, जो उन से शिक्षा तथा दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं और

जो उनके आश्रमों को भी एक बार क्या अनेकों बार देख आये हैं। भिन्न २ महात्माओं के सम्बन्ध भिन्न २ संस्थाओं से रहते हैं, पर थियोसौफ़िकल सोसाइटी के साथ भी ऐसे महात्माओं के विशेष रूप से सम्बन्ध हैं, जिनके आश्रम तिब्बत में हैं। मैडेम एच्० पी० ब्लैव्हैट्स्की, जो रूस देश की रहने वाली महिला थीं, दो बार तिब्बत गई थीं, और उन्हों ने उन महात्माओं से योगाभ्यास सीखा था। उन्हीं के आज्ञानुसार मैडेम ब्लैव्हैट्स्की ने थियोसौफ़िकल सोसाइटी की स्थापना की, और उनके तथा कुछ अन्य महात्माओं की ही प्रेरणा से उन्हों ने 'गुप्त रहस्य' (Secret Doctrine) तथा 'रहस्य उद्घाटन' (Isis Unveiled) आदि अनेक अत्यन्त दुर्लभ ग्रन्थों का अङ्गरेज़ी भाषा में अवतरण किया था। इन ग्रन्थों में सृष्टि तथा जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के रहस्यों पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है, जो प्रस्तुत धर्म पुस्तकों में अन्यत्र कहीं भी उस स्पष्टता तथा विस्तार के साथ नहीं पाये जाते। ऊपर के पुस्तकों के पढ़ने से मालूम होता है कि उनका लिखना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है, और इसलिये अवश्यमेव किसी विशेष दैवी शक्ति की सहायता से वे लिखी गई होंगी। खेद है कि इन अमूल्य रत्नों का अभी तक हिन्दी भाषा में अनुवाद नहीं हो पाया है, और न निकट भविष्य में उनके अनुवाद की कोई आशा ही दीख पड़ती है।

ख़ैर, मैडेम ब्लैव्हैट्स्की तो आज हम लोगों के मध्य में उस देह में नहीं हैं, न उनके बाद उनका स्थान ग्रहण करने वाली

श्रीमती डा० एनी बेसेन्ट अभी स्थूल शरीर में वर्त्तमान हैं, पर बिशप लेडबीटर, मि० जिनराजदास, बिशप अरण्डेल, आदि, अनेक व्यक्ति अभी भी हमारे मध्य में वर्त्तमान हैं, जिन्हों ने इन महात्माओं का दर्शन किया है, जो उनके आश्रमों पर गये हैं, जिन्हों ने उन से सदुपदेश ग्रहण किया है, जिनको उनके शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और जो उनके आदेशानुसार संसार में भिन्न २ क्षेत्रों में सेवा कार्य में लगे हुए हैं। इनकी पुस्तकों से इन बातों पर बहुत प्रकाश पड़ता है। हाल में बिशप लेडबीटर ने "महात्मागण तथा महान् मार्ग" (The Masters and the Path) नाम की एक पुस्तक लिखी है, जिस में महात्माओं के अस्तित्व, उनके रहने के स्थान, उनके कार्य तथा उनके पास पहुँचने के मार्ग आदि विषयों पर उन्होंने बहुत वृहत् प्रकाश डाला है। उसमें दीक्षा सम्बन्धी अनेक ऐसी रीतियों के वर्णन हैं, जो पहिले पहिल प्रकाशित किये गये हैं।

इस से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इन जीवन मुक्त महात्माओं के साथ केवल थियोसौफ़िकल सोसाइटी को ही सम्बन्ध है। यह तो उन से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं में से केवल एक संस्था है। अन्य संस्थाओं से भी महात्माओं के बारे में बहुत कुछ ज्ञान हासिल किया जा सकता है। प्रत्येक संस्था का एक विशेष कार्य हुआ करता है और इस प्रकार थियोसौफ़िकल सोसाइटी का भी एक विशेष संसार-व्यापी कार्य है, जिसके संचालन के हेतु महात्माओं ने इसके द्वारा अनेक रहस्यों को, जो अब तक प्रकाशित नहीं थे, प्रगट किया है।

महात्माओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐसी शहादतें अनेक प्रकारों से मिल सकती हैं। पर सब से बढ़ कर शहादत तो अपने अनुभव की होती है। आगे वर्णन किया जायगा कि हम भी इन महात्माओं के समीप कैसे पहुंच सकते हैं, पर बिना पहुँचे भी मनुष्य के हृदय के भीतर कुछ ऐसी शक्ति वर्त्तमान है, जो प्राकृतिक तथ्यों के बारे में सुनते ही उसे जना देती है, कि कौन बात सत्य है और कौन असत्य है। उसमें तर्क वितर्क का स्थान नहीं रहता। इसलिये पहिले तो तर्क वितर्क द्वारा देखना चाहिये कि महात्माओं के अस्तित्व की बात सम्भव हो सकती है अथवा नहीं; और तब उस हृदयास्थित गुप्त विवेचनात्मक शक्ति अर्थात् अन्तःस्फूर्ति (Intuition) द्वारा यह जानने की कोशिश करनी चाहिये कि इस में सत्य है अथवा नहीं। उस शक्ति की आवाज़ सुनना कठिन है, पर चित्त को शांत कर उसकी ओर ध्यान ले जाने से कभी २ उसका प्रकाश मनुष्य को व्यक्त हो जाता है; और एक बार जहां उसके प्रकाश ने किसी वस्तु को सत्यता का निर्णय प्रगट किया, कि फिर तर्क वितर्क का कुछ काम नहीं रह जाता। हो सकता है, कुछ दिनों के लिये तर्क वितर्क उस छोटी गुप्त वाणी को दबा दे, पर फिर वह अपने को सुनाये बिना दम नहीं ले सकती। इसलिये इन प्रश्नों की सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय स्वतः अपने हृदय की गुप्त, शान्त वाणियों को सुन कर करना चाहिये; और आगे चल कर योग्यता प्राप्त कर के स्वतः उनका अनुभव ज्ञान प्राप्त कर उनका समर्थन अथवा विरोध करना चाहिये।

सद्‌गुरु ही हमारे सच्चे पथ प्रदर्शक हैं। एक समय था, जब ये भी हमारे ही सरीखे भवसागर में डूबते उतराते, गोते खाते रहते थे। जन्म जन्मान्तर के सतत् प्रयत्न द्वारा ये पूर्णता को प्राप्त कर जीवन-मुक्त हो गये हैं। पर फिर भी इन्हों ने हम को बिसारा नहीं हैं। भवसागर पार हो दूसरे किनारे पर खड़े हो कर अपनी बिमल ज्योति द्वारा ये समस्त संसार को प्रकाशित करते रहते हैं, और हमें इस बात की याद तथा विश्वास दिलाते रहते हैं, कि जहां ये पहुंचे हैं, वहां एक न एक दिन हम में से प्रत्येक प्राणी अवश्य पहुंचेगा।

चौदहवां अध्याय

महान् ऋषिसंघ—संसार का आध्यात्मिक संचालन

इस से पहिले वाले अध्याय में दिखलाया जा चुका है, कि इस देश में ऋषि, महात्माओं अथवा देवताओं के अस्तित्व में व्यापक रूप से विश्वास पाया जाता है। साधारण तौर से लोग समझते हैं, कि हमारे प्रत्येक कार्य से किसी न किसी देवता का अवश्य सम्बन्ध है। कहते हैं कि हमारे संसार से सम्बन्ध रखने वाले देवताओं की संख्या अट्ठासी हज़ार है। स्थूल भाव से वे ये भी समझते हैं कि भिन्न २ श्रेणी के देवताओं के कार्यक्षेत्र भिन्न २ हैं, जैसे, अग्नि के देवता, जल के देवता, पानी बरसाने के देवता, गर्भ में बच्चे की देख रेख करने वाले देवता, मृत्यु पश्चात् स्वर्ग अर्थात् नर्क में पहुँचाने वाले देवता, इत्यादि, प्रत्येक कार्य के पृथक् २ देवता हैं। पर न तो उन्हें भिन्न २ देवताओं के विशेष कार्यों का स्पष्ट ज्ञान है और न उन देवताओं अथवा महात्माओं के संगठन के ही सम्बन्ध में आज उन्हें कुछ ज्ञान रह गया है।

साधारण बोल चाल में देवता तथा महात्मा शब्दों को लोग एक ही अर्थ में व्यवहार करते हैं। पर स्मरण रखना चाहिये कि वास्तव में महात्मा और देव अथवा देवता दो भिन्न २ श्रेणी के होते हैं। महात्मा तो पूर्णता प्राप्त मनुष्यों को कहते हैं, जो आवागमन से रहित हो कर जीवनमुक्त हो जा चुके हैं। पर

देवता से इस दर्जे के ही प्राणियों (Beings) से अभिप्राय नहीं है। वास्तव में इस संसार में भी विकास की अनेक प्रणालियां एक साथ कार्य कर रहीं हैं। उन में से एक प्रणाली में मनुष्य का स्थान आता है। यह प्रणाली खनिज, वनस्पति पशु तथा मनुष्य वर्गों से होती हुई महात्माओं की श्रेणी से होकर आगे बढ़ती है। इसके साथ देवगण का विकास एक दूसरी ही विकास प्रणाली द्वारा होता रहता है। जिस प्रकार हम लोगों की प्रणाली में भिन्न २ श्रेणियों के जीव पाये जाते हैं, जो अवस्था में मनुष्य से ऊपर भी हैं और नीचे भी हैं, उसी प्रकार देव विकास प्रणाली में भी देवगण भिन्न २ श्रेणियों के होते हैं, जिन में कुछ मनुष्य की अवस्था की समान अवस्था वाले होते हैं, कुछ उससे नीची अवस्था वाले और कुछ उससे ऊंची अवस्था वाले होते हैं। उनका क्रम भी भिन्न है। चीटियों, मधुमक्खियों, कीड़ों, सर्पों तथा चिड़ियों की योनियां देव विकास प्रणाली में ही पड़ती हैं; मानव विकास प्रणाली में नहीं। इसके बाद भिन्न २ श्रेणी की परियों के वर्ग से होती हुई वह प्रणाली काम देव, रूप देव, अरूप देव, आदि, को श्रेणियों में पहुँचती है। अरूप देवों का स्थान महात्माओं के स्थान के बराबर होता है, पर उससे भी बहुत आगे बढ़ने पर ही दोनों विकास प्रणालियां मिल कर एक हो जाती हैं। इस प्रकार सात प्रकार की विकास प्रणालियां कार्य कर रही हैं। इन सभों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान अभी तक नहीं प्रगट किया गया है। जो प्रकाशित हुआ है, वह भी अत्यन्त सुन्दर है, पर यहां पर इस सम्बन्ध में

इससे अधिक वर्णन करना सम्भव नहीं है।

ख़ैर, यह भी पहले दिखलाया जा चुका है, कि साधारण तौर से दैनिक पूजा पाठ में भी देवताओं तथा महात्माओं के नाम आते हैं। उनका नित्य प्रति उच्चारण किया जाता है, पर हम बहुधा उनके तात्पर्य को नहीं जानते हैं। आम तौर से हमें नहीं मालूम है कि मनु, बुद्ध, जगद्गुरु, आदि, शब्दों से क्या अभिप्राय है। साधारणतः हम समझते हैं कि ये भिन्न २ महात्माओं के नाम हैं। पर ऐसा समझना भूल है। ये किसी महात्मा के व्यक्तिगत नाम नहीं हैं। इनसे महात्माओं के भिन्न २ पदों का अभिप्राय है। हो सकता है कि किसी एक पद पर आज कोई एक महात्मा हों और कल उसी पद पर दूसरे महात्मा हों; क्योंकि महात्माओं का भी विकास होता रहता है, और इस लिये उनके पद परिवर्तन में भी कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है।

पर खेद है कि इन महात्माओं के पदों पर पहुंचने के लिये कोशिश करना तो दूर रहे, वह तो वास्तव में बहुत दूर की बात है, पर हम यह भी नहीं जानते हैं, कि किस पद से क्या अभिप्राय है। उदाहरणार्थ जो एम्० ए०, बी० ए०, डाक्टरी अथवा इंजिनियरिंग आदि विषयों को कुछ भी नहीं जानते, वे भी कम से कम इतना समझते हैं, कि एम्० ए० का दर्जा बी० ए० से बढ़ कर है; डाक्टर वह है जो बिमारियों को पहिचानता है और उनकी दवा इलाज करता है; इंजिनियर वह है जो तरह २ की कलों मशीनों के भेद जानता है और उन से कार्य कराता है;

इत्यादि। पर धार्मिक क्षेत्र के पदों के बारे में, जिन का हमारे आध्यात्मिक जीवन सें इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, हमें आज़ इतना साधारण ज्ञान भी नहीं है।

यहां पर देवताओं की श्रेणियों तथा कार्यों का कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। पर महात्माओं के कुछ पदों का वर्णन किया जायगा, जिन का हमारी पृथ्वी अथवा हमारे संसार से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस संसार के लिये महात्माओं का एक विशेष संगठन है। उस को समझने के लिये विश्व व्यापी संगठन की ओर थोड़ा ध्यान ले जाना ज़रूरी है। युगों के वर्णन में यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार विश्व अनन्त ब्रह्माण्डों में बंटा हुआ है। उन ब्रह्माण्डों के भी बिभाग और संगठन हैं, पर इनके बारे में हम कुछ नहीं जानते। इस पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान प्राप्त है। कहा जाता है कि इस के अधिपति एक ईश्वर हैं, जिन्हें सूर्य नारायण कहते हैं। उनके नीचे सात ध्यान चौहान हैं, जो एक २ महान् विकास प्रणाली के चार्ज में हैं। ये भी ऐसे ऊंचे पदों के महात्मा हैं, कि अब तक इनके बारे में भी बहुत कम ज्ञान प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक विकास प्रणाली में सात संसार मालायें होती हैं, प्रत्येक संसार माला में सात संसार चक्र होते हैं और प्रत्येक संसार चक्र में सात संसार काल होते हैं। इन सभों के संचालन के निमित्त महात्माओं के भिन्न २ संगठन हैं। वर्त्तमान संसार चक्र में भी तीन लोकों पर सात संसार है, जिनका चौथा संसार यह पृथ्वी है। इनके भी संचालन के लिये अलग २

संस्थायें हैं। उन सभी संस्थाओं से अभी हमें विशेष सरोकार नहीं है। अभी तो हम केवल इसी पर विचार करेंगे, कि हमारे संसार के लिये अर्थात् पृथ्वी के आध्यात्मिक संचालन के लिये महात्माओं का कैसा संगठन है।

इस संसार के आध्यात्मिक संचालन के लिये जो महात्माओं का संघ है, उसको महान् श्वेत संघ अथवा ऋषि संघ कहते हैं। इस संघ का केन्द्र भारतवर्ष के उत्तर हिमालय पर्वत पर है। हिमालय पर्वत के उत्तरी भाग में मध्य एशिया की ओर एक स्थान है, जिसको श्वेत द्वीप कहते हैं। श्वेत द्वीप इसका नाम उस समय पड़ा था, जब वहां एक महासागर बहता था, और वह उस महासागर में एक द्वीप था। बहुत काल बीते उधर की ज़मीन पानी से ऊपर उठ आई और आज उस स्थान की चारों ओर रेगिस्तान अर्थात् मरुभूमि है। इस श्वेत द्वीप में एक स्थान है, जिसे शम्बल्ला कहते हैं। यह ऐसे दुर्गम स्थान पर है, कि कोई मनुष्य स्थूल देह लेकर वहां नहीं पहुंच सकता है। पर सूक्ष्म शरीरों द्वारा अनेक अधिकारी पुरुष वहां गये हैं और अपने निजी अनुभव द्वारा उसके अस्तित्व का समर्थन करते हैं।

यहीं पर इस संसार के आध्यात्मिक राजा का निवास स्थान अर्थात् आश्रम है। उस उच्चतम पद पर एक अत्यन्त उच्चकोटि के महात्मा रहते हैं। उनके बारे में बहुत कुछ ज्ञान नहीं हासिल है। हां, उनके नाम से हम हिन्दू लोग अवश्य परिचित हैं, पर हम उनको इस क़दर भूल गये हैं, कि कभी अपने व्यावहारिक जीवन में हमें ऐसा ख़्याल नहीं होता है, कि हमारे संसार के

आध्यात्मिक शासक ऐसे महान महात्मा हैं। नाम लेते ही प्रायः प्रत्येक हिन्दू समझ जायगा कि इनका वर्णन तो हमारे धर्म ग्रन्थों में आया है। पर धर्म-ग्रन्थों से आगे बढ़ कर जीवन से उससे कोई सरोकार नहीं रह गया है। हमारे विश्वास निर्जीव तथा निराधार हो गये हैं। क्या इन महात्माओं पर हम ऐसा ही विश्वास रखते हैं, जैसा, न देखे रहने पर भी, बड़े लाट साहेब पर अथवा अन्य बड़े अफसरों पर हमारा विश्वास है, कि वे हमारे ऊपर शासन कर रहें हैं? कदापि नहीं।

यहां पर एक ज्योतिषी की एक छोटी कहानी याद आती है। हम जानते हैं कि ज्योतिष शास्त्र का सम्बन्ध ग्रहों तथा नक्षत्रों से है, जो सूर्य के इर्दगिर्द चक्कर दिया करते हैं। एक बार कहीं कई दोस्तों के बीच में शुक्र ग्रह की बात निकल आई और रात के समय शुक्र की ओर इशारा कर के वे आपस में बातें करने लगे। एक ज्योतिषो जी भी वहीं मौजूद थे। अपने ज्ञान के घमण्ड में वह चूर तो थे ही, उन लोगों को इस प्रकार आकाश की ओर इशारा करके शुक्र के सम्बन्ध में बातें करते देख कर फौरन ज्योतिषी जी बोल उठे, 'अरे, भाई, तुम कैसे मूर्ख हो? शुक्र कहीं आकाश में हैं। वह तो ज्योतिष शास्त्र की पुस्तकों में हैं।' पाठक गण स्वयं विचार सकते हैं कि इनमें कौन बुद्धिमान था और कौन मूर्ख। आज हमारी भी ठीक उसी ज्योतिषी की सी हालत हो रही है। हमारे सामने जब प्राचीन रहस्यों के सम्बन्ध में कोई नई बातें पेश की जाती हैं, जिनसे प्राचीन रहस्यों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, तो उन बातों को सुन कर उन से

लाभ उठाने के बदले, हम बहुधा यही कह कर अपने अधिक ज्ञान का परिचय दिया करते हैं, कि ये बातें तो बहुत पहिले से ही ऋषियों ने हमारी पुस्तकों में लिख रखी हैं। न जानें भगवान हमें कब ऐसी सद्बुद्धि देंगे, कि चाहे किसी भी श्रोत से मिले, हम हमेशे सच्चे ज्ञान को ग्रहण करने के लिये तत्पर तथा उत्सुक बने रहेंगे।

अस्तु, इस पृथ्वी के आध्यात्मिक राजा का नाम है भगवान सनत कुमार। धर्म ग्रन्थों में चार कुमारों के ज़िक्र पाये जाते हैं: सनक, सनन्दन, सनातन और सनत। ये चारों कुमार आज से कई लाख वर्ष पूर्व शुक्र ग्रह से इस पृथ्वी पर इसके आध्यात्मिक शासन के उच्चतम पदों को ग्रहण करने के लिये अवतरित हुए थे। इनको शुक्र से यहां आने की आवश्यकता इस कारण हुई कि उस समय तक क्या, आज तक हमारे मानव समाज में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ है, जो इनके उच्च पदों को ग्रहण कर सके। शुक्र ग्रह इस पृथ्वी से अधिक उन्नत अवस्था पर है। हमारे यहां चौथी संसार माला का काल बीत रहा है, और जिस संसार माला में शुक्र ग्रह का स्थान पड़ता है, उसमें पांचवीं संसार माला का काल बीत रहा है। इस लिये शुक्र पर के रहने वाले मनुष्य हमारे यहां के मनुष्यों से बहुत अधिक उन्नत हैं। पहिले कहा जा चुका है, कि आवश्यकता पड़ने पर महात्मा लोग एक संसार माला से दूसरी संसार माला पर अथवा एक ब्रह्माण्ड से दूसरे ब्रह्माण्ड में भी जा कर कार्य कर सकते हैं। इन चारों कुमारों में सब से श्रेष्ठ भगवान सनत कुमार हैं, और शेष तीनों

कुमार उनके शिष्य हैं।

इनको कुमार इस कारण कहा गया है, कि जो शरीर इन्हों ने लाखों वर्ष पूर्व क्रिया-शक्ति द्वारा निर्माणित किया था, वही शरीर आज भी ज्यों के त्यों वर्त्तमान है; और जब तब उनका सम्बन्ध इस पृथ्वी से रहेगा, तब तक वे वैसे ही रहेंगे। लाखों लाख वर्षों के बाद भी उनके निर्माण किये शरीरों में कुछ अन्तर नहीं दीख पड़ता। जिनको उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे कहते हैं, कि वे आज भी सोलह वर्ष के कुमार की नाईं दीख पड़ते हैं, और अन्त काल तक ऐसे ही रहेंगे। इसी लिये इन्हें कुमार कहते हैं। इनकी शक्ति कितनी विशाल है, इसका हम कुछ अनुमान नहीं कर सकते। इनकी चेतन्यता इतनी उन्नत है, कि कहा जाता है कि यह पृथ्वी इनके हाथों में एक छोटे गेंद के रूप में मालूम पड़ती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी के विकास क्रम को ये सदा देखते रहते हैं; इसका कोई लोक अथवा इसकी कोई आवश्यकता ऐसी नहीं है, जिसको ये सदैव न देखते हों और जिसको पूरी करने के लिये उचित शक्ति का संचार सदा न किया करते हों। यह भी कहा जाता है कि इनके इस पृथ्वी पर आ कर रहने तथा अत्यन्त उच्च कोटि की शक्तियों के ही प्रवाह करने का यह नजीता हुआ है, कि हमारे संसार का मानव समाज इस उन्नति को प्राप्त हो सका है, जिस पर हम आज इसे पाते हैं; नहीं तो बहुत जमाने के बाद ही हम प्रस्तुत अवस्था पर पहुंच सकते थे। इन्हीं की स्वीकृति मिलने पर कोई मनुष्य ऋषि संघ में दाखिल हो सकता है।

इस आध्यात्मिक शासन के तीन मुख्य विभाग हैं : शासन विभाग, शिक्षा विभाग और कार्य (Activity) विभाग। ये तीन विभाग इस संसार में ईश्वर के तीन स्वरूपों तथा गुणों के प्रतिरूप हैं। ईश्वर के तीन स्वरूप सत्, चित् और आनन्द कहे जाते हैं। इन्हीं को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा महेश भी कहते हैं। इनमें से शिव स्वरूप का स्थान आदि लोक में है, विष्णु स्वरूप का अनुपादक लोक में और ब्रह्मा स्वरूप का आत्म लोक में। पर वास्तव में तीनों एक ही सत्ता के तीन भिन्न २ स्वरूप हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करते समय लोकों से हम लोगों के संसार से सम्बन्ध रखने वाले लोकों को नहीं समझना चाहिये, बल्कि प्राकृतिक लोकों को समझना चाहिये। मनुष्य में इन तीन स्वरूपों (aspects) के प्रतिरूप इच्छा, ज्ञान तथा कार्य—ये तीन प्रकार की शक्तियां पाई जाती हैं। ऊपर के तीन विभागों में इच्छा अथवा कल्पना शक्ति का सम्बन्ध शासन विभाग से है, ज्ञान शक्ति का सम्बन्ध शिक्षा विभाग से है और कार्य शक्ति का सम्बन्ध कार्य विभाग से है।

शासन विभाग के उच्चतम संरक्षक भगवान सनत कुमार हैं। इसी विभाग में उनसे नीचे वाले पद पर तीन अन्य कुमार हैं, जिनका ज़िक्र पहिले किया जा चुका है। उनको प्रत्येक-बुद्ध भो कहते हैं। प्रत्येक-बुद्धों के नीचे मनु भगवान का स्थान आता है। भगवान सनत कुमार तो इस संसार के सभी विभागों की देख रेख किया करते हैं और उनके तीन शिष्य उनकी सहायता करते हैं। पर विशेष रूप से इस संसार के

शासन विभाग का भार मनु भगवान पर ही रहता है।

शिक्षा विभाग के प्रधान संरक्षक बुद्ध भगवान हैं। पर इसके संचालन का विशेष भार भगवान जगद्गुरु पर रहता है, जिन्हें बौद्ध धर्मावलम्बी बोधिसत्त्व भी कहते हैं, जिसका अर्थ है जो बुद्ध होने वाला हो, क्योंकि बोधिसत्त्व ही आगे चल कर बुद्ध पद को प्राप्त होते हैं। बुद्ध और प्रत्येक-बुद्ध एक ही श्रेणी के महात्मा होते हैं। इसी प्रकार मनु और बोधिसत्त्व भी एक ही श्रेणी के होते हैं। पर इन दोनों में अन्तर यही है कि मनु तथा प्रत्येक-बुद्ध शासन बिभाग अथवा शासन रश्मि के अधिष्ठाता होते हैं, जिसे प्रथम रश्मि भी कहते हैं; और बोधिसत्त्व तथा बुद्ध शिक्षा विभाग अथवा शिक्षा रश्मि के—जिसे द्वितीय रश्मि भी कहते हैं—अधिष्ठाता हैं।

कार्य विभाग के संरक्षक भगवान महाचौहान हैं। महाचौहान का दर्जा मनु अथवा बोधिसत्त्व के दर्जों के बराबर होता है। पर कार्य क्षेत्र सब का भिन्न २ है। भगवान महाचौहान इस संसार से सम्बन्ध रखने वाले शेष पांच रश्मियों के अधिष्ठाता होते हैं।

अब यहां पर रश्मियों की बात निकल आई। सात प्रकार की रश्मियां हैं, जो क्रमशः सात विकास प्रणालियों के ग्रहाधिपतिओं (Planetary Logoi) से निकलती हैं। प्रत्येक मनुष्य में ये सातों रश्मियां पाई जाती हैं, पर विशेषता किसी एक ही रश्मि की होती है। मनुष्य के जीवन के आरम्भ काल में यह विशेषता प्रायः छिपी रहती है, पर जैसे २ मनुष्य उन्नति

करता जाता है, उसकी प्रधान रश्मि विशेष रूप से प्रगट हो जाती है, जो उस के स्वभाव (Temperament) से प्रगट होने लगती है। इस प्रकार सात प्रकार के स्वभावों वाले मनुष्य पाये जाते हैं। इन रश्मियों के सम्बन्ध में अभी तक बहुत थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ है। साधारणतः इन रश्मियों के प्रधान गुणों को इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं: प्रथम रश्मि की विशेषता इच्छा अथवा कल्पना शक्ति है। दूसरी रश्मि की विशेषता शिक्षा अथवा ज्ञान है। तीसरी रश्मि के मनुष्यों में सहयोगिता (adaptability) का गुण प्रधान रूप से पाया जाता है। चौथी रश्मि की विशेषता सौन्दर्य है। पांचवीं रश्मि के लोग वैज्ञानिक प्रवृत्ति वाले होते हैं। छठीं रश्मि के लोगों में भक्ति का भाव प्रधान रूप से पाया जाता है, और सातवीं रश्मि के लोग भांति २ के रस्म रेवाजात, विधि विधान द्वारा कार्य करते हैं।

कहा जाता है कि तीसरे से सातवें दर्जे की रश्मियों वाले मनुष्य इस संसार में रह कर हद से हद महाचौहान के दर्जे तक विकास कर सकते हैं। इस के बाद भी यदि वे इस संसार से सम्बन्ध रखना चाहें, तो उन को अपने को पहली अथवा दूसरी रश्मि पर बदल लेना पड़ता है; नहीं तो दूसरे संसारों में जा कर उन्हें अपना आगे का विकास पूरा करना पड़ता है। इसी प्रकार दूसरी रश्मि वाले महात्मा इस संसार से सम्बन्ध रख कर बुद्धावस्था तक जा सकते हैं। इस के बाद या तो वे अपने को पहली रश्मि पर बदल लेते हैं, अथवा अन्यत्र किसी दूसरे संसार में जाकर आगे का विकास क्रम पूरा करते हैं। इसी प्रकार

पहली रश्मि वाले महात्मा इस संसार में संसार के आध्यात्मिक राज्य पद तक जा सकते हैं। पर इन अत्यन्त ऊँचे पदों के आगे भी न मालूम कितनी अधिक ऊँचाई तक विकास की सीढ़ियां बढ़ती गई हैं। वास्तव में भगवान की लीला अपरम्पार है !

मनु, जगद्गुरु तथा महाचौहान के नीचे महात्माओं का एक वर्ग होता है, जिन्हें चौहान कहते हैं; और उन के नीचे अशेष महापुरुषों अर्थात् जीवन-मुक्त महात्माओं अथवा ऋषियों का दर्जा है, जिस की एक शाखा में सद्गुरु पाये जाते हैं, जिन का कुछ वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इन के बाद अनेक श्रेणियों के देवता आदि पाये जाते हैं, जिन के द्वारा ये महात्मा इस संसार के भिन्न २ लोकों के कार्यों का संचालन करते हैं।

ऋषि संघ के एक श्रेणी के सदस्य उन्नति प्राप्त मनुष्य भी होते हैं, जिन्होंने किसी सद्गुरु द्वारा शिक्षा पा कर दीक्षा प्राप्त की है। दीक्षा पाते ही वे इस संघ के सदस्यों में दाखिल हो जाते हैं। इन की भी चार प्रधान श्रेणियां हैं, जिन का वर्णन आगे पाया जायगा।

शासन विभाग का प्रधान कार्य भिन्न २ जातियों तथा उप-जातियों के संस्थापन, उत्थान तथा पतन सम्बन्धी प्रबन्ध करना है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक संसार काल में सात मूल जातियां होती हैं और प्रत्येक मूल जाति की सात २ उप-जातियां होती हैं। इस समय पाचवीं मूल जाति का समय बीत रहा है। इस की चार उपजातियों का काल पहिले ही बीत जा चुका है,

पांचवीं उपजाति का समय बीत रहा है और छठीं का संस्थापन कई सौ वर्षों के भीतर ही होने वाला है। प्रत्येक मूल जाति के एक २ मनु होते हैं; वैसे ही प्रत्येक संसार चक्र के दो मनु होते हैं और प्रत्येक संसार माला के भी दो होते हैं। इन में से प्रत्येक का दर्जा क्रमशः उन के कार्य क्षेत्र के विस्तारानुसार बढ़ा रहता है। हमारी आर्य मूल जाति के मनु भगवान वैवश्वत मनु हैं। इस संसार काल में इन के पूर्व चार और मनु हो चुके हैं, और इन के बाद अभी दो और मनु होंगे। किसी नई मूल जाति अथवा उस की उपजाति के योग्य मनुष्यों की उत्पत्ति के समय बहुधा मनु भगवान स्वयं इस संसार में अवतरित हो कर उस जाति अथवा उपजाति के मनुष्यों के शरीरों के विशेष रूप अथवा ढांचा (type) निर्माणित करने में सहायता करते हैं, और साथ ही साथ उस की शासन प्रणाली भी निश्चित करते हैं।

हम साधारणतः इतिहासों में भिन्न २ जातियों तथा उपजातियों के संस्थापन, उत्थान तथा पतन आदि का हाल पढ़ते हैं, और अक्सर कुछ समझ में नहीं आता है, कि क्यों किसी जाति की एक समय इतनी अधिक उन्नति होती है और फिर कुछ दिनों के बाद उस का पतन हो जाता है। सामान्य भाव से देखने से मालूम होता है कि इस उत्थान पतन से संसार की अवनति होती रहती है; यदि उन्नत जातियां आज भी वर्त्तमान रहतीं, तो यह संसार आज से कहीं और उन्नत अवस्था पर पहुंचा रहता। पर ऐसा समझना भूल है। भिन्न २ जातियों, उपजातियों तथा उन की सभ्यताओं का उत्थान पतन एक नियमित

विधान के अनुसार क्रमशः होता रहता है, और वह विधान इस प्रकार का बना हुआ है कि उसमें संसार क्रमशः ऊपर की ओर उन्नति ही करता चला जाता है। प्रत्येक जाति, जो आगे आती है, पिछली जाति से उन्नत अवस्था वाली होती है। हमें यह उत्थान पतन साधारणतः बे-मतलब का मालूम होता है, क्योंकि इसके भीतर जीवन के विकास का जो भेद है, उसको हम नहीं जानते। यदि जीवन के विकास के रहस्य को समझने की कोशिश की जाय, तो जो बातें अभी बे-मतलब की मालूम होती हैं, उनमें विशेष बारीकी दीख पड़ेगी।

शिक्षा विभाग द्वारा संसार की भिन्न २ जातियों के धर्मों तथा सभ्यताओं का संचालन होता है। इस कार्य के निमित्त या तो जगद्गुरु स्वयं पृथ्वी पर अवतरित हो कर देश, काल तथा पात्र के आवश्यकतानुसार एक विशेष धर्म का संस्थापन करते हैं, अथवा अपने किसी शिष्य द्वारा इस कार्य को कराते हैं। पर, उनके समीप जाति पांति धर्म आदि के कोई भेद नहीं हैं। सभी देशों, सभी जातियों के धर्म उन्हीं के द्वारा संचालित तथा प्रभावित होते रहते हैं। भिन्न २ देशों अथवा जातियों के लोग उनके समीप भिन्न २ दर्जों के बच्चों के सरीखे हैं। जिनके विकास के लिये जैसी धर्म प्रणाली अथवा शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता होती है, उनके लिये वैसे ही धर्म अथवा शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं; और सभी वर्त्तमान धर्मों को एक भाव से प्रभावित करते रहते हैं। इस बात को हम नहीं जानते हैं, कि इस संसार के सभी धर्म एक केन्द्र से निकलते हैं और उसी

केन्द्र द्वारा प्रतिपालित होते हैं। उनका अन्तर बाहरी अन्तर है। उनके मूल तत्वों में कोई भेद नहीं है; और प्रत्येक धर्म भिन्न २ कक्षा के जीवों के विकास के निमित्त बनाया गया है। यदि हम धर्मों के इस सार को ग्रहण कर सकते, तो धार्मिक झगड़े कभी होने ही नहीं पाते। यह साधारण समझ की बात है, कि यदि एक ही मनुष्य को किसी विषय का ज्ञान भिन्न २ दर्जे के विद्यार्थियों को देना पड़े, तो उनकी ग्रहण शक्ति के अनुकूल वह एक ही तथ्य को भिन्न २ प्रकारों से उनके सामने रखेगा। पर सार सब के भीतर एक रहेगा। उसी असली तत्त्व के नहीं समझने के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म को ही भगवान के पास पहुंचने का एक मात्र सच्चा मार्ग समझता है, और अन्य धर्म वालों को राह से भूला हुआ विधर्मी समझता है। यह कितनी भारी भूल है!

प्रत्येक मूल जाती के लिये एक २ जगद्गुरु होते हैं। हमारे वर्त्तमान जगद्गुरु महर्षि मैत्रेय हैं। इनका भी आश्रम हिमालय पर्वत पर ही है। इनके पहिले जगद्गुरु के पद पर वही महात्मा थे, जो अपने अन्तिम जन्म में सिद्धार्थ गौतम हो कर इस पृथ्वी पर उतरे थे। उसी जन्म में उन्हों ने बुद्धत्व के परम पद को प्राप्त कर के इस संसार में बुद्ध धर्म की संस्थापना की। यह आज से क़रीब ढाई हज़ार वर्ष के पहिले की बात है। बुद्धत्व प्राप्त करने का मतलब ही यह है, कि वे जगद्गुरु के पद से एक पद और ऊपर चले गये। उस समय से हमारे संसार के जगद्गुरु महर्षि मैत्रेय हैं, और न जानें आज से और

कितने हज़ार वर्षों तक आप इस पद को सुशोभित करते रहेंगे।

इनके पूर्वाधिकारी ने जगद्गुरु की हैसियत से पहिले पहिल भारतवर्ष में व्यास का अवतार धारण कर हिन्दू धर्म को चलाया था। इसके बाद प्राचीन मिश्र देश में हर्मिज़ (Hermes) का रूप धारण कर वे ही अवतरित हुए थे। तीसरी बार पर्शिया (Persia) में ज़राथुष्ट्र का अवतार उन्हों ने ही धारण किया था। उनका चौथा अवतार ऑर्फ़ियस (Orpheus) के नाम से ग्रीस (Greece) अर्थात् यूनान में हुआ था। और अन्त में सिद्धार्थ गौतम का अवतार धारण कर उन्हों ने बुद्धत्व प्राप्ति की। प्रत्येक जन्म में उन्हों ने एक २ प्रधान धर्म का संस्थापन किया। इस तथ्य के जानने से अपनी धर्म सम्बन्धी ना-समझी पर कैसी हंसी आती है! देखिये उनके लिये समस्त संसार के सभी मनुष्य बराबर थे। कभी उन्हों ने भारतवर्ष में जन्म लिया, तो कभी यूनान में; कभी पर्शिया में, तो कभी मिश्र देश में। और आज हम इन भिन्न २ धर्मों के बाहरी भेदों को लेकर भले ही लड़ें झगड़ें, पर उन सभों में सार वस्तु एक है; सभी अपने २ स्थान पर ठीक हैं और सभी एक महात्मा द्वारा संस्थापित हैं।

वर्त्तमान जगद्गुरु ने भी दो बार स्वतः इस पृथ्वी पर जन्म धारण किया है। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व वृन्दावन में बाल कृष्ण हो कर आप ही पधारे थे। उस समय प्रेम का पाठ इन्हों ने सिखलाया। दूसरी बार आप ने पैलेस्टाइन में शिष्य ईसा (Jesus) के शरीर में प्रवेश कर उनके जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में इस संसार में कार्य किया और ईसाई धर्म को संस्थापित

किया। समय २ पर इन्हों ने अपने अनेक शिष्यों को भी भेज कर इस पृथ्वी पर धर्म का भिन्न २ संदेशा दिया है। उनके ऐसे ही शिष्यों में से नागार्जुन, आर्यसंघ, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, आदि, थे। शिष्य मुहम्मद को भी प्रेरित कर के इस्लाम धर्म की संस्थापना इन्हीं ने कराई। प्रस्तुत काल में भी कुछ दिनों पूर्व इन के आगमन की विशेष आशा की जा रही थी; और अनेक पुरुषों का विश्वास है कि मि० जे० कृष्ण मूर्त्ति द्वारा ये इस युग में संसार को एक नया संदेशा दे रहे हैं।

वृन्दावन के बाल कृष्ण को भगवान जगद्गुरु का अवतार सुन कर बहुत लोग आश्चर्य करेंगे। पर अनुसन्धान से पता चला है कि वृन्दावन के कृष्ण और महाभारत के गीता वाले कृष्ण दो थे। गीता के कृष्ण का स्थान इनसे बहुत ऊंचा था, और उनका अवतार आज से पांच हज़ार वर्ष पूर्व कलियुग के आरम्भ में हुआ था। साधारण भाव से देखने पर भी वृन्दावन के कृष्ण और महाभारत के कृष्ण में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। पर इसमें लड़ने की कोई बात नहीं है। यह तो पता लगाने की बात है। कुछ योगियों ने ऐसा ही पता लगाया है कि ये दोनों दो थे, एक नहीं। और लोगों को भी ख़ुद अथवा प्रमाणों द्वारा अपना सन्देह दूर कर लेना चाहिये।

आध्यात्मिक शासन प्रणाली के कार्य विभाग का कार्य अनेक क्षेत्रों में फैला हुआ है। ऊपर दिखलाया जा चुका है, कि तीसरी से लेकर सातवीं रश्मियों तक के लोग इसी विभाग में आते हैं। इस लिये इस विभाग द्वारा संसार में विज्ञान, कला, पूजापाठ

के विधि विधान, आदि, अनेक प्रकार के भिन्न २ क्षेत्रों के कार्यों का संचालन होता हैं।

इन बातों के सुनने पर साधारणतः मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है, कि यदि ऐसे २ उच्च कोटि के महात्मा हमारे संसार के संचालक हैं, तो संसार में लोग इतनी ग़लत राह पर क्यों जाते हैं ? संसार में इतना दुःख क्यों बढ़ता जाता है ? संसार के दुःखों को वे फौरन दूर क्यों नहीं कर देते ? इस का प्रधान कारण यह है, कि वे मनुष्यों के व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कार्यों में कुछ हस्ताक्षेप नहीं करना चाहते, क्योंकि इस प्रकार हस्ताक्षेप करने से मनुष्य का आन्तरिक विकास नहीं हो सकेगा। खनिजों, बनस्पतियों तथा पशुओं का विकास प्राकृतिक नियमानुकूल होता रहता है। उन में अपनी ऐसी शक्ति नहीं है कि वे स्वतः कुछ कर सकें। पर मनुष्य में स्वतन्त्रता की शक्ति दी गई है, और इस लिये मनुष्य स्वतः सोच समझ कर विकास क्रम के साथ चल सकता है अथवा उस के प्रतिकूल जा सकता है। इस प्रकार स्वतन्त्र कार्य करने की शक्ति रहने से ही मनुष्य उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता है, अर्थात् , ईश्वर के साथ ऐक्य प्राप्त कर सकता है। हां, इस वर्ग में पहुंचने पर वह अक्सर भूल भी किया करता है। पर भूल ही तो प्रधान रूप- से हमारा शिक्षक बनता है। और विकास का प्रवाह इतना प्रबल है, कि चाहे हम कितनी ही भूलें क्यों न करें, पर वह हम को क्रमशः आगे की ही ओर धीरे २ बढ़ाये लिये जाता है। मनुष्य अपने कार्यों द्वारा अपने विकास में बिलम्ब कर सकता है, पर विकास के प्रवाह को

एकदम उलटा नहीं फेर सकता। इस प्रकार कठिन परिस्थितियों के सामना करने में ही हमारी आन्तरिक शक्तियां क्रमशः विकसित होती हैं।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि महात्मा लोग हम को रोते पीटते अर्थात् दुःख झेलते देख कर अलग निश्चिन्त पड़े रहते हैं। उनका हाल हमारे सम्बन्ध में वैसा ही है, जैसा माता पिता का बच्चे के साथ होता है। माता पिता बच्चे को हृदय से प्यार करते हैं, गोदी में उठा कर ले चलते हैं; पर फिर भी उसे हमेशे गोदी में ही नहीं लिये रहते हैं, क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के पैरों में उन पर खड़े हो कर चलने की शक्ति ही नहीं आ सकती। इस लिये वे बच्चे को ज़मीन पर उतार कर तरह २ के प्रलोभनों को उसके सामने रख कर उसको चलना सिखाते हैं। बच्चा उठने की तथा चलने की कोशिश करता है और गिर पड़ता है। ऐसे समय पर अक्सर माता पिता ज़रा ओट में खड़े हो कर तमाशा देखते रहते हैं; और उसे उठते, गिरते, पड़ते देख मन ही मन आनन्दित होते रहते हैं, कि अब बच्चा खड़ा होना तथा चलना सीख जायगा। पर वे कभी उसे अधिक चोट लगने नहीं देते। जहां अधिक चोट लगने का भय हुआ कि दौड़ कर उसको गोदी में उठा लेते हैं।

महात्मा लोगों का प्रेम जितना प्रत्येक मनुष्य की ओर है, सैकड़ों माताओं के प्रेम को एक साथ मिलाने पर भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। वे भी समय २ पर हमारे बीच में उतर कर अर्थात् अवतरित हो कर हम को हमारी अपनी अवस्था

के अनुसार शिक्षा दे जाते हैं। उसके बाद वे छिप कर तमाशा देखते रहते हैं कि किस प्रकार हम उस शिक्षा से लाभ उठाते हैं अर्थात् उन्नति करते हैं। वे भी कभी हम को बहुत भारी भूल नहीं करने देते। अदृश्य रूप से अनेक प्रकारों से वे हमारी सहायता करते रहते हैं। पर सदा बच्चों की तरह ऊंगली धरा कर हमें नहीं ले चलते, क्योंकि वैसी हालत में हमारी उन्नति ही नहीं हो पाती। इस लिये हमें सदा विश्वास रखना चाहिये कि इस महान् संघ की संरक्षता में जो कुछ हमारे सामने आता है, हमारे असली हित के ही लिये आता है। चाहे हम जानें अथवा न जानें, पर उनका आशीर्वाद सदा हमारे ऊपर रहता है; और इस लिये भूल करते, गिरते पड़ते, तरह २ के दुःखों को झेलते हुए भी, एक न एक दिन विकास श्रोत के साथ ऐक्य स्थापित कर हम भवसागर पार अवश्य उतरेंगे।

पन्द्रहवां अध्याय

भगवान की लीला और उसमें हमारा भाग

पिछले अध्यायों के पढ़ने से हमें स्पष्ट रूपसे जान पड़ता है, कि इस विश्व में दृश्य अथवा अदृश्य रूप से जो कुछ भी हो रहा है, वह सब किसी न किसी निश्चित प्राकृतिक नियम के अनुसार हो रहा है। यद्यपि मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों का, एवं भिन्न २ जातियों तथा उनकी सभ्यताओं का जन्म मरण तथा उत्थान पतन निरंतर होता रहता है, और साधारणतः उनमें कोई तथ्य नहीं दीख पड़ता ; पर तौभी उनके भीतर डूब कर सोचने से मालूम होता है, कि कोई कार्य बे-मतलब का नहीं होता है। जो कुछ अब तक हुआ है, अभी हो रहा है अथवा भविष्य में आगे होनेवाला है, वह सब एक महान् विधान का एक २ अङ्ग है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय सभी कुछ परमात्मा के उसी एक विधान के अनुसार चल रहा है। इसी को भगवान की लीला भी कहते हैं।

उस लीला के कुछ रहस्यों का पता चलने पर स्वाभाविक रीति से मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है, कि हम उस लीला को कैसे जान सकते हैं, और साथ ही हृदय के भीतर इस बात की उत्कट अभिलाषा होती है, कि हम कैसे सज्ञान रूप से भगवान की इस लीला में भाग ले सकते हैं।

साधारण तौर से लोग भगवान की लीला से प्राकृतिक लीला नहीं समझते हैं। भगवान के भिन्न २ अवतारों के समय में जितनी लीलायें हुई थीं, उन्हीं को वे भगवान की लीला समझते हैं। अवतारों में भी रामावतार तथा कृष्णावतार की ही लीलायें प्रधान रूप से प्रचलित हैं। आज भी लोग इन दो अवतारों की लीलाओं की नक़ल करते हैं, पर दुःख की बात है कि उनके असली अभिप्राय को समझने की कोशिश नहीं करते और न उन अवतारों के दिखाये रास्ते पर चलने की ही कोशिश करते हैं।

पीछे कहा जा चुका है, कि प्रत्येक प्रधान अवतार का एक प्रधान अभिप्राय किसी संसार व्यापी आवश्यकता को पूरा करने का रहता है, जिसे हम अभी अपनी संकुचितता तथा अज्ञानता के कारण प्रायः नहीं समझ सकते हैं। दूसरा अभिप्राय मनुष्य मात्र के सम्बन्ध में रहता है, और तीसरे का सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य के जीव के विकास सम्बन्धी व्यावहारिक जीवन से होता है। यदि अन्य गूढ़ रहस्यों को हम न भी समझ सकें, तो कम से कम अवतारों के जीवन से हमें यह तो अवश्य सीखना चाहिये, कि किस प्रकार हमें जीवन व्यतीत करना चाहिये। राम लीला अथवा कृष्ण लीला करने का असली तात्पर्य यही है।

पर वर्त्तमान समय में किस प्रकार से लोग इन लीलाओं को करते हं? कुछ सीख कर वैसा ही अपना जीवन बनाने का ख्याल तो कम रहता है। साधारणतः लोग समझते हैं, कि ये

भगवान की लीलायें हैं, इनके करने से भगवान हम पर ख़ुश होंगे और हमारे पापों का नाश कर हम को स्वर्ग वास अथवा अन्य सुख देंगे। इस प्रकार भोले भाले सीधे लोगों में भक्ति का भाव तो बहुत पाया जाता है, पर उस भक्ति में समझ की मात्रा अत्यन्त कम रहती है। और सब से बढ़ कर अनर्थ तो लीलाकार लोग करते हैं। अधिक मनुष्यों को आकर्षित करने के लिये इन लीलाओं के मध्य में वे ऐसी २ भद्दी नक़लें मिला दिया करते हैं, जो मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली होती हैं। विशेष कर ऐसी बातें कृष्ण भगवान की लीलाओं में और ख़ास कर के उनकी रासलीला में पाई जाती हैं। श्री रामचन्द्र जी तथा श्री कृष्णचन्द्र जी के जीवन ऐसे पवित्र, आदर्श तथा प्रेमपूर्ण थे, कि यदि मनुष्य उन पर थोड़ा भी विचार करे, तो उसमें अवश्य ऊंचे दर्जे की वृत्तियां जाग्रत हो सकती हैं, और उसमें अवश्य ऊंचे आदर्शों पर चलने की अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है। पर हमारे समाज के मुखियों का ध्यान इधर कम रहता है; और साधारण श्रेणी के लोगों के लिये तो यह स्वाभाविक बात है, कि ऊंचे दर्जे की शिक्षाओं की अपेक्षा साधारण वासनाओं को उत्तेजित करने वाली ही बातें उन्हें अधिक पसन्द आती हैं। इसलिये आज कल की लीलाओं से लाभ के बदले अधिक हानि ही होती है।

यहां लीलाओं के करने पर कोई आक्षेप नहीं है। यह तो एक ऐसी अच्छी रीति है, कि शायद इससे बढ़ कर और किसी भी दूसरी रीति से जन साधारण को अच्छी से अच्छी शिक्षा

देने का दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। लीलाओं का मनुष्य के चरित्र पर बहुत प्रबल प्रभाव पड़ता है। पर इनका सदुपयोग करने से जिस प्रकार इन से बहुत लाभ उठाया जा सकता है, उसी प्रकार इनका दुरुपयोग करने से मनुष्य का चरित्र सहज ही में भ्रष्ट भी किया जा सकता है। आज कल इनके दुरुपयोग के कारण समाज को बहुत हानि पहुंच रही है। एक गांव के बारे में अच्छी तरह से मालूम है, कि पहिले वहां साल में अथवा दो साल में रामलीला हुआ करती थी, और लोग भक्ति के साथ वहां जा कर तमाशा देखते थे। पर कुछ दिनों से वहां एक रास मण्डली स्थापित हुई है, जो कृष्ण भगवान की रास लीला करती है; और विश्वस्त सूत्र से पता चला है, कि इस रास मण्डली की लीलाओं का यही प्रभाव लोगों पर पड़ा है, कि वहां के नवयुवकों तथा नवयुवतियों के चरित्र भ्रष्ट हो चले हैं। ऐसे ही अनुभव और लोगों के भी होंगे। इसलिये राम लीला तथा रास लीला आदि को करना तो अवश्य चाहिये, पर उनको उचित रीति से, उचित भाव से, उचित श्रद्धा के साथ करना चाहिये। कभी ऐसी महत्त्वपूर्ण, प्रभाव-शाली और पवित्र लीलाओं में गन्दे भावों तथा विचारों के आने का कोई मौक़ा नहीं देना चाहिये। इन का अभिप्राय मनुष्य का चरित्र गठन करना है। इसलिये इन लीलाओं के करते अथवा देखते समय चरित्र तथा जीवन सुधार के लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

यहां पर भक्ति की बात आ गई है। हमारे यहां के लोगों में भक्ति का भाव विशेष रूप से पाया जाता है। इस देश को

लोग भक्ति प्रधान देश कहते हैं। पर खेद के साथ कहना पड़ता है, कि भक्ति के भी असली तत्त्व को हम भूल गये हैं। हम बहुधा ऐसा समझा करते हैं, कि यदि हम भगवान का नाम रट लें, अथवा भगवान की लीला देख आयें, तो भगवान हमारे सभी पापों का नाश कर के हमारे दुःखों को दूर करेंगे। इस भाव का नतीजा यह होता है, कि जब हम भगवान के नाम पर पूजा, पाठ, जप, आदि, करते हैं, तो हम समझते हैं कि उस समय तक के किये पापों का नाश हो जाता है; और फिर उसके बाद जान बूझ कर भी हम उन्हीं पाप के कामों में लग जाते हैं। नाम जपना अच्छा काम है। उस पर कोई आक्षेप नहीं है, उसका भी कुछ असर मनुष्य के ऊपर अवश्य पड़ता है। पर उसके साथ २ अपने चरित्र तथा जीवन को भी सुधारने की कोशिश करनी चाहिये; और ऐसी कोशिश न कर के केवल भगवान के भरोसे बैठे रहना, कि उनके नाम लेने से ही सब पाप कट जायेंगे, यह अपने आप को धोखा देना है। याद रखनी चाहिये कि भगवान अन्तर्यामी हैं; उन से कोई बात छिपी नहीं रहती है; वह मनुष्य के हृदय की गुप्त से गुप्त बातों को जानते हैं। इसलिये उनको धोखे में नहीं डाला जा सकता। भगवान के नज़दीक भी वही मनुष्य सच्चा हो सकता है, जिस का हृदय साफ़ है; और भगवान उसी की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता आप करता है। इन बातों को ध्यान में न रख कर आज भगवान को हमने अपने पापों को तथा अपनी अकर्मण्यता को छिपाने का एक आड़ बना रखा है।

इस से काम नहीं चल सकता। सच्ची भक्ति का यह मार्ग नहीं है। साधारण जीवन से एक उदाहरण ले कर देखिये। गांधी जी जहां कहीं इस देश में जाते हैं, हजारों लाखों आदमी भक्ति भाव से उनके दर्शन के लिये और उनकी जय मनाने के लिये दूर २ से इकट्ठे हो जाते हैं। पर क्या इस जय से वह सन्तुष्ट होते हैं ? कभी नहीं; वह बराबर लोगों को इसी बात का उपदेश किया करते हैं, कि खाली शब्दों से जय मनाने से अथवा पैर पर गिर कर पैर छूने से काम नहीं चल सकता। असली भक्ति तथा श्रद्धा का प्रदर्शन कार्य द्वारा होता है। जो घर पर बैठ कर चर्खा चलाता है, अथवा अन्य प्रकार से गांधी जी के बतलाये रास्ते पर चलता है, वही उनका असली भक्त कहा जा सकता है; केवल मुंह से जय मनाने वाला नहीं। इस प्रकार साधारण व्यवहार में भी हम देखते हैं, कि केवल बाहरी बात बनाने से काम नहीं चलता। कार्य का होना आवश्यक है। उसी से सच्ची भक्ति की जांच की जा सकती है। फिर भला भगवान को कैसे धोखा दिया जा सकता है !

देखिये, गीता में भगवान ने भक्ति को बड़ी प्रधानता दी है। पर साथ ही उन्होंने यह भी दिखलाया है, कि असली भक्ति तो वह है, जो ज्ञान से भरी रहती है और कर्म का भी त्याग नहीं करती। भगवान की भक्ति तभी उचित रीति से बर्त्ती जा सकती है, जब उनकी लीला के अभिप्राय को समझ कर मनुष्य सर्वाङ्ग भाव से अपने आप को उन के पूरा करने में लगा देता है। गीता के असली अभिप्राय को न समझ कर अक्सर उसी के प्रमाण पर

लोग अपनी अकर्मण्यता तथा मनमाने कर्म का समर्थन किया करते हैं। देखिये भगवान कहते हैं :

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥'
—गी०, अ० ९, श्लोक० २६ ।

अर्थात, 'जो कोई मुझे भक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल अथवा जल समर्पित करता है, मैं उसको उस प्रयत्नशील मनुष्य से ग्रहण करता हूं, क्योंकि वह भक्ति के साथ समर्पित किया रहता है।' फिर भगवान गीता में ही कहते हैं :

'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः ॥'
—अ० १८, श्लो० ६६ ।

अर्थात्, 'सभी धर्मों को त्याग कर केवल मेरी ही शरण लो; चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे सभी पापों को नाश कर दूंगा।' भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार के और भी अनेक श्लोक गीता में भरे हैं। साधारण तौर पर लोग इन का अर्थ यही लगाते हैं, कि भगवान ने स्वयं कहा है कि जो कोई भक्ति से जो कुछ मुझे देता है, मैं उसी को स्वीकार कर लेता हूं; इसलिये मैं भी जो कुछ भगवान के नाम पर कर रहा हूं, वह उन की भक्ति के लिये काफ़ी है, और इसलिये वे हमारा भी उबार कर ही देंगे। पर सोचने की बात है, कि अर्जुन कोई बेवक़ूफ़ नहीं थे, बल्कि बड़े समझदार और ज्ञानी पुरुष थे। इसलिये वे भी भगवान से कह सकते थे कि, 'अच्छा, लीजिये, अब मैं आप

का नाम जपने बैठ जाता हूं, अथवा जो कुछ करूंगा आप को ही समर्पित कर के करूंगा।' ऐसा तो वह करना ही चाहते थे, पर भगवान ने उन्हें बतलाया है, कि असली भक्ति का यह अभिप्राय नहीं है। असली भक्ति तो तभी होगी जब तुम 'मेरे' अर्थात् भगवान के कार्य को करने लग जावोगे।

गीता के कुछ और श्लोकों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी। भगवान कहते हैं:—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनो बुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥
—अ० ८, श्लो० ७।

अर्थात्, 'इस लिये सर्वदा मुझे स्मरण रखो और लड़ो। मन और बुद्धि को मुझ में अर्पित करने से बिना सन्देह के तुम मेरे पास पहुंच जावोगे।' सोचने की बात है, कि यहां पर भगवान अर्जुन को ऐसा क्यों कहते हैं। मुझ को स्मरण भी करो और लड़ो भी। आज के भक्तों की नाईं अर्जुन कह सकते थे कि, 'अच्छा, लड़ाई के इस घोर कार्य से मेरी रिहाई कीजिये, मैं बैठ कर आप की ही स्मरण करता हूं अथवा आप में ही मन और बुद्धि लगा कर बैठता हूं।' पर ऐसा नहीं हुआ। वास्तव में स्मरण करना और लड़ना, मन और बुद्धि को भगवान में समर्पित करना और लड़ना ये दोनों भाव साथ २ लगे हुए हैं। भगवान को ठीक से जान कर स्मरण करने से अर्जुन उस समय लड़ाई छोड़ कर अन्य कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। उसी प्रकार भगवान में मन और बुद्धि समर्पित

करने का भी यही नतीजा निकलता कि वे लड़ाई में लग जाते ; क्योंकि उस समय भगवान की लीला का वही भाग होने जा रहा था और इसलिये भगवान के जानने, भगवान के स्मरण करने अथवा भगवान की भक्ति करने का यही एक नतीजा हो सकता था, कि अर्जुन लड़ाई में लग जाते। और ऐसा ही हुआ भी। हर प्रकार का उपदेश देने के बाद अन्त में भगवान ने अर्जुन से पूछा कि, 'कहो, अभी तुम्हारा सन्देह दूर हुआ या नहीं ?' अर्जुन ने फौरन उत्तर दिया कि, 'हे भगवान्, तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया, अब मैं स्थिर हूं, मेरे सन्देह दूर हो गये। मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूंगा।' इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट रूप से प्रगट होगा कि भक्ति का प्रधान स्वरूप क्रियात्मक है, अक्रियात्मक नहीं।

यहां पर एक बात और याद रखने की यह है कि मन तथा बुद्धि का अर्थ, जैसा पहिले कहा जा चुका है, वैसा ही लगाना चाहिये ; और मन का सम्बन्ध जब बुद्धि से हो, तो उस से उच्च मानसिक शरीर अथवा कारण शरीर समझना चाहिये। इस प्रकार प्रगट होगा कि ऊपर के श्लोक का यह तात्पर्य है कि जीवात्मा तथा आत्मा का मेल स्थापित करना चाहिये, पर हमने तो अभी तक प्रायः जीवात्मक और देहात्मक जीव में ही मेल नहीं स्थापित किया है। वह तो हमारे लिये दूर की बात है।

हमारे यहां भक्ति के इस तत्त्व को लोग प्रायः भूल गये हैं। साधारण भाव से लोग भक्ति को निष्क्रिय समझते हैं; और भक्ति और ज्ञान का तो इतना प्रबल झगड़ा है, कि भक्ति भाव

वाले लोग ज्ञान को निरा निरर्थक समझा करते हैं। ऐसे लोगों को गीता का अध्ययन कर उस के सार को ग्रहण करने की कोशिश करनी चाहिये; क्योंकि कृष्ण भगवान ने स्पष्ट रूप से दिखलाया है भक्ति, ज्ञान तथा कर्म, इन तीनों में कोई बड़ा छोटा नहीं, प्रत्येक मनुष्य के लिये इन में से प्रत्येक की आवश्यकता है; और सफलता तभी हासिल हो सकती है, जब इन तीनों को मेल के साथ ग्रहण करने की कोशिश की जाय। गीता के ऐसा भिन्न २ भागों में मेल स्थापित करने वाला शायद ही दूसरा कोई ग्रन्थ हो। हां, एक बात याद रखनी चाहिये कि स्वभावतः किसी मनुष्य में भक्ति की प्रधानता होती है, किसी में ज्ञान की और किसी में कर्म की। पर पूर्णता प्राप्त करने के लिये भक्तिप्रधान मनुष्य को अपने जीवन में भक्ति के साथ २ ज्ञान तथा कर्म का मेल मिलाना आवश्यक है। उसी प्रकार ज्ञान प्रधान अथवा कर्म प्रधान मनुष्यों को भी अपने जीवन में क्रमशः ज्ञान अथवा कर्म के साथ भक्ति और कर्म अथवा भक्ति और ज्ञान के मेल मिलाने चाहिये।

ख़ैर, भगवान की लीला के सम्बन्ध में हम को स्मरण रखना चाहिये, कि भगवान की लीलायें केवल उसी समय तक नहीं होती हैं, जब अवतार धारण कर भगवान इस पृथ्वी पर विचरते रहते हैं। उन की लीलायें सदा होती रहती हैं। उन का एक विशेष विधान है, जिस के अनुसार सृष्टि की सारी कार्रवाइयां चलती रहती हैं। उस विधान का एक विशेष भाग उन के इस पृथ्वी पर रहने के समय में पूरा होता है, पर उन के चले जाने

पर भी उसी लीला के भिन्न २ भाग और समयों में भी होते रहते हैं। गीता में भगवान ने इस लीला के अस्तित्व को भली-भांति प्रगट किया है। जब अर्जुन को अन्य किसी प्रकार से अपना कर्त्तव्य समझ में नहीं आता था, तो वार्त्तालाप के मध्य में ही भगवान ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दे कर अपने विश्व रूप का दर्शन कराया। उस विश्व रूप को समझने से सृष्टि के दृश्य तथा अदृश्य सभी विभागों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। और उससे यह भी पता चलता है कि देश तथा काल के मध्य भगवान का विधान किस प्रकार चलता रहता है। भिन्न २ लोकों, प्राणियों आदि को देखते २ अर्जुन की दृष्टि उस विश्वरूप के एक ऐसे स्थान पर पहुंची, जहां उन्हों ने देखा कि उस कुरुक्षेत्र में एकत्र सभी योद्धागण विकराल काल के गाल में समाये चले जा रहे हैं। घबड़ा कर उन्हों ने भगवान से पूछा कि यह क्या वस्तु है। भगवान ने उन्हें समझाया कि यह उनका काल रूप है जो सब का नाश कर रहा है। भगवान ने इस सम्बन्ध में आगे कहा :

'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व
जित्वा शत्रुन्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥'

अर्थात्, 'इसलिये उठो, यश लाभ करो, अपने शत्रुओं का नाश करो, और धन धान्य पूर्ण राज्य का उपभोग करो। मेरे द्वारा वे पहिले ही पराजित हो चुके हैं। हे अर्जुन, तुम केवल

निमित्त मात्र बनो।' भगवान के विधान के अस्तित्व तथा उसकी पूर्त्ति का इस से बढ़ कर दूसरा प्रमाण देना कठिन है। उस विधान की पूर्त्ति तो गुप्त रूप से होती ही रहती है, और अवश्य होगी। उसे कोई टाल सहीं सकता। मनुष्य को तो केवल निमित्त मात्र हो कर उस विधान सम्बन्धी अपना २ विशेष भाग पूरा करना है। मनुष्य को स्वतन्त्रता है कि या तो वह विधानानुसार अपना कर्त्तव्य पालन करे अथवा न पालन करे। यदि वह पालन करेगा तो उसका विशेष हित होगा। पर यदि वह पालन नहीं करेगा तो अपनी विशेष हानि करेगा। पर उस विधान की पूर्त्ति कदापि नहीं रुक सकती।

तब प्रश्न यह उठता है, कि हम उस विधान के वर्त्तमान भाग को कैसे जान सकते हैं, और उस में अपने कर्त्तव्य का पालन कैसे कर सकते हैं। उस विधान को पूर्ण रूप से तथा स्पष्ट भाव से जानना कुछ सहज काम नहीं है। जानने के सम्बन्ध में भगवान ने स्वयं कहा है कि इस रूप को न तो वेदों द्वारा जाना जा सकता है, न तप द्वारा, न दान द्वारा, न यज्ञ द्वारा ; यह केवल भक्ति द्वारा जाना जा सकता है। कहते हैं :

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं, द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥'
—अ० ११ श्लो० ५४।

अर्थात्, 'हे अर्जुन, हे परन्तप, केवल मेरी भक्ति द्वारा ही मेरा इस प्रकार से अनुभव किया जा सकता है, मेरा सार तत्त्व

जाना तथा देखा जा सकता है और मुझ में प्रवेश किया जा सकता है।' फिर आगे कहते हैं :

'मत्कर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्ग वर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।'
—अ० ११, श्लो० ५५।

अर्थात्, 'हे पाण्डव, जो मेरे लिये कर्म करता है, जिस के लिये मैं ही परम अर्थात् सर्वोपरि हूं, जो मेरा भक्त है, सङ्ग अर्थात् वासना से रहित है, प्राणीमात्र में किसी से बैर अर्थात् द्वेष भाव नहीं रखता है, वह मुझे प्राप्त करता है।' इन दोनों श्लोकों में भगवान के विधान को तत्त्वतः जानने का मार्ग तथा उसे जान कर उस विधान के साथ ऐक्य स्थापित कर, अर्थात्, उसके सम्बन्ध में जो अपना कर्त्तव्य हो, उसको भगवान के विधान के दृष्टि कोण के अनुसार देख कर तथा उसे पालन कर, भगवान के पास पहुंच जाने का मार्ग पूरा २ बतलाया गया है। पर अभी तो ये हमारे लिये केवल शब्द मात्र हैं, क्योंकि इन ऊंचे वर्गों के सदुपदेशों को हम व्यावहारिक रूप से जीवन में वर्त्तना नहीं चाहते। इनका आनन्द, इनका प्रकाश हमें तब प्राप्त होगा, जब हम इनके अनुकूल आचरण करने की चेष्टा करेंगे। इन दोनों श्लोकों से भक्ति के सच्चे स्वरूप का भी दिग्दर्शन होता है और इसका भी पता चलता है कि किस प्रकार अन्तिम पूर्णता अर्थात् सफलता के हेतु भक्ति, ज्ञान तथा कर्म का मेल अनिवार्य है।

आज भी जिन लोगों ने योग क्रियाओं द्वारा अपने दिव्य नेत्रों से देखना सीखा है, उन्हें आवश्यकतानुसार भगवान की विश्व व्यापी लीला का कुछ अंश देखने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, और उसे देख कर वे सर्वाङ्ग भाव से उस लीला सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के पालन करने में तन्मय हो जाते हैं। बाहर संसार वाले उन्हें अच्छा कहें अथवा बुरा, उन्हें इस बात की तनिक परवाह नहीं रहती। डा० एनी बेसेन्ट और बिशप लेडबीटर को निकट भविष्य का एक ऐसा चित्र देखने का सौभाग्य मिला था, जिसका वर्णन उन्हों ने "मनुष्य—कहां से, कैसे और किधर ?" (Man: Whence, How and Whither ?) नामक पुस्तक में किया है। उस से इस पृथ्वी के भूत, वर्त्तमान तथा कुछ भविष्य काल का भी पता चलता है। उसे पढ़ कर हम जान ले सकते हैं, कि समय का रुख़ हम को किधर ले जाना चाहता है। आज से छ सात सौ वर्षों के बाद आर्य मूल जाति की छठीं उपजाति के संस्थापन का कार्य किस प्रकार होगा, इसका उसमें विशेष वर्णन है, और हम जानते हैं कि ये लोग निरंतर इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं, कि इस संसार में आगे आने वाली सभ्यता की नींव किस प्रकार स्थापित की जाय। थियोसौफ़िकल सोसाइटी का यह विशेष रूप से प्रधान कार्य है, जिसका फल भविष्य में प्रगट होगा। और लोग भी जो भगवान के विधान के कुछ अंशों को जानते हैं, वे उन अंशों की पूर्त्ति में सदा तल्लीन रहते हैं। ज़ब तक भगवान के कार्य में योग प्रदान करने की ऐसी तल्लीनता वा तन्मयता हमारे

जीवन में विशेष रूप से प्रवेश नहीं कर जायेगी, तब तक न हम भगवान के विधान का सार समझ सकते हैं और न हम भगवान के समीप पहुंचने की आशा रख सकते हैं।

जब तक हम में ऐसी दिव्यदृष्टि नहीं प्रगट हुई है, तब तक हमें क्या करना चाहिये ? हम को सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस संसार की छोटी से ले कर बड़ी वस्तुओं तक सभी का भगवान के विधान में कोई न कोई स्थान है। यदि उसमें उन का कोई स्थान नहीं रहता, तो उनको हम इस संसार में देखते ही नहीं। स्थूल दृष्टि से देखने से कोई प्राणी अथवा कोई वस्तु कैसी ही निरर्थक क्यों न मालूम होती हो, पर विधान की दृष्टि से उस तुच्छ वस्तु अथवा प्राणी का जीवन वैसा ही आवश्यक है, जैसे किसी उन्नत प्राणी अथवा वस्तु का जीवन है। इसलिये सब से पहिले तो हम को इस बात का अभ्यास डालना चाहिये, कि अपने स्वार्थ तथा व्यक्तित्व भाव को छोड़ कर हम प्रत्येक वस्तु को व्यापक दृष्टिकोण से देखने और उस के अभिप्राय को समझने की कोशिश करें। यह अभ्यास सहज नहीं है, पर निरन्तर लगे रहने से इस में कुछ निपुणता प्राप्त की जा सकती है।

इस दृष्टिकोण को क्रमशः बढ़ाने के लिये जीवन में प्राकृतिक रूप से हमारे लिये कई प्रकार के दर्जे बने हुए हैं। सब से पहिले अपने आप को समझने तथा सुधारने का कार्य है, फिर पारिवारिक जीवन का क्षेत्र है, उस से आगे बढ़ने पर सामाजिक सेवा का अधिक विस्तृत क्षेत्र मिलता है, फिर राष्ट्रीय सेवा का

क्षेत्र है, अन्तर्राष्ट्रीय सेवा का क्षेत्र है और अन्त में प्राणी मात्र की सेवा का अत्यन्त व्यापक तथा वृहत् क्षेत्र मिलता है। इस प्रकार इन भिन्न २ क्षेत्रों में क्रमशः कार्य करते जाने से धीरे २ मनुष्य भगवान की लीला का कुछ रहस्य समझने के योग्य हो जा सकता है। घबड़ा कर शीघ्रता करने से काम नहीं निकल सकता। घबड़ाने से मिट्टी में डाला हुआ बीज आज ही अङ्कुरित हो कर तथा बढ़ कर फूल तथा फल पैदा नहीं कर सकता। सब कुछ अपने समय पर होता है। और यदि स्वार्थ भाव को त्याग कर निःस्वार्थ सेवा भाव से हम अपनी प्रत्येक अवस्था के कर्त्तव्यों को पालन करने की कोशिश करें, तो हमारी आन्तरिक शक्तियों के विकास में बड़ी सहायता पहुंचेगी। पर हम चाहे जिस किसी अवस्था में हों, यदि हम चाहें तो उसी अवस्था में अपने साधारण से साधारण काम को भी भगवान के नाम पर उन के विधान की पूर्त्ति के निमित्त कर सकते हैं। उसके लिये कोई काम छोटा अथवा बड़ा नहीं है। देखिये, गांधी जी आज भारत वर्ष के लिये कैसा कार्य कर रहे हैं। सोते जागते, खाते पीते उनको सदैव अपने तरीक़े से भारत के हित का ही ख़्याल रहता है। चर्ख़ा कातते भी वे भारत की पूर्ण रूप से सेवा करते रहते हैं और अपने सिद्धान्त के अनुसार संसार के दुःखों को दूर करने की कोशिश किया करते हैं। उनका तरीक़ा सही है अथवा ग़लत, इस से यहां कुछ मतलब नहीं। पर उनके कार्यों से भी जीवन के इस पाठ को हम कुछ हद तक सीख सकते हैं।

एक ही काम अनेक भावों से किया जा सकता है। इसी

चर्खा कातने के काम को लीजिये। कोई इसको इस भाव से करता है, कि उसको इस से दो चार पैसे दिन में मिल जायेंगे, कोई इस भाव से कातता है कि उसको सस्ते में अपने अथवा परिवार के वस्त्र का प्रबन्ध हो जायेगा, कोई इस भाव से कातता है कि इस से भारत के दीन दुःखियों को भोजन मिल सकता है, कोई इसे इस भाव से करता है कि इस के द्वारा भारतवर्ष की स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है, कोई इस भाव से करता है कि इस संसार में जो इस समय की सभ्यता मशीनों पर अवलम्बित हो गई है, उसको पलट कर पुनः सरल जीवन की सभ्यता को स्थापित करनी चाहिये, इत्यादि। कार्य तो एक है, पर अनेक मनुष्य अनेक भाव से उसे करते हैं। और जो जिस भाव से उस कार्य को करता है, उस को वैसा ही छोटा अथवा बड़ा लाभ भी होता है। इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को क्रमशः विस्तृत क्षेत्रों में बदलते २ एक दिन हम भी भगवान के साथ कह सकते हैं :

"उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥"
—गी० अ० ३, श्लो० २४।

अर्थात्, 'यदि मैं कार्य न करता, तो इन लोकों का नाश हो जाता; मैं वर्ण-सङ्करों का उत्पन्न करने वाला और इन प्रजाओं का नाश करने वाला हो जाता।' कितने ऊंचे दर्जे का भाव है! पर असम्भव नहीं है। क्रमशः इस भाव को अपनाया

जा सकता है। इसलिये अपने नज़दीक से नज़दीक जो कार्य हो, उसी को व्यापक दृष्टिकोण से पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी एक दिन हम भगवान के बताये ऊपर के भाव को भी ग्रहण कर, भगवान के विधान का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल अपना जीवन बना सकेंगे।

अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यों के सम्बन्ध में तो प्रत्येक मनुष्य को अपना स्थान मालूम है। जिस परिवार में, जिस समाज में, जिस देश में जिस मनुष्य का जन्म है, उसके इस जीवन के कर्मों का प्रधान कार्य क्षेत्र वहीं पर है। उनके तात्पर्य को भली भांति समझ कर प्रत्येक वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले अपने कर्त्तव्यों को भली भांति पूरा करना चाहिये; नहीं तो आज जो उन से सम्बन्ध रखने वाले अपने पूर्व जन्मों के कुछ ऋणों को चुकाने का सुअवसर मिला है; इसको यदि हम दुःख अथवा अन्य प्रकार के भय से चुकाने से भागेंगे, तो आगे आने वाले जन्मों में ये और भयानक रूप धारण कर हमारे जीवन पथ में बाधायें बन कर उपस्थित हो जायेंगे। इस लिये अपने किसी प्रकार के कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। धीरे २ जीवन पथ पर चलते २ मनुष्य में अपने उचित कर्त्तव्यों को पहिचानने का विवेक उत्पन्न हो जाता है।

फिर भी अपने सच्चे कर्त्तव्यों को जानना अत्यन्त कठिन है। भगवान ने गीता में बतलाया है, कि उन्हों ने गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार मनुष्यों को चार श्रेणियों अर्थात् चार वर्णों

में विभक्त किया है। उन वर्णों की विशेषताओं को भली भांति समझ कर अपनी प्रवृत्तियों से मिलान करना चाहिये, कि किस ओर हमारा विशेष रूप से झुकाव रहता है। धीरे २ अभ्यास करने से मनुष्य अपने स्वभाव का पता लगा सकता है। उसके बाद अपने स्वधर्म को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये। इस जीवन में इस बात में ज़री सी ग़लती हो जाने से मनुष्य को फिर अपने को संभालने में बर्षों लग जाते हैं—हो सकता है कि अपने पथ से थोड़ा सा भी विचलने का यह नतीजा निकले कि इस जन्म भर में मनुष्य अपने को संभाल नहीं सके। इसी लिये भगवान ने कई जगहों पर स्वधर्म पर बहुत ज़ोर दिया है। कहते हैं :

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः ॥'

—गी० अ० ३, श्लो० ३५।

अर्थात्, 'अच्छी तरह से किये गये परधर्म की अपेक्षा गुणों से रहित होने पर भी स्वधर्म ही अधिक अच्छा है। स्वधर्म पालन में प्राण दे देना कहीं अच्छा है। पर-धर्म भय से भरा हुआ है।' देखिये, भगवान ने स्वधर्म को कितनी बड़ी महिमा दी है। इसी में बिना कुछ प्राप्त किये प्राण दे देना अच्छा है, पर परधर्म पर जाना अच्छा नहीं। याद रखनी चाहिये कि यहां पर धर्म से भिन्न २ धार्मिक विश्वासों अथवा प्रथाओं से अभिप्राय नहीं है, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के स्वाभाविक धर्म से अभिप्राय है। इसी भाव

को और स्पष्ट कर के भगवान ने फिर गीता के अन्तिम अध्याय में कहा है :

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥'
—अ० १८, श्लो० ४७।

अर्थात्, 'अच्छी तरह से किये गये परधर्म की अपेक्षा गुणों से रहित होने पर भी स्वधर्म ही अधिक अच्छा है। जो अपने स्वभाव द्वारा नियत कर्म को करता है, वह पाप नहीं करता।'

भगवान के विधान का ज्ञान और उसमें अपने नियत कार्य का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। भगवान श्री कृष्ण ऐसे महायोगेश्वर को अर्जुन ऐसे ज्ञानी पुरुष को इसका ज्ञान देने में इतना तर्क वितर्क करना पड़ा कि उस से अट्ठारह अध्यायों की गीता का निर्माण हो गया, और मध्य में भगवान को अर्जुन को दिव्य दृष्टि दे कर अपने विश्वरूप को भी दिखलाने की आवश्यकता पड़ी। यदि उनके लिये ये बातें इतनी कठिन थीं, तो फिर हम उनके मुक़ाबिले कहां हैं। फिर भी उन्हीं अमृत पूर्ण श्लोकों से हम भी कुछ उपदेश अभी भी ग्रहण कर सकते हैं। हमको हमेशे कम से कम इतना स्मरण रखना चाहिये, कि भगवान की लीला अनन्त है ; प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में उसी का कुछ न कुछ भाग व्यक्त होता रहता है, और उसमें प्रत्येक मनुष्य अथवा प्रत्येक प्राणी का निश्चित भाग है। उस भाग को हम ठीक से तो बहुत दिनों बाद ही समझ सकेंगे। पर

आज भी जहां तक सम्भव हो, स्वार्थ का भाव त्याग कर निःस्वार्थ भाव से, जो काम सामने आये उसको करने की कोशिश करनी चाहिये। इस प्रकार एक दिन हम भी भगवान के विधान को स्वतः देख सकेंगे और सज्ञान रूप से उसमें अपना कर्त्तव्य पालन कर सकेंगे। इस कार्य में योगाभ्यास से बहुत सहायता पहुंचती है; क्योंकि योगाभ्यास से मनुष्य की गुप्त शक्तियों का विकास आपेक्षिक भाव से बहुत कम समय में किया जा सकता है। इस लिये अगले अध्याय में योगाभ्यास का ही कुछ वर्णन किया जायगा।

सोलहवां अध्याय

योग साधन—गुप्त शक्तियों के विकास

हमारे यहां प्रायः साधारण तौर से सभी लोग जानते हैं, कि मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की गुप्त शक्तियां हैं, और यह भी जानते हैं कि योगाभ्यास द्वारा उनका विकास किया जा सकता है। पर योग के असली अभिप्राय को आज हम प्रायः भूल गये हैं। इस समय तो हम उसी मनुष्य को एक बहुत बड़ा योगी अथवा महात्मा समझते हैं, जो किसी प्रकार की चमत्कारिक क्रिया कर सकता है : जैसे, किसी के मन की बात को जान लेना, बैठे २ दूर जगहों की ख़बर बतला देना, ग़ैब से किसी वस्तु को प्रगट कर देना, किसी के पास की चीज़ को उड़ा देना, इत्यादि, इत्यादि। पर आध्यात्मिक विचार से ये तो महज़ साधारण बातें हैं। इन से और महात्मा के जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह तो केवल एक प्रकार की नटबाज़ी है। जिस प्रकार नट अपने शरीर को भांति २ का अभ्यास दिला कर तरह २ के तमाशे अपने शरीर द्वारा दिखाते हैं, वैसे ही मनुष्य की कुछ गुप्त शक्तियों का अभ्यास कर के ये लोग इन दूसरी श्रेणी के तमाशों को कर सकते हैं। पर आध्यात्मिक जीवन से और इन बातों से प्रायः कोई सरोकार नहीं है।

बल्कि ऐसा भी देखा गया है कि यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आदि,

प्रक्रियाओं के करने वाले अथवा भूत पिशाचों के साथ सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य साधारण सभ्य मनुष्यों की श्रेणी से भी नीचे गिर जाते हैं। आध्यात्मिकता के उच्च दुर्गम शिखर पर पहुंचना तो दूर की बात है। ऐसे मनुष्य बाम मार्ग को ग्रहण कर अपनी तो हानि करते ही हैं, पर दूसरों के रास्तों में भी बाधक बनते हैं, जो और अधिक खराब बात है।

गुप्त शक्तियों के विकास करने वालों की दो श्रेणियां है : एक श्वेत ऋषिसंघ से सम्बन्ध रखने वाली, जिनका कुछ वर्णन अन्तिम अध्याय में किया गया है, जो ईश्वर के साथ ऐक्य स्थापित कर उनके विधानानुसार विकास क्रम में सहायक बनते हैं; और दूसरी श्रेणी बाम मार्गियों की है, जो स्वार्थ साधन के हेतु गुप्त शक्तियां का विकास तथा दुरुपयोग कर के ईश्वर के विधानानुसार विकास क्रम के कट्टर विरोधी बन जाते हैं। इन्हीं दो प्रकार के उन्नत प्राणियों को देवता और असुर भी कहते हैं, और इनकी शक्तियों को क्रमशः दैवी तथा आसुरी शक्तियां कहते हैं। देवासुर संग्राम को कौन नहीं जानता ? इस लिये केवल बाहरी आडम्बरों को ही देख कर मनुष्य को धोखे में नहीं पड़ना चाहिये। खूब अच्छी तरह से सोच विचार कर देखने के बाद ही किसी को सच्चा साधु अथवा महात्मा समझना चाहिये। कम से कम एक बात तो सदैव स्मरण रखना चाहिये, कि जो सच्चा साधु, सच्चा योगी अथवा महात्मा होगा, वह कभी अपनी प्राप्त शक्तियों के प्रदर्शन की कोशिश नहीं करेगा, उसमें कभी स्वार्थ का कोई भाव नहीं पाया जायगा और वह निरन्तर

भगवान के विधान की पूर्त्ति में लगा रहेगा।

कुछ आदमियों में जन्म से ही कुछ अदृश्य वस्तुओं के देखने आदि की शक्तियां प्रगट रहती हैं, और कुछ लोग भांति २ के अभ्यासों द्वारा ऐसी शक्तियों को प्राप्त करते हैं। ऐसे मनुष्यों के बारेमें साधारण तौर से लोग समझते हैं कि वे बड़े महात्मा हैं, योगी हैं, बहुत अधिक आध्यात्मिक उन्नति वाले हैं। पर ऐसा नहीं समझना चाहिये। हो सकता है कि वे ऐसे उन्नत हों भी, और यह भी हो सकता है कि ऐसे नहीं हों; ऐसी हालतों में दोनों ही बातों की सम्भावना एक भाव से रहती है। ऐसे लोगों में बहुधा ईथरिक अर्थात् छाया शरीर का नेत्र खुला रहता है, और किसी २ में भुवर्लोक के वस्तुओं के देखने की शक्ति भी प्रगट रहती है। इसका सिर्फ इतना ही मतलब है कि इन में और मनुष्यों से कुछ बढ़ कर देखने की शक्ति है। अपनी स्थूल दृष्टि के सम्बन्ध में भी हम जानते हैं कि भिन्न २ मनुष्यों के देखने की शक्ति भिन्न २ हद तक पाई जाती है। कितने ही ऐसे आदमी हैं जिन के देखने की शक्ति बहुत मन्द पड़ गई रहती है, पर इस से उन के विकास की अवस्था में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। वैसे ही कितने बुरी प्रवृत्तियों वाले आदमी भी हैं, जिन की देखने की शक्ति बहुत तेज होती है, पर इस के कारण इन की गणना ऊपर दिये हुए मन्द दृष्टि वाले सज्जनों से ऊपर नहीं की जा सकती। ठीक यही हालत ईथरिक अथवा भुवर्लोक की वस्तुओं के देखने की शक्तियों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। अच्छा अथवा बुरा होना, विकास का अधिक अथवा

कम होना, इन शक्तियों पर निर्भर नहीं है। इन बातों को भली भांति स्मरण रखना चाहिये, नहीं तो अक्सर मनुष्य धोखे में पड़ जाता है।

अब इस बात के समझने की कोशिश करनी चाहिये, कि योग का असली अभिप्राय क्या है। योग का शब्दार्थ है मेल, लेकिन योग का प्रयोग एक विशेष प्रकार के मेल के सम्बन्ध में किया जाता है। हम जानते हैं कि मनुष्य के भीतर बहुत शक्तियां बीज रूप से गुप्त पड़ी हैं और इस कारण उन का उस मनुष्य के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये बहुधा योग शब्द का व्यवहार उन सभी प्रकार की प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में किया जाता है, जिनके द्वारा मनुष्य की आन्तरिक एक अथवा एक से अधिक शक्तियां विकसित हो कर उस के बाहरी जीवन में प्रगट होने लगती हैं, अर्थात्, जिनके द्वारा उन शक्तियों अथवा उसके जीवन में मेल स्थापित किया जा सकता है। यह एक प्रकार का योग का अर्थ है, और इसी अर्थ में साधारणतः इसका प्रयोग भी किया जाता है। पर यह योग का केवल स्थूल अर्थ है। इसका प्रधान अर्थ कुछ और ही प्रतीत होता है।

हम पीछे देख चुके हैं, कि इस व्यक्त संसार की प्रत्येक वस्तु अथवा प्रत्येक प्राणी का आविर्भाव एक आत्मा से है, जो परमात्मा का अंश है। वही एक आत्मा प्रत्येक मनुष्य में भी है। पर अभी तक हम अपने आप को आत्मा के स्वरूप में नहीं जानते हैं। हम तो अभी शरीर को ही आत्मा समझ रहे हैं। पर यह भी दिखलाया जा चुका है, कि इस शरीर का अथवा

इस के बाद वाले और सूक्ष्म शरीरों का भी प्रत्येक बार के आवागमन में नाश हो जाता है। लेकिन आत्मा और देह के बीच में मनुष्य का एक दूसरा स्वरूप भी है, जिसका इस प्रकार नाश नहीं होता। वह अमर है। इस प्रकार मनुष्य के तीन स्वरूप होते हैं: आत्मा, जीवात्मा और देहात्मक जीव। किन २ लोकों से इन स्वरूपों का विशेष सम्बन्ध है, इसका वर्णन भी पीछे किया जा चुका है। इस लिये यहां उन के दुहराने की आवश्यकता नहीं।

मनुष्य की आत्मा और जीव के मध्य में एक अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध लगा हुआ है; उसी प्रकार उसके जीव और देहात्मक जीव के मध्य भी अन्तःकरण का एक दूसरा सूक्ष्म सम्बन्ध लगा हुआ है; पर इन में से कोई सम्बन्ध अभी विशेष रूप से प्रगट नहीं है। जैसे २ मनुष्य का विकास होता जाता है, वैसे २ जीव और देहात्मक जीव के मध्य का सम्बन्ध अधिक दृढ़ होता जाता है, और कई जन्मों के पश्चात् एक समय आता है, जब जीव का ही आधिपत्य देहात्मक जीव पर पूर्ण रूप से जम जाता है। उस समय स्थूल शरीर, वासना शरीर अथवा लघु मानसिक शरीर अपना मनमाना कार्य नहीं करते, जैसा वे आज हमारे साथ कर रहे हैं, बल्कि सभी अपने २ स्थान पर केवल उसी एक कार्य में लगे रहते हैं, जिसे जीव करना चाहता है। इस प्रकार जीव और देहात्मक जीव में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, अर्थात्, इन दोनों में योग हो जाता है। इस अवस्था में पहुंचने पर अपनी जाग्रत अवस्था में भी मनुष्य अपने को अपने

जीव स्वरूप में ही स्मरण रख सकता है, अर्थात्, अपने भिन्न २ जन्मों को स्मरण कर सकता है। इसी प्रकार आगे चल कर जीव और आत्मा में भी इसी प्रकार का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, जब जीव पर आत्मा का ही पूरा छाप लग जाता है, अर्थात्, जब जीव के भिन्न २ वाहन—अर्थात्, बुद्धि और कारण शरीर—केवल उसी एक कार्य में मग्न रहते हैं, जो आत्मा का कार्य रहता है। इस प्रकार आत्मा और जीव में भी योग स्थापित किया जा सकता है। जिन अभ्यासों द्वारा अथवा जिन प्रक्रियाओं द्वारा मनुष्य के इन प्रधान स्वरूपों में योग अर्थात् मेल स्थापित किया जा सकता है, उन्हीं को वास्तव में योग कहना चाहिये। वही असली योग है जिसके द्वारा मनुष्य आत्म ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर सकता है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं। अब कुछ अन्दाज किया जा सकता है, कि योग के इस असली अर्थ में और इस के साधारण अर्थों में कितना अन्तर है।

पर इस से यह नहीं समझना चाहिये, कि इस प्रकार अपने असली स्वरूप को पहिचानने का रास्ता एक ही है। रास्ते अनेक हैं, पर सभी अन्त में एक स्थान पर जा मिलते हैं; सभी एक ही लक्ष्य पर ले जाते हैं, जैसा कि स्वयं भगवान ने कहा है:

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥'

—गी० अ० ४, श्लो० ११।

अर्थात्, 'हे पार्थ, जिस किसी भी रास्ते से मनुष्य मेरी ओर आता है, उसी रास्ते से मैं उसका स्वागत करता हूं; क्योंकि जिन किन्हीं रास्तों को मनुष्य ग्रहण करते हैं, वे सभी मेरे हैं।' इसलिये रास्तों के बारे में लड़ना झगड़ना केवल नासमझी है। भगवान बतलाते हैं कि सभी मनुष्यों के रास्ते भिन्न २ हैं, जिसको जो पसन्द आये, वह उसी रास्ते से चले, वह अन्त में मेरे ही पास पहुंचेगा। पर इस श्लोक के बार २ पढ़ने के बाद भी हम बहुधा यही समझा करते हैं, कि हमारा ही रास्ता ठीक है, औरों का नहीं।

योग कर सार तत्त्व भगवान ने गीता में दिया है। यद्यपि योग से हिन्दू धर्म सम्बन्धी एक विशेष श्रेणी के शास्त्र का अभिप्राय है, पर तौभी वह तो योग शास्त्र का केवल एक भाग है। गीता में योग शास्त्र का वर्णन किया गया है और इसके भिन्न २ विभागों का पारस्परिक सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। इस प्रकार गीता के योग शास्त्र के अन्तर्गत अट्ठारह प्रकार के विशेष योगों का वर्णन है, जो क्रमशः गीता के अट्ठारह अध्यायों के मुख्य विषय हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के योग हो सकते हैं। साधारण तौर से हम समझते हैं, कि भिन्न २ योगों में कोई मेल नहीं है। पर गीता में दिखलाया गया है कि वास्तव में उन में कोई अन्तर नहीं है। चाहे किसी भी रास्ते से मनुष्य चले, वह अन्त में एक ही नतीजे पर पहुंचेगा।

इस प्रकार सांख्य और योग इन दो योगों के मिलान करते समय भगवान कहते है :

'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एक मप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥'

—गी० अ० ५, श्लो० ४, ५।

अर्थात्, 'साङ्ख्य और योग को बालक पृथक् २ समझते हैं, पण्डित लोग नहीं; जो समुचित भाव से एक में स्थित रहता है, वह दोनों के फलों को प्राप्त करता है। साङ्ख्य द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है, योग द्वारा भी वह प्राप्त किया जाता है; (वास्तव में) वही देखता है, जो सांख्य और योग को एक देखता है।'

जो बातें यहां साङ्ख्य और योग के सम्बन्ध में कही गई हैं, वही अन्य प्रकार के योगों के बारे में भी कही जा सकती हैं। यही कारण है कि चाहे जिस किसी योग के रास्ते से लीजिये, भगवान हमेशे अर्जुन को यही सिद्ध कर के दिखला देते थे, कि प्रत्येक के समझने से केवल यही आशय निकल सकता था, कि उस समय अर्जुन को युद्ध में भाग लेना चाहिये। इसलिये चाहे कर्म योग हो अथवा सांख्य योग, भक्ति योग हो अथवा अन्य कोई योग, हर प्रकार से यही नतीजा बार २ निकलता है, कि अर्जुन को युद्ध करना चाहिये। यह वास्तव में विचार करने का स्थान है, कि बार २ भगवान ने अर्जुन को इस प्रकार लड़ने के लिये क्यों कहा है। सोचने से सभी योगों के मेल का सार निकल आयेगा।

गीता के योग का अभिप्राय आत्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने का है। जीव तथा देहात्मक जीव के योग पर यहां उतना अधिक जोर नहीं दिया गया है, क्योंकि आत्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाला मनुष्य अहंकारी जीव तथा देहात्मक जीव के मध्य तो पहिले ही योग स्थापित कर चुका रहता है। इसी लिये कहा जाता है कि गीता का मूल उपदेश उन मनुष्यों के लिये है जो निवृत्ति पथ पर आरूढ़ हो जा चुके हैं।

पातञ्जलि योग सूत्र में कहा गया है कि 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः', अर्थात्, योग से अभिप्राय चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात रोकना है। पर योग के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है :

'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥'

—अ० २, श्लो० ४८।

अर्थात्, 'हे धनञ्जय, (आत्मा के साथ) योगस्थ हो कर, सङ्ग अर्थात् कामना का त्याग कर और सिद्धि तथा असिद्धि में समता भाव रख कर कर्म करो; समता को योग कहते हैं।' पुनः भगवान कहते हैं :

'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥'

—अ० २, श्लो० ५०।

अर्थात्, 'बुद्धि के साथ युक्त होने से सुकृति तथा दुष्कृति दोनों का त्याग हो जाता है। इसलिये योग के लिये प्रयत्न करो।

योग कर्म की कुशलता को कहते हैं।'

इसी प्रकार योग का वर्णन और रूपों से भी मिलता है, पर सभों के भीतर सार तत्त्व एक है। उसको ग्रहण कर लेने से और सभी बाहरी अन्तर दूर हो जाते हैं। ऊपर दिये हुए पातञ्जलि सूत्र में देहात्मक जीव और अहंकारी जीव के साथ ऐक्य स्थापित करने की बात पर ज़ोर दिया गया है, और उसमें चूंकि इन्द्रियों के वश में होकर मन अर्थात् लघु मानसिक शरीर की चंचलता ही सब से भारी बाधा है, इसलिये समता अर्थात् योग स्थापित करने के हेतु इस बाधा को दूर करने अर्थात् मन के विकारों को रोकने पर ही विशेष ज़ोर दिया गया है। आगे बढ़ने पर आत्मा और जीव के मध्य में योग अर्थात् समता स्थापित करना होता है। इस समता में मन अर्थात् उच्च मानसिक शरीर और बुद्धि अथवा बुद्धि शरीर द्वारा बाधायें पहुंचती हैं। इसलिये भगवान यहां पर समता स्थापित करने के हेतु मन और बुद्धि का आत्मा के साथ योग स्थापित करने पर ज़ोर देते हैं। पर साथ ही यह भी याद रखनी चाहिये, कि आत्मा के साथ योग स्थापित हो जाने पर मनुष्य निष्क्रिय नहीं हो जाता है, बल्कि इस प्रकार आत्मा तथा परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर के परमात्मा के दृष्टिकोण से, परमात्मा के विधानात्मक कर्मों के करने में लग जाता है, और इस प्रकार जैसे भगवान कर्म करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ते हैं, उसी प्रकार वह योगस्थ मनुष्य भी कर्मों को करता हुआ कर्म बन्धनों में नहीं फंसता है। इसीलिये योग कर्म की कुशलता है। इस तथ्य को

भली भांति सोच कर धारण करना आवश्यक है, क्योंकि इसको ठीक से समझ कर इसके अनुसार चलने से मनुष्य कर्म करते हुए भी उनके बन्धनों से अपने को दूर रख सकता है।

इस प्रकार समता अथवा योग स्थापित कर लेने पर विश्व की सारी शक्तियां मनुष्य के अधिकार में आ जाती हैं। साधारण तौर से लोग एक कहावत कहते हैं कि जिसने आप को जीत लिया उसने जग को जीत लिया, पर यह बहुत ठीक बात है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। कहा गया है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् भगवानने मनुष्य को ऐसा बनाया है कि वह विश्व का प्रति-रूप है। इसलिये अपने आप को जानने में ही सारे विश्व के जानने की कुंजी है। इस प्रकार आत्म ज्ञान का अनुभव प्राप्त कर लेने से जीवन सम्बन्धी सभी नियम, जिनमें से कुछ का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है, मनुष्य को साक्षात् दीख पड़ने लगते हैं। उसे किसी बात को दूसरे के प्रमाण पर मानना नहीं रहता है। क्या पुनर्जन्म, क्या कर्म, क्या विकास, सभी प्राकृतिक नियमों का उसे पूर्ण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसकी शक्तियां भी उसी परिमाण से बेहद बढ़ जाती हैं।

योग की रीतियों और साधारण वैज्ञानिक रीतियों में प्रधान अन्तर यहीं मिलता है। वास्तव में योग विज्ञान के ही अवलम्ब पर है। धर्म और विज्ञान दोनों एक हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है, कि वर्त्तमान विज्ञान का सम्बन्ध केवल स्थूल जगत की ही प्राकृतिक वस्तुओं अथवा नियमों से है, और

धर्म का सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, विश्व के सभी पदार्थों और विश्व के सभी नियमों से है। अन्यथा, जैसा पहिले कहा जा चुका है, धार्मिक नियमों की भी जांच उसी प्रकार की जा सकती है, जिस प्रकार वैज्ञानिक नियमों की जांच की जाती है। पर दोनों की प्रक्रियाओं में अन्तर यह है, कि वैज्ञानिक प्रयोगों में बाहरी यन्त्रों तथा अन्य सामानों द्वारा किसी नियम की जांच की जाती है और यौगिक प्रक्रियाओं में बाहरी यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता, मनुष्य के भीतर स्थित अत्यन्त पेचीली यन्त्रों का ही उपयोग किया जाता है। मनुष्य की बनावट कैसी विचित्र और कठिन है, इसका कुछ अन्दाज़ पीछे के वर्णन से मिल जा चुका होगा। उसकी बनावट में स्थूल से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म तक सभी तत्त्वों के सार भरे हैं। उनके विकास से मनुष्य भिन्न २ लोकों में भ्रमण कर सकता है, और उनका अनुभव प्राप्त कर सकता है।

ये कोई ख़्याली बातें नहीं है। यह भी पहिले ही कहा जा चुका है, कि आज भी हमारे मध्य में ऐसे अनेक मनुष्य वर्त्तमान हैं, जिन्होंने योग साधन द्वारा अपनी अनेक गुप्त शक्तियों का विकास किया है, और हम में से प्रत्येक व्यक्ति जो उचित परिश्रम करना चाहे, वह स्वयं योग साधन द्वारा इन बातों की सचाई अथवा झुठाई का पता लगा ले सकता है। पर केवल ज़बानी कहने अथवा मन में ख्याल कर ही लेने से कोई काम नहीं सध सकता। यदि कोई आदमी विद्युत शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र के किसी नियम की जांच करना चाहे, तो पहिले

उसे कुछ वर्षों तक उस विषय का अध्ययन कर के उस का ज्ञान प्राप्त करना होता है; उसके बाद ही वह किसी वैज्ञानिक द्वारा स्थापित किसी नियम की सचाई अथवा झुठाई की जांच कर सकता है। उसी प्रकार योग साधन में भी पहिले बहुत कुछ सीखना पड़ता है, विशेष प्रकार से रहना पड़ता है—क्योंकि योग में तो अपने ऊपर अर्थात् अपने भीतर के यन्त्रों द्वारा ही प्रयोग करना होता है—तब गुप्त शक्तियों का क्रमशः विकास होता है।

योग साधन के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिये कि इस के दो प्रधान विभाग हैं: हठ योग और राजयोग। दोनों के तरीक़ों में आसमान ज़मीन का अन्तर है। यह ऊपर देखा जा चुका है, कि जीव के प्रकाश के बाहर प्रगट होने में देहाभिमानी जीव के शरीर अर्थात् हम लोगों के नीचे वाले चार शरीर बहुधा बाधक होते हैं। इन को धीरे २ जीव के अधिकार में लाना होता है। इस कार्य को हठयोगी अपने इन नीचे वाले शरीरों को कठिन कष्टों में डालकर साधने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये वे भांति २ के भयङ्कर तप आदि किया करते हैं, जिसमें शरीरादि को घोर कष्टों का सहन करना पड़ता है। पर राजयोग का रास्ता यह है कि उसमें शरीर पर विशेष ध्यान न देकर मन को रोकने तथा उसको ऊपर की ओर प्रवृत्त करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ऐसा करने से जीव और आगे जा कर आत्मा का भी पूर्ण अधिकार मनुष्य के सभी शरीरों पर जम जाता है और साथ ही ये सभी शरीर अपने २

लोक में कुशलता पूर्वक कार्य करने के योग्य भी रहते हैं। हठयोग में तो शरीरों का प्रायः नाश कर दिया जाता है और इसलिये उनकी उपयोगिता से मनुष्य बंचित रह जाता है।

बर्त्तमान जड़बाद और हठयोग ये दोनों दो हद वाले मार्ग हैं। जड़ बादी इस संसार को ही सर्बस्व समझते हैं। इसके बाद और किसी बस्तु अथवा जीवन का अस्तित्व मानते ही नहीं। इसलिये उनका सिद्धान्त बिना किसी और ख्याल के इसी संसार में खाने पीने तथा मौज करने का रहता है। ठीक उनके उलटा हठयोगियों का मार्ग है, जो परलोक को ही सर्बस्व समझते हैं और इस लोक अथवा स्थूल शरीर को कष्ट देने में ही परलोक साधन का सुगम मार्ग समझते हैं। ये दोनों ही दो हद पर हैं। सत्य इन दोनों के बीच में है। उसी माध्यमिक पथ का अवलम्बन करने से मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों का पूर्ण लाभ उठा सकता है। पीछे कहा जा चुका है, कि मनुष्य का भू लोक तथा और लोकों में आने का कुछ विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय तभी पूरा हो सकता है, जब हम इन लोकों के अनुभवों को भली भांति ग्रहण करने की कोशिश करेंगे। पर साथ ही हमें अपने को इन्हीं लोकों का गुलाम भी नहीं बना देना चाहिये। इस लिये माध्यमिक मार्ग से ही जाना हर सूरत से लाभदायक है। संसार में रहना चाहिये, संसार के अनुभवों को हासिल करना चाहिये, पर संसार में लिप्त नहीं होना चाहिये। इसी माध्यमिक मार्ग का अन्त में अवलम्बन कर भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति की और इसी माध्यमिक मार्ग

अर्थात् राजयोग के मार्ग पर भगवान श्री कृष्णने भी गीता में विशेष ज़ोर दिया है।

योग साधन के निमित्त भिन्न २ आवश्यक गुणों का वर्णन करते समय भगवान कहते हैं :

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्त मनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥'

—गी० अ० ६, श्लो० १६, १७।

अर्थात्, 'हे अर्जुन, योग उसके लिये नहीं है, जो बहुत भोजन करता है अथवा जो भोजन से अत्यन्त परहेज़ करता है, न उस के लिये जो बहुत सोता है अथवा बहुत जागता है। योग उसके सर्व दुःखों का नाश करता है, जो आहार तथा विहार में, कार्य करने में और सोने तथा जागने में युक्त अर्थात् नियमित रूप से रहता है।' इसी मध्य पथ पर चल कर मनुष्य अपने जीवन को अधिक से अधिक सफल बना सकता है।

योग की कोई प्रक्रिया आरम्भ करने के पहिले मनुष्य को भली भांति स्मरण रखना चाहिये कि योगाभ्यास के असली तत्त्व सदा गुप्त रखे जाते हैं। गुप्त रखने के कारण के सम्बन्ध में पहिले भी कहा जा चुका है। योग की कितनी रीतियां ऐसी हैं, जिन के अभ्यास में सहज में मनुष्य अपने कुछ चक्रों को जाग्रत कर सकता है, जिस से उसके हाथ में कोई असाधारण शक्ति आ जा सकती है। पर यदि उसमें उसके सदुपयोग के

लिये पहिले ही चरित्र गठन, निःस्वार्थता तथा सेवा के सद्गुणों की दृढ़ नींव स्थापित नहीं हो चुकी हो, तो वह बहुधा उस शक्ति का दुरुपयोग ही करेगा। और इस दुरुपयोग से केवल उसी को हानि नहीं पहुंचेगी, उससे भी अधिक ख़राब बात यह है कि दूसरों को भी उससे बड़ी हानि पहुंचेगी। योग की कुछ रीतियां ऐसी सुगम हैं कि थोड़े अभ्यास से ही मनुष्य विचित्र ज्योति तथा भांति २ के रंगों तथा रूपों को देख सकता है और तरह २ की मनमोहक आवाज़ों को सुन सकता है। इन्हें देख कर मनुष्य अक्सर धोखे में आ जाता है और इन्हीं शक्तियों के बढ़ाने की फ़िक्र में लग जाता है और इसी को असली आध्यात्मिक जीवन समझने लगता है। पर पीछे बतलाया जा चुका है कि ये शक्तियां मनुष्य को कुछ आगे नहीं पहुंचाती हैं, बल्कि उसे तरह २ के अदृश्य आक्षेपों के केन्द्र बना देती हैं। इसी कारण योगी लोग योग के भेदों को अत्यन्त गुप्त रखते हैं और केवल अधिकारी पुरुषों को ही बतलाते हैं। यद्यपि यह प्रथा साधारण दृष्टि से दोष-पूर्ण प्रतीत होती है, पर तौभी ग़ौर करने से मालूम होगा, कि व्यष्टि तथा समष्टि दोनों भावों से मानव समाज के हित के लिये ऐसा ही करना उचित है।

इसलिये केवल पुस्तकों को पढ़ कर कभी योगाभ्यास आरम्भ नहीं करना चाहिये। योग की अनेक बातें ऐसी हैं, जो कभी पुस्तकों में प्रकाशित नहीं की जा सकतीं। जो ज्ञान पुस्तकों में उपलब्ध भी है, उसको भी बिना अनुभवी पुरुष की सहायता के समझना प्रायः असम्भव है। बीच २ में उनमें से ऐसी बातें

छुटी हुई हैं, जिनके जाने विना योगाभ्यास की क्रिया समुचित रीति से नहीं की जा सकती। इसके अलावे किसी भी पुस्तक में केवल साधारण भाव से किसी बस्तु का वर्णन किया जा सकता है। पर योगाभ्यास में उन साधारण बातों के अलावे बहुत कुछ बातें ऐसी हैं, जो प्रत्येक अभ्यासी के भिन्न २ शरीरों अथवा भिन्न २ प्रकार के व्यक्तिगत जीवनों से सम्बन्ध रखती हैं; पुस्तकों द्वारा उन सभों का वर्णन करना असम्भव है।

स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार विज्ञान में दो पदार्थों को विशेष परिमाण में मिला कर विशेष गर्मी अथवा विशेष भार पहुंचाने से अथवा अन्य प्रकार से मिलाने से एक तीसरा पदार्थ तैयार हो जाता है, जिसका रूप, रंग, गुण सब कुछ उन दोनों पदार्थों से बिल्कुल भिन्न होता है, उसी प्रकार समुचित सामानों के समुचित रूप से एकत्र करने पर ही योग की प्रक्रियाओं के भी फल निकल सकते हैं; और यदि किसी पदार्थ की मात्रा समुचित मात्रा से कम अथवा अधिक हो जाय, अथवा अन्य प्रभाव कम अथवा अधिक परिमाण से मिलें, तो नतीजा कुछ और का और ही निकलेगा। इसलिये वैज्ञानिक प्रयोगों के उचित नतीजों को निकालने के लिये बहुत सावधानी से कार्य करना पड़ता है। मनुष्य को अपने भीतर योग द्वारा किसी प्रकार का परिवर्त्तन लाने में और भी अधिक सावधान होने की आवश्यकता है, क्योंकि यदि योग साधन की भिन्न २ आवश्यकताओं में कुछ भी कमी बेशी हुई, तो इसका मनुष्य के ऊपर बहुत भयङ्कर परिणाम पड़ता है। नतीजा यह होता है, कि

इस प्रकार के योग साधन करने वाले बहुधा रोगी बन जाते हैं, पागल हो जाते हैं और तरह २ के अन्य दु:खों के भागी भी बनते हैं। इसलिये बिना किसी सच्चे अनुभवी गुरु के कभी योगाभ्यास की कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये।

पर सच्चे गुरु का पाना कुछ सहज काम नहीं है। फिर भी खोजी को सद्गुरु सदा प्राप्त हो ही जाते हैं। ज्ञान यज्ञ की प्रधानता दिखलाते समय उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥'

—गी० अ० ४, श्लो० ३४।

अर्थात्, 'इस की शिक्षा प्रणिपात अर्थात् गुरु के चरणों पर गिर कर अर्थात् शिष्यत्व द्वारा, परिप्रश्न अर्थात् जिज्ञासा द्वारा और सेवा द्वारा प्राप्त करो। ज्ञानी, तत्त्वदर्शी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे।' इस से भी साफ़ ज़ाहिर होता है, कि तत्त्वज्ञान सीखने के लिये किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा को ही ढूंढ़ना आवश्यक है। उनके पाने पर किस प्रकार उनसे ज्ञान सीखना चाहिये इस सम्बन्ध में भी उपदेश इस श्लोक में दिया गया है। पर सब से पहिले तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसे ज्ञानी, तत्त्वदर्शी महापुरुष को कहां और कैसे ढूंढ़ा जाय। इसलिये अगले अध्याय में ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति के साधन पर ही कुछ विचार किया जायेगा।

सत्रहवां अध्याय

गुरु-शिष्य प्रथा तथा सद्गुरु की प्राप्ति के साधन

गुरु-शिष्य की प्रथा हमारे यहां बहुत प्राचीन काल से चली आती है, पर आज की प्रचलित प्रथा में कुछ सार नहीं रह गया है। केवल उस प्राचीन प्रथा की नक़ल मात्र हो रही है। आज भी लोग समझते हैं, कि बिना गुरु के आश्रय लिये मनुष्य का इस लोक में तथा परलोक में कहीं कल्याण नहीं हो सकता। इसी लिये यदि, बिना गुरु की दीक्षा लिये, कोई बीमार पड़ कर मरणासन्न हो जाता है, तो उस समय भी घर वाले पारिवारिक गुरु को बुला कर उसे मृत्युशय्या पर भी शिष्य बनवा देते हैं। जल्दी २ में कुछ पूजा पाठ का सामान होता है और गुरु जी धीरे से कान में मन्त्र फूंक देते हैं। बस्, शिष्य होने का रस्म अदा हो जाता है; और लोग समझते हैं, कि अब इस लोक में क्या, परलोक में भी गुरु की कृपा से वह मनुष्य किसी कठिनाई में न पड़ कर निश्चिन्त भाव से जीवन का सफर तय कर सकेगा।

अक्सर ऐसा देखा जाता है, कि ऐसे गुरु आज कल प्रायः मूर्ख ही हुआ करते हैं। कहीं २ पर पढ़े लिखे भी गुरु हैं, पर साधारण समाज में तो ऐसे गुरुओं की एक टोली बन गई है। चेलवई उनकी अलग २ बंटी हुई है; और समय २ पर अपनी २ चेलवई में गुरुजी लोग रमते फिरते हैं। शिष्य लोग उनकी पूजा

आर्चा करते हैं, और दक्षिणा में यथा-शक्ति धन दौलत समर्पित करते हैं। इस प्रकार चेलवई आज कल धन कमाने की एक वृत्ति हो गई है। गुरु जी महाराज अपना कर्त्तव्य सिर्फ़ चेले के कान में मन्त्र फूंक देना जानते हैं, और गुरु तथा शिष्य दोनों पक्ष वाले इतने से ही सन्तुष्ट रहते हैं और समझते हैं कि इतने से ही लोक तथा परलोक सर्वत्र का सामान हो जाता है। इस लिये इनको कनफुंकवा गुरु कहते हैं।

आज कल हमारे यहां गुरुओं की अनेक श्रेणियां स्थापित हो गई हैं। सोचने विचारने से यह बात समझ में नहीं आती है, कि इस प्रकार मनुष्य कैसे अपने मन को संतोष दे सकता है। साधारण कहावत है, कि 'गुरु कीजे जान, पानी पीजे छान'। पर इस बात को अच्छी तरह जानते हुए भी, कि पारिवारिक गुरुजी मूर्ख हैं और कहीं २ भ्रष्ट चरित्र वाले भी हैं, लोग उनसे कान फुंकवा कर चेला बनने में ही अपना कल्याण समझते हैं—सो भी केवल इसी लोकके हितके लिये नहीं, बल्कि इसके बाद पर-लोक के हित के लिये भी ; क्योंकि कहा जाता है कि बाप दादे के समय से ऐसी ही प्रथा चलती आई है ; जो इसको तोड़ेगा उसका कल्याण नहीं हो सकता। अज्ञानता का इससे बढ़ कर बुरा दुष्परिणाम क्या होगा ? एक अत्यन्त ऊंचे दर्जे की अत्यन्त पवित्र तथा प्रभावशाली प्रथा को किस हद तक हम ने नीचे गिरा रखा है ! पर हम आगे देखेंगे कि इन सारहीन तथा अत्यन्त हानिकर नक़लों के भीतर भी कैसा एक उच्चतम आदर्श छिपा है !

कुछ लोगों ने, जिन्हें पारिवारिक गुरुओं से सन्तोष नहीं होता है, दो प्रकार के गुरुओं की प्रथा क़ायम की है। वे पारिवारिक गुरुओं की प्रथा के साथ छेड़ छाड़ नहीं करना चाहते, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें तरह २ के सामाजिक आक्षेपों का केन्द्र बनना पड़ेगा। इस लिये इन्हें तो वे केवल कनफुंकवा गुरु कहते हैं, और इनके अलावे वे एक दूसरी श्रेणी के गुरु करते हैं, जिन्हें सद्गुरु कहते हैं। उन से ये योगाभ्यास की कोई रीति सीखते हैं: जैसे, अदृश्य वस्तुओं के देखने की रीति अथवा अज्ञात शब्दों के सुनने की रीति, अथवा कुण्डलिनी अथवा अन्य किसी प्रकार की गुप्त शक्ति जाग्रत करने की रीति, इत्यादि। पीछे कहा जा चुका है, कि ऐसे अभ्यास प्रायः मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर नहीं ले जाने वाले होते हैं, बल्कि उसे बहुधा ख़तरों में ही डालने वाले होते हैं। ऐसे गुरुओं के सम्बन्ध में भी शायद "सद्गुरु" शब्द का व्यवहार करना अनुचित ही प्रतीत होता है। इन बातों को सुन कर बहुत लोगों को दुःख हो सकता है, पर दुःख करने की कोई बात नहीं है। सोच कर देखना चाहिये कि वास्तव में सत्य क्या है। किसी भी विशेष प्रथा पर आक्षेप करने के अभिप्राय से ये बातें नहीं लिखी जाती हैं। इनके यहां देने का आशय यही है, कि हम सोच समझ कर देखें की जिस रास्ते पर हम जा रहे हैं, वह ठीक है अथवा ग़लत। यदि रास्ता ठीक प्रतीत हो, तो उसी पर चलते रहना चाहिये। पर यदि ग़लत मालूम हो, तो उसे बदल कर दूसरा रास्ता पकड़ना चाहिये, अथवा उस रास्ते में जो दोष

आ गये हों, उनको दूर करना चाहिये। पीछे दिखलाया जा चुका है, कि भगवान के पास पहुंचने के अनेक रास्ते हैं। इसलिये किसी विशेष प्रथा पर आक्षेप का यहां अभिप्राय नहीं है।

पर यदि ऐसे दूसरी श्रेणी के गुरुओं से भी पूछा जाय कि "क्या आप ख़ुद अपने कर्म बन्धनों से मुक्त हो गये हैं ? क्या आप ने इस लोक और परलोकों को भी जीत कर स्वतः मुक्ति प्राप्ति कर ली है ? तो शायद उत्तर में 'नहीं' ही मिलेगा। इस लिये ऐसे लोग शिष्य ग्रहण कर के अपना भी भविष्य ख़राब करते हैं और अपने शिष्यों का भी उचित पथ प्रदर्शन न कर के उनके भविष्य को भी ख़राब करते हैं। दोनों पक्षों के लिये इसका कैसा भयङ्कर परिणाम होता होगा, सहज में ही सोचा जा सकता है, क्योंकि कर्म तथा अन्य प्राकृतिक नियम सब के लिये एक भाव से कार्य करते हैं। उनमें पक्षपात का स्थान नहीं है। इस लिये ग़ौर करने से मालूम होगा, कि हमारी आज ठीक वैसी ही दशा हो रही है, जो अन्धों की अन्धे नेताओं की रहबरी में हो सकती है। गुरुजी ख़ुद तो गड्ढे में गिरते ही हैं, साथ २ अपने यजमानों अथवा शिष्यों को भी गड्ढों में गिराते हैं। हम अभी देखेंगे कि शिष्य के ग्रहण करने में कितनी बड़ी जिम्मेवारी गुरु के ऊपर होती है, और इसलिये सच्चे सद्गुरु किस प्रकार बहुत छानबीन अथवा निरीक्षण के बाद ही शिष्यों को ग्रहण करते हैं ; और किसी भी गुप्त शक्ति के जाग्रत करने की कोई तरकीब बतालाने के पहिले, वे किस प्रकार अपने भावी शिष्यों को चरित्र गठन, स्वार्थ त्याग तथा सेवा आदि सद्गुणों

का अभ्यास कराते हैं।

सद्गुरु से क्या अभिप्राय है, यह भी पहिले बतलाया जा चुका है। इस परम पद पर केवल उन्हीं मनुष्यों में से कुछ मनुष्य रहते हैं, जो कर्म बन्धनों से मुक्त हो आवागमन से रहित हो कर, अशेष अर्थात् महात्मा पद को प्राप्त कर चुके हैं। सद्गुरुओं की महिमा अनेक सन्तों ने गाई है। कुछ उदाहरण यहां पर तुलसीदास तथा कबीरदास के पदों से दिये जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी रामायण के आदि में बन्दना करते समय कहते हैं :

बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि।
महा-मोह-तम पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर॥

बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल-भव-रुज-परिवारू॥
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल-मोद-प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल हरनी। किये तिलक गुन-गन-बस-करनी॥
श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भवरजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

इसी प्रकार सद्गुरुओं की अगाध महिमा को अन्य सन्तों ने भी गाई है। एक स्थान पर वन्दना में ही कहा गया है :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुःसाक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

की भी ख़बर लोगों को मिल गई थी। एक प्रतिष्ठित महाशय को उनके दर्शन की बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई। वे सर्कारी मुहकमों में किसी ऊंचे पद के अधिकारी थे। अन्तिम समय में इन जीवन्मुक्त महात्माओं के दर्शन की कठिन प्रतिज्ञा कर के सन्यासी भेष में वे एक दिन घर से निकल पड़े। उन्हों ने ऐसी कठिन प्रतिज्ञा की थी, कि या तो ऐसे किसी महात्मा से दर्शन कर के लौटूंगा, या उनकी खोज में इसी यात्रा में प्राण दे दूंगा। सरहद पार कर उनको घोर जंगल से हो कर जाना पड़ा। अकेले थे ; साथ में कोई न था। उनको भय तो कुछ था ही नहीं, क्योंकि इस खोज में जान बूझ कर वे अपनी जान को अपनी हथेली पर लेकर चले थे। रात को उस निर्जन बन में एक स्थान पर एक छोटा मकान नज़र आया। उसी में जाकर ठहरे। आधी रात के लगभग कुछ और लोग वहां पहुंचे और इनके बग़ल की एक कोठरी में मांस मदिरा खाने पीने लगे और हल्ला हशरात मचाने लगे। उनकी आहट पा कर इनको एक बार बहुत भय हुआ, क्योंकि अगर इनकी कोठरी में वे जा पड़ते, तो अवश्य इनकी जान मार देते। पर फ़ौरन महात्माओं तथा अपने लक्ष्य को स्मरण कर के उन्हों ने अपने भीतर शान्ति स्थापित की। भोर होते ही ये वहां से किसी दूसरे रास्ते से बाहर निकल कर आगे बढ़े।

कुछ ही दूर आगे बढ़े थे, कि सामने उन्हों ने घोड़े पर सवार एक महापुरुष को आते देखा। देखते ही इनके मन में ऐसी भावना उमड़ आई, कि जिन की खोज में मैं निकला हूँ, ये वही हैं।

पास आ कर उन्हों ने घोड़े को ठहराया। दण्ड प्रणाम के बाद कुछ देर तक दोनों में बातें हुईं। ये पहिचान गये कि जैसा वर्णन इन्हों ने एक महात्मा का सुना था, उस वर्णन से वर्त्तमान सज्जन बिल्कुल मिलते थे। इस प्रकार महात्मा ने उनको दर्शन दे कर उन्हें समझाया कि महात्माओं के खोजने का यह तरीक़ा नहीं है; उन्हों ने उनको यह भी बतलाया कि कैसे वास्तव में महात्माओं की खोज करनी चाहिये और कुछ और उपदेश देकर उनको वापस किया।

कर्नल औल्कौट साहेब ने "प्राचीन डायरी पत्र" (Old Diary Leaves) नामक पुस्तक की कई जिल्दों में ऐसी २ अनेक घटनाओं का वर्णन किया है, जो थियोसौफिकल सोसाइटी के आदि काल में घटित हुई थीं। महात्माओं से मिलने के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर ऐसा वर्णन मिलता है, कि उनके पाने में कठिनाइयां इस कारण नहीं आती हैं, कि वे किसी से मिलना ही न चाहते हों अथवा किसी को शिष्य न बनाना चाहते हों; बल्कि विशेष रूप से मनुष्य खुद अपनी ओर से उनके प्राप्त करने के रास्ते में बाधायें उपस्थित करता है। उन्हों ने तो इसी लिये अपने परम सुख का त्याग किया है कि जिसमें उनके द्वारा मनुष्यों के बिकास में सहायता पहुँच सके। मनुष्य के लिये उनका प्रेम अगाध है। अपने व्यावहारिक अनुभव से हम जानते हैं कि पुत्र के लिये माता का जैसा प्रेम होता है, वैसा प्रेम अन्यत्र नहीं पाया जाता। पर हज़ारों माताओं के प्रेम को एक साथ मिलाने पर भी मनुष्य के लिये जैसा सद्गुरु का प्रेम है,

उसकी तुलना नहीं जी जा सकती। सद्गुरु तो सदैव राह देखते रहते हैं, कि कब कोई संसार की ओर से हट कर उनकी ओर मुख मोड़ेगा कि वे उसकी सहायता कर सकेंगे; पर हम संसार को छोड़ना नहीं चाहते। इस से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि वे सब किसी को घर द्वार छोड़ कर सन्यासी बनाना चाहते हैं। सन्यासी अवश्य बनाना चाहते हैं, पर घर द्वार छोड़ कर भेष धारी सन्यासी नहीं, वरन् हृदय से संसार का त्याग करने वाले सच्चे सन्यासी, जो संसार में बाल बच्चों के मध्य रहते हुए भी, संसार से विरक्त हो कर, संसार की ही सेवा में लगे रहते हैं।

संसार की ओर से कुछ विरक्तता आने पर भी हम बहुधा गुप्त शक्तियों के प्राप्त करने की फ़िक्र में लग जाते हैं। और ऐसे ही गुरु की तलाश में पड़ते हैं, जो हम को कुण्डलिनी अथवा अन्य शक्तियों को जाग्रत करने का भेद बताये। खुलासा यह है, कि लोभ हम में अभी भी बना रहता है। हां, उसका रूप अवश्य बदल जाता है। अब स्थूल वस्तुओं की प्राप्ति का लोभ नहीं रहता है, पर गुप्त सूक्ष्म शक्तियों की प्राप्ति का लोभ रहता है। पर सद्गुरुओं का प्रधान कार्य इन शक्तियों के जगाने में सहायता पहुंचाना ही नहीं है। वे स्वतः सेवा मार्ग में लगे हुए हैं और मनुष्यों को भी सच्चा सेवक बनाना चाहते हैं। जब तक किसी रूप में स्वार्थ का भाव हमारे साथ लगा हुआ है, तब तक हज़ार कोशिश करने पर भी हम उनको नहीं पा सकते। उनके प्राप्त करने का सुगम मार्ग यही है कि मनुष्य अपने चरित्र का सुगठन

कर के निःस्वार्थ भाव से संसार की सेवा में लग जाय। यही असली निवृत्ति मार्ग का रास्ता है। इस पथ पर आरूढ़ होते ही सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है। सिद्धियों की प्राप्ति का समय भी मनुष्य के जीवन में आता है। पर उसके पहिले चरित्र गठन और निःस्वार्थ सेवा का भाव दृढ़ता पूर्वक आ गया रहना चाहिये। ऐसा अवसर आने पर गुरुदेव शिष्य को सहज कूंजी बतला देते हैं कि किस प्रकार बिना खतरे के इन शक्तियों को जाग्रत करना चाहिये। इस लिये सिद्धियों की प्राप्ति के पीछे लगे रहना उचित नहीं है। उससे अच्छा है कि मनुष्य अपना समय सेवा के कार्य में लगाये। हम को हमेशे स्मरण रखना चाहिये कि सद्गुरु को ढूंढ़ने के लिये हम को किसी जंगल, पहाड़ अथवा कहीं अन्यत्र जाना आवश्यक नहीं है। उचित भाव आ जाने पर यहीं हम को गुरु का साक्षात्कार हो जायगा। अधिकारी पुरुष के लिये सद्गुरु सदा हर जगह वर्त्तमान हैं। वे गुप्त रूप से सर्वदा मनुष्य मात्र का अवलोकन किया करते हैं, और जहां कोई निवृत्ति पथ की ओर दृढ़ता के साथ बढ़ता हुआ पाया गया, कि वे उसको अपना लेते हैं, और परोक्ष अथवा अपरोक्ष रीति से सदैव उसका पथ प्रदर्शन तथा साहाय्य किया करते हैं।

बिशप लेडबीटर साहेब ने अपना अनुभव ऐसा ही प्रगट किया है। यह उस समय की बात है जब इनको अपने सद्गुरु का साक्षात्कार हाल में ही हुआ था और इनको उनके शिष्य होने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। उस समय इनके एक

मित्र थे, जिनको ये अपने से भी हर तरह से अच्छा समझते थे। वे भी निःस्वार्थ भाव से सेवा के ही कार्यों में जीवन बिताते थे। इस लिये लेडबीटर साहेब के मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ, कि क्या कारण है, कि इनके मित्र को अभी तक शिष्य होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इस लिये जब ये एक बार अपने सद्गुरु के आश्रम पर गये थे, तो इन्हों ने अवसर पाकर अपने मित्र के सम्बन्ध में कुछ बात उनसे कही। वे फौरन इनके मन की बात को ताड़ गये और उन्हों ने कहा कि अन्देशा करने की कोई बात नहीं है। आप के मित्र को अभी कुछ कर्म भोगना शेष है, जिसको बिना भोगे वह शिष्य नहीं हो सकते। वह शीघ्र ही इस पृथ्वी से बिदा हो कर परलोक सिधारेंगे और थोड़े ही दिनों में फिर दूसरा जन्म धारण करेंगे। उस समय तक उनका बाधा डालने वाला भोग पूरा हो गया रहेगा और तब उनके सम्बन्ध में आप की जो अभिलाषा है, वह पूरी हो सकेगी।

ऐसा कह कर गुरुदेव ने इनकी चेतना को अपनी चेतना के साथ मिला कर कहीं एक अत्यन्त ऊंचे लोक में उठाया, और वहां से संसार का दृश्य दिखलाया कि किस प्रकार वे सदैव संसार को देखते रहते हैं। लेडबीटर साहेब ने अपने अनुभव का वर्णन किया है, कि वहां से देखने पर समस्त संसार एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक समान दिखाई पड़ता था। इसमें जहां कहीं कोई मनुष्य निवृत्ति पथ की ओर बढ़ता दिखाई देता था, उसके शरीर से एक प्रकार का प्रकाश निकलता था,

अन्य मनुष्यों से ऐसा प्रकाश नहीं निकलता था। इस प्रकार सद्गुरु ने उन्हें यह अनुभव दिला कर यह बात बतलायी, कि यह सम्भव नहीं है, कि इस संसार के किसी भी कोने में कोई मनुष्य हो, जो शिष्यत्व प्राप्ति के समीप पहुंचता हो, और उनको इस बात का पता न चल जाय। पता पाते ही ये उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार ज़ाहिर होगा कि निवृत्ति पथ पर आरूढ़ होते ही शिष्यत्व प्राप्ति का सुअवसर आप से आप मनुष्य को प्राप्त हो जाता है। निवृत्ति की ओर बढ़ने के प्रत्यक्ष प्रमाण ये हैं, कि मनुष्य को सांसारिक सुखों में आनन्द नहीं मिलता, वह किसी आदर्श अथवा सिद्धान्त के ऊपर अपना जीवन अवलम्बित करना चाहता है। उस अवस्था में पहुँचने पर चार विशेष गुण हैं, जिन में कुछ न कुछ प्रवीणता प्राप्त करने पर ही अपने सद्गुरु का दर्शन प्राप्त हो सकता है, अथवा उनके साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। इन गुणों का विशेष सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र गठन तथा निःस्वार्थ सेवा भाव से है। इन चारों गुणों के नाम हैं:— विवेक, वैराग्य, षट्सम्पति तथा मुमुक्षत्व। इन्हीं को जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य ने साधन चतुष्टय कहा है।

हैं तो ये प्राचीन बातें, पर आज हम इनको प्रायः बिल्कुल भूल गये हैं। हमारे जीवन के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। इन गुणों के वर्णन अनेक प्रकार से किये गये हैं। इनका ज्ञान अनेक पुस्तकों से प्राप्त किया जा सकता है। पर कई

वर्ष हुए मि० जे० कृष्णमूर्त्ति ने इनके ऊपर एक छोटी सी किताब लिखी, जिसका नाम "श्री गुरु चरणेषु" (At the Feet of the Master) है। उस पुस्तक में जैसे सरल शब्दों में इन गुणों अथवा साधनों का वर्णन किया गया है, वैसा शायद ही और कहीं मिले। इसका एक प्रधान कारण है। इनका उपदेश स्वयं सद्गुरु द्वारा कृष्ण जी को उस समय प्राप्त हुआ था, जब वे दीक्षा लेने के लिये अपने को तैयार कर रहे थे। कृष्ण जी से यहां अभिप्राय मि० जे० कृष्ण मूर्त्ति से ही है। प्यार से उनको लोग बहुधा 'कृष्ण जी' ही कह कर सम्बोधित किया करते हैं। उस समय उनकी अवस्था केवल दस ग्यारह वर्षों की थी और अङ्गरेज़ी भी उन्हों ने अभी बहुत कम सीखी थी। उनको उपदेश दिलाने के लिये बिशप लेडबीटर साहेब नित्य रात के समय उनके शरीर के सो जाने पर, वासना देह द्वारा उनको सद्गुरु के० एच्० (Master K. H.) के आश्रम पर तिब्बत ले जाया करते थे। सद्गुरु उन्हें थोड़ा उपदेश करते थे और अन्त में उसका सारांश अङ्गरेज़ी के छोटे २ वाक्यों में कह दिया करते थे। सो कर उठने पर कृष्ण जी को स्वप्नावस्था की ये बातें याद आती थीं और ये उनको काग़ज़ पर नित्य नोट करते जाते थे। इन्हीं नोटों को इकट्ठा कर के पीछे उनको पुस्तक के रूप में छपवाया गया। इसलिये भूमिका में कृष्ण जी ने भी स्पष्ट रूप से कहा है, कि जो कुछ इस पुस्तक में दिया गया है वह उनके शब्दों में नहीं है, बल्कि उन गुरुदेव के शब्दों में है, जिनसे उन को ये शिक्षायें मिली थीं और जिन पर चलने से

शिष्यता के पवित्र पथ पर पग रखने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। उसी में उन्हों ने यह भी कहा है कि और भी जो कोई इन उपदेशों के अनुसार चलेगा, वह सद्‌गुरु की प्राप्ति अवश्य कर सकेगा। साधन चतुष्टय के सद्‌गुणों को इसी लिये इतनी सहज भाषा में रखने की आवश्यकता हुई, क्योंकि कृष्ण जी को दस ग्यारह वर्षों की अवस्था में ही उन्हें समझना था। ये बातें क़िस्से कहानी की सी मालूम होती हैं। पर ये सभी सत्य घटनायें हैं; और जिन्हें इन घटनाओं में भाग लेने का सौभाग्य हुआ था, वे भी सब लोग अभी तक बर्त्तमान हैं। जो हो, इस छोटी पुस्तक से संसार को अपूर्व लाभ हुआ है। इस संसार की अनेक भाषाओं में इस का अनुबाद किया गया है, और लाखों की तायदाद में यह पुस्तक बिक चुकी है। जो कोई एक बार इसे पढ़ता है, उसको इससे इतना प्रेम हो जाता है, कि इसको बिना अपनाये वह नहीं रह सकता।

इस लिये इन चारों गुणों के बारे में विशेष हाल जानने के लिये हिन्दी में 'श्री गुरु चरणेषु' पुस्तक को पढ़ने की कोशिश करनी चाहिये। यहां पर अत्यन्त संक्षेप में इन गुणों के विषय में कुछ वर्णन किया जायगा।

विवेक से अभिप्राय सत्य और असत्य के भेद को पहिचानने से है। एक रूप में यदि मनुष्य असत्य का त्याग भी करता है, तौभी यह दूसरा सूक्ष्म रूप धारण कर सामने आ जाता है। इस लिये सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि हमेशे इस बात का भय रहता है कि कहीं धोखे में पड़ कर असत्य

को ही मनुष्य सत्य न समझने लगे। सत्य के खोजी को समझना चाहिये कि एक जीवन सब में व्याप रहा है, इस लिये विभिन्नता में से उस एकता को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। उस एकता का अनुभव करने के लिये सब से पहिले अपने ही हृदय के भीतर डूब कर अपने आप को पहिचानने की ज़रुरत पड़ती है, क्योंकि हम साधारणतः अपने को शरीर ही समझते हैं। जब शरीर से अपने को भिन्न समझने लगते हैं, तो हम अपनी वासनाओं के साथ ऐक्य स्थापित करते हैं। उस से भी आगे बढ़ने पर, हम मन को 'हम' कर के समझने लगते हैं। पर जिज्ञासु को इस बात का अनुभव करना पड़ता है, वह इनमें से कोई नहीं है। वह वास्तव में इनके भीतर वास करने वाला देही है और ये उसके व्यवहार के निमित्त भिन्न २ वाहन मात्र हैं। इन बातों का केवल विचार द्वारा ही ज्ञान नहीं करना पड़ता है, अनुभव द्वारा इनको इस रूप में देखना पड़ता है और जीवन में ऐसा ही बर्तने की कोशिश करनी पड़ती है। इस अवस्था के लिये जितने गुण दिये गये हैं, उन में निपुणता तो मनुष्य को आगे बढ़ने पर ही प्राप्त होती है, पर उनको जीवन का अङ्ग बनाने का सतत् प्रयत्न जिज्ञासु अवस्था में ही होना आवश्यक है और कुछ अंशों में उनके अनुसार जीवन को बना लेना भी ज़रूरी है।

विवेक में कुछ निपुणता आने से वैराग्य का गुण तो आप से आप आ जाता है। वैराग्य से उस क्षणिक त्याग से अभिप्राय नहीं है, जो कभी २ मनुष्य को असफलता अथवा किसी की

मृत्यु आदि घटनाओं के सम्बन्ध में होता है। यहां वैराग्य से उस त्याग से अभिप्राय है जो ज्ञान के द्वारा, विवेक के द्वारा, प्राप्त होती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है साधारण स्थूल वस्तुओं की ओर से मुंह मोड़ने पर भी सूक्ष्म चमत्कारिक शक्तियों के प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। पर यह भी एक प्रकार की वासना है, जिसे रोकनी चाहिये। और भी अनेक प्रकार की छोटी २ वासनायें मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होती रहती हैं, जिन सभों से अपने को बंचाना जरूरी है। उदाहरणार्थ, किसी के उपकार करने के बाद इस बात की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये, वह उस उपकार को माने और उसके लिये अनुगृहीत हो; दूसरों के काम में प्रायः कभी छेड़ छाड़ नहीं करनी चाहिये और न अपने को औरों से उन्नत दिखाने की कोशिश करनी चाहिये।

षट्सम्पत्ति से अभिप्राय छ गुणों से है: शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।

शम से अभिप्राय मन को वश में रखने से है। प्रायः छोटी २ बातों से मन चंचल हो जाया करता है अथवा मनुष्य जरा २ सी बातों में घबड़ा जाता है। मन को ऐसा दृढ़ बनाना चाहिये कि उसकी समता सदा बनी रहे; कभी किसी बात से विचलित न होने पाये। मन को रोकना अत्यन्त कठिन अवश्य है। पर भगवान ने गीता में अर्जुन को समझाया है, कि 'अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते', अर्थात्, मन को अभ्यास और वैराग्य से वश में लाया जा सकता है। मन को दृढ़ निश्चल रखने

से मनुष्य की शक्ति भी बहुत बढ़ जाती है और साधारण सुख दु:ख, लाभ हानि, बीमारी अथवा मृत्यु आदि से वह विचलित नहीं होने पाता। प्रत्येक को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। मन में चिन्ता को कभी प्रवेश नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि इससे अपनी हानि तो होती ही है, औरों की भी हानि होती है। साथ ही मन को गर्व से रोक कर प्रतिदिन इसके द्वारा किसी के लिये सहायक विचारों का संचार करते रहना चाहिये।

दम से अभिप्राय इन्द्रियों तथा शरीर को वश में करने से है। यदि शम पर ध्यान दिया जाय, तो इन्द्रियां तथा शरीर आप से आप रास्ते पर आ जाते हैं। फिर भी शरीर को इतना सतर्क, कार्य-शील तथा प्रभावशील बनाये रखना चाहिये, कि कभी किसी सेवा के कार्य करने में यह आलस्य न करने पाये। ऐसा भी नहीं करना चाहिये कि जिसमें साधारण दैनिक कार्रवाइयों में कम ध्यान पड़ सके। प्रत्येक कार्य को साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक निपुणता के साथ करना चाहिये।

उपरति से यह तात्पर्य है कि सभी के साथ सहानुभूति रखनी चाहिये। किसी वस्तु के देखने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं; इसलिये विरोधी भावों अथवा विचारों वाले मनुष्यों से भी सहानुभूति रखनी चाहिये। हो सकता है कि वे किसी वस्तु को ऐसे दृष्टिकोण से देखते हों, जहां से हम उसे नहीं देख सकते हों। इसलिये दूसरों की बातों को ख़ाहमोख़ाह ग़लत नहीं समझना चाहिये। बहुत तरह की रस्म रेवाजात ऐसी हैं, जो निरर्थक मालूम होती हैं, पर हो सकता है कि जो उन रस्मों से

सम्बन्ध रखते हैं, उन के लिये वे लाभदायक हों। इसलिये उनके साथ भी सहानुभूति आवश्यक है।

तितिक्षा से यह अभिप्राय है कि अपने सामने चाहे कैसी भी कठिनाइयां क्यों न आयें, कैसे भी दुःख क्यों न आयें, कैसी भी बिकट परिस्थितियां क्यों न आयें, कभी उन से विचलित नहीं होना चाहिये। सदा आनन्द चित्त रहना चाहिये। अपने कर्मों को सहर्ष भोग लेना चाहिये, और उनके भोगते समय अपने भाग्य को कोसने के बदले, कर्माधिकारी देवताओं का अत्यन्त अनुगृहीत होना चाहिये, कि वे हम को अपने कर्मों को शीघ्र भोग कर उनसे मुक्त होने में सहायता पहुंचाते हैं। साथ ही इस बात पर अटल विश्वास रखना चाहिये, कि कोई बात मनुष्य के सामने ऐसी नहीं आ सकती है, जिसका वह पूर्ण रूप से भागी न हो। इसलिये हर हालत में आनन्दपूर्ण रहना चाहिये।

श्रद्धा से यह अभिप्राय है कि मनुष्य को अपने ऊपर पूरा विश्वास होना चाहिये, कि जिस कठिन पथ पर चलने के निमित्त वह पद आगे बढ़ाना चाहता है, उस पर चलने की पूरी शक्ति उसके भीतर वर्त्तमान है; क्योंकि बिना ऐसा प्रबल आत्म-विश्वास हुए मनुष्य शिष्यत्व के कठिन पथ पर चल नहीं सकता। उसे स्मरण रखना चाहिये कि आज हमारा जीवन चाहे कैसा ही कुत्सित क्यों न हो, पर वास्तव में उसके हृदय में भी ईश्वर का अंश वर्त्तमान है, और इसलिये मनुष्य द्वारा जो कुछ भी किया गया है, उसके करने की पूरी २ शक्ति उसके भी

भीतर वर्त्तमान है। आत्मविश्वास के साथ २ उसमें गुरु पर भी पूरा विश्वास होना चाहिये, क्योंकि यदि श्रद्धा में कमी रही, तो गुरु भी किसी की सहायता नहीं कर सकते।

समाधान से मतलब समभाव से रहना अर्थात् एकाग्र चित्त हो कर रहना है। इस भाव के प्राप्त करने से जो कुछ मनुष्य के सामने आता है, उसको वह पूर्ण ध्यान देकर करता है। किसी वस्तु को बड़ा अथवा छोटा जान कर उसमें कम अथवा अधिक ध्यान नहीं देता है। वह तो केवल अपने गुरु देव का कार्य करना चाहता है और उसके लिये जो कुछ भी कार्य सामने आ जाय, उसको वह एक भाव से देखता है और उसी को दत्तचित्त हो कर करता है। साथ ही यहां तक पहुंचते २ वह शिष्यत्व प्राप्ति के मार्ग पर इतना आरूढ़ हो जाता है कि कोई वस्तु उस को अपने निश्चित पथ से विचलित नहीं कर सकती।

चौथा प्रधान गुण मुमुक्षत्व है। इसका साधारण अर्थ है मोक्ष पाने की अभिलाषा। पर ऐसा कहने से इसमें कुछ स्वार्थ का भाव आ जाता है, हालां कि वास्तव में इसमें स्वार्थ का भाव नहीं है। इसी लिये गुरुदेव ने कृष्ण जी को समझाते समय अङ्गरेज़ी में जिस शब्द द्वारा इसका भाव प्रगट किया था, उसका अर्थ है प्रेम (Love)। इस को प्रेम कहने से स्वार्थ सहित मुक्ति का भाव एक दम निकल जाता है। आगे उस पुस्तक में दिखलाया गया है कि प्रेम के दो अङ्ग हैं : एक तो यह कि किसी का अहित नहीं करना और दूसरे दूसरों का हित करना। अहित के तीन प्रधान रूप दिखलाये गये हैं : निन्दा, निर्दयता और

अन्ध विश्वास। निन्दा के सम्बन्ध में पहिले वर्णन किया जा चुका है। इस स्थान तक पहुंचा हुआ मनुष्य जान बूझ कर किसी को कष्ट नहीं पहुंचा सकता। पर बिना जाने बूझे भी निर्दयता हो जाती है : जैसे, नौकर को समय पर मुशाहरा नहीं देने से उसको तथा उसके बाल बच्चों को कितना कष्ट भोगना पड़ता है। इस लिये सदैव सतर्क रहना चाहिये कि कहीं ऐसा न हो कि अज्ञात रूप से भी किसी को कुछ कष्ट अपनी लापरवाही के कारण पहुंच सके। और अन्ध विश्वास का कितना बुरा परिणाम होता है, इस सम्बन्ध में कई बार पहिले भी कुछ कहा जा चुका है। इसका अवलम्बन करने से धर्म के नाम पर धर्म का गला घूंटा जाता है।

पर इतना ही काफ़ी नहीं है कि मनुष्य बुराइयों से परहेज़ करे। उसको भलाइयों को भी ढूंढ़ २ कर करते रहना चाहिये। सदा अपने को इस ताक में लगाये रखना चाहिये, कि कब कहां ऐसा सुअवसर मिलेगा कि कोई सेवा का कार्य किया जा सके; और जहां कोई ऐसा अवसर मिला कि फ़ौरन उसे पूरा करना चाहिये। मुमुक्षु को सदा स्मरण रखना चाहिये कि वह अपने को विकास क्रम के प्राकृतिक नियम के संचालन में एक सहायक सेवक बनाना चाहता है। इस लिये सेवा के किसी छोटे से छोटे कार्य की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। बल्कि छोटे कार्यों पर ही विशेष ध्यान देने से सेवा का भाव दृढ़ता पूर्वक मनुष्य के हृदय में जम जाता है और तब बड़े कार्यों के अवसर प्राप्त होने पर भी उन्हें वह स्वभावतः त्याग न सकेगा।

इस प्रकार इन चारों प्रधान गुणों को एक साथ प्राप्त करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। इन का पूरा और अपूर्व वर्णन जानने के लिये "श्री गुरुदेव चरणेषु" नामक पुस्तक का ही आश्रय लेना चाहिये। उससे बढ़ कर दूसरे किसी भी ग्रन्थ में इनका इतना स्पष्ट और सरल वर्णन नहीं पाया जाता है। यहां भी जो कुछ दिया गया है, उसके मूल विचार उसी पुस्तक से लिये गये हैं, पर उन अमूल्य उपदेशों का पूरा अभिप्राय दूसरे शब्दों में प्रगट करना हम लोगों की शक्ति के बाहर की बात है।

जो कोई वास्तव में अपने सद्गुरु को प्राप्त करना चाहता है, उसको इस से बढ़ कर कोई राय नहीं दी जा सकती कि वह उपरोक्त पुस्तक को लेकर पढ़े और उसके एक २ शब्द का आशय भली भांति समझ कर वैसा ही अपना जीवन बनाये। इसकी वर्णन शैली से ही मालूम होगा कि ये कोई नये गुण नहीं हैं। प्राचीन प्रथानुसार सद्गुरु के पास पहुंचने के ही गुण हैं। हां, आज हम उन्हें भूल अवश्य गये हैं। पर आज पुनः उनकी नव जागृति की गई है। और जिस प्रकार प्राचीन काल में इन गुणों को अपना कर सच्चे जिज्ञासु अपने २ गुरु देव के पास पहुँचते थे, वैसे ही आज भी अपने जीवन द्वारा उनका अनुसरण करने से सद् गुरु की उपलब्धि हो सकती है। अनेकों मनुष्य, जो अभी भी जीवित हैं, इस पथ का अवलम्बन कर अपने सद्गुरु के आश्रय प्राप्त कर चुके हैं; और इसमें किंचित मात्र सन्देह का स्थान नहीं है कि जो कोई भी इनको हृदयाङ्कित कर अपने जीवन में इन्हें बर्त्तेगा, वह अवश्य अपने सद्गुरु के

समीप पहुंच जायगा। सद्‌गुरु के साथ शिष्य के जो सम्बन्ध होते हैं और शिष्यत्व हासिल कर के जिस प्रकार भिन्न २ दीक्षाओं को प्राप्त कर मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है, और स्वयं जीवन्मुक्त हो जाता है, इन बातों का संक्षिप्त वर्णन अगले अध्याय में पाया जायगा।

अट्ठारहवां अध्याय

मनुष्य जीवन का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि

साधारणतः हम समझते हैं, कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य ईश्वर अथवा ब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करना है। पर वह तो प्राणी मात्र का अन्तिम लक्ष्य है। क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या बनस्पति, क्या अन्य श्रेणी के दृश्य अथवा अदृश्य प्राणी—सभी अन्त में उसी एक परम पद को प्राप्त होंगे। सभों की आदि उत्पत्ति वहीं से है, और अन्त में सभी उसी में जा मिलेंगे। पर तौभी कोई प्राणी एक-ब-एक उस अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। आदि से लेकर अन्त तक जहां तक का ज्ञान उपलब्ध हुआ है, उस से यही प्रतीत होता है, कि समस्त जगत के लिये एक ईश्वरीय विधान है, जिस के अनुसार ही सभी प्राणियों का क्रमशः विकास होता है। इस प्रकार खनिज पदार्थों के जीवन की पूर्णता इसी में है, कि वे विकसित हो कर बनस्पति वर्ग में पहुंच जायं। ऐसा कोई प्राकृतिक नियम नही पाया जाता है, कि कोई प्राणी खनिज वर्ग से एक-ब-एक पशु वर्ग अथवा मनुष्य वर्ग में पहुंच जाय। ऐसे ही बनस्पतियों के जीवन का लक्ष्य यही है, कि वे विकास पाकर पशु वर्ग में प्रवेश कर जायं; और पशु जीवन के विकास का लक्ष्य यही है, कि वहां से विकास पाकर प्राणी मनुष्य वर्ग में पहुंच जायं। इस प्रकार देखा जाता है कि यद्यपि सभी प्राणी अन्त में परब्रह्म परमेश्वर में ही लीन हो जायेंगे, तथापि उन को

जीवन के भिन्न २ वर्गों से हो कर ही सफर तय करना पड़ता है, अर्थात्, अन्तिम लक्ष्य के अलावे जीवन के प्रत्येक वर्ग का भी एक २ विशेष लक्ष्य है। और मनुष्य वर्ग भी विकास क्रम के मध्य का एक विभाग है। इस लिये मनुष्य वर्ग से भी साधारणतः कोई परब्रह्म परमात्मा के पद को बिना इस से ऊपर वाले वर्गों से हुए नहीं पहुंच सकता। मनुष्य के वर्ग से ऊपर का वर्ग अशेष महात्माओं का वर्ग है। महात्माओं को भी भिन्न २ वर्गों से हो कर अपना उच्च कोटि का विकास पूरा करते जाना पड़ता है। उन के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षेप से पीछे थोड़ा वर्णन किया जा चुका है। अन्त कहां है, इस का कुछ पता नहीं। पर इतना ठीक है, कि एक २ वर्ग जैसे २ ऊपर की ओर बढ़ता जाता है, वैसे २ क्रमशः जीवन की अपूर्व शक्तियों के विकास होते जाते हैं, जिन का अभी हम अनुमान तक नहीं कर सकते।

कुछ लोग विकास क्रम के बन्धनों से भागने के ख्याल से अपनी वासनाओं आदि का पूर्ण हनन कर एक निर्गुण ब्रह्म में मिलने की ही अभिलाषा से कार्य करते हैं। सम्भव है, ऐसे मनुष्य विकास के स्रोत से अलग हो कर एक कल्प तक किसी लोक में सुख भोगते रहें, पर उस कल्प के अन्त में पुनः उन को वहां से पृथ्वी पर वापस आना पड़ता है और जहां से विकास क्रम से उन्होंने सम्बन्ध तोड़ा था, वहां से पुनः आरम्भ करके आगे के क्रमों को क्रमशः पूरा करते २ आगे बढ़ना पड़ता है। इस का कारण स्पष्ट है। विकास की प्रणाली ईश्वर द्वारा निश्चित की हुई प्राकृतिक प्रणाली है। इस के प्रत्येक भाग का विशेष

अभिप्राय है, जिस को छोड़ने से वह अभिप्राय पूरा नहीं हो सकता। इस लिये प्राकृतिक विकास के क्रमों को समझ कर ही उन के अनुसार जीवन व्यतीत करना परम उत्तम है।

इस प्रकार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अशेष महात्माओं के पद पर पहुंचना विदित होता है। इस से यह नहीं समझना चाहिये, कि चूंकि परब्रह्म के पास पहुँचने की बात अभी हमारे सामने नहीं रखी जाती है, इस लिये हमारे जीवन का लक्ष्य कुछ संकुचित हो जाता है। इससे लक्ष्य संकुचित नहीं हो सकता; बल्कि इस प्रकार चलने से हम जैसे २ आगे बढ़ते जायेंगे, वैसे २ हमारा आगे का लक्ष्य और स्पष्ट होता जायगा। इन नये सिद्धान्तों के भेद प्रगट होने से जीवन पथ पर अधिक प्रकाश पड़ता है; हमारी सङ्कीर्णता दूर होती है और उदारता का भाव हृदय में प्रवेश करता है। अभी तो परब्रह्म परमात्मा आदि हमारे लिये केवल शब्द मात्र हैं; हम ज़रा भी उनके तत्त्वों को नहीं समझते हैं। वर्त्तमान समय में जो प्राचीन मार्ग पुनः हमारे सामने स्पष्ट रूप से प्रगट किया जाता है, इससे हम परब्रह्म परमात्मा के सार तत्त्व को धीरे २ समझ सकेंगे। इस लिये इस लक्ष्य को सङ्कीर्ण न समझ कर इसे अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचने का सच्चा मार्ग समझना चाहिये।

मनुष्य अर्थात् जीव की भिन्न २ अवस्थाओं का कुछ वर्णन पीछे किया जा चुका है। जब मनुष्य प्रवृत्ति मार्ग से निकल कर, प्रवृत्ति और निवृत्ति की मध्यावस्था को भी पार कर के निवृत्ति पथ पर दृढ़ हो जाता है, अर्थात्, जिस समय उसके

जीवन का प्रधान अवलम्ब सिद्धान्तों अथवा आदर्शों पर ही रहने लगता है, तो ऐसे समय में उसको अपने सद्गुरु का साक्षात्कार होता है। सद्गुरु के सम्बन्ध से उसका विकास अधिक तीव्रता के साथ होने लगता है। सद्गुरु के साथ के सम्बन्धों की भी कई विशेष अवस्थायें होती हैं। इन अवस्थाओं के पार करने पर, मनुष्य प्रथम महान् दीक्षा प्राप्त कर के ऋषि संघ का सदस्य होने का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार शिष्यत्व की अवस्था में उसको चार महान् दीक्षाओं को ग्रहण करना पड़ता है। इनके बाद समय आने पर उसको पांचवीं दीक्षा मिलती है, और उसके प्राप्त करने का अर्थ यह है, कि वह प्राणी मनुष्य वर्ग को पार कर अर्थात् मनुष्य वर्ग की पूर्णता को प्राप्त कर अशेष महात्माओं की श्रेणी में दाखिल होने का अधिकारी हो जाता है। यही मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का पवित्र गुप्त मार्ग है। इसी मार्ग का अवलम्बन प्रत्येक धर्म में पाया जाता है। हां, भिन्न २ धर्मों में इसके प्रगट करने की रीतियों में अन्तर अवश्य है, पर अनुसन्धान द्वारा देखा गया है कि सभों के भीतर सार एक ही है। यह विषय बहुत कठिन और मनुष्य के लिये सर्वोपरि महत्त्व का है। इस लिये आगे प्रत्येक अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

इसके पूर्व वाले अध्याय में यह दिखलाया जा चुका है, कि किस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से, अर्थात्, किन २ गुणों को प्राप्त करने की हार्दिक चेष्टा करने से, मनुष्य सद्गुरुओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। उन सभी गुणों

का सार है निःस्वार्थ भाव से मनुष्य मात्र की सेवा करना। इस प्रकार इस वृत्ति में जब मनुष्य कुछ दृढ़ता पूर्वक स्थित हो जाता है और साधन चतुष्टय के गुणों को कुछ अंशों में अपना लेता है, तब उसको अपने सद्गुरु के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का पहला अवसर प्राप्त होता है।

इस पहिले सम्बन्ध में सद्गुरु ऐसे मनुष्य को परीक्ष्यमाण शिष्यों की श्रेणी में दाखिल करते हैं। इसका मनुष्य को अपनी जाग्रत अवस्था में प्रायः कुछ ज्ञान नहीं रहता है, क्योंकि यह रस्म बहुधा भुवर्लोक में उसके वासना शरीर द्वारा किया जाता है। इसकी प्रधान प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया जाता है, कि गुरुदेव ऐसे मनुष्य को वासना शरीर में कुछ आगे के जीवन सम्बन्धी उपदेश दे कर उस को विदा करते हैं। यह कार्य बहुधा उस मनुष्य की स्वप्नावस्था में होता है, इसलिये जागने पर उसको इस का प्रायः कुछ ख़्याल नहीं रहता है, अथवा, यदि कुछ ख़्याल भी आता है, तो अपूर्व शान्ति और आनन्द का ही बहुधा आभास मिलता है। उस के बाद गुरुदेव उस मनुष्य की एक मूर्त्ति बना कर अपनी प्रयोगशाला में उसे रखते हैं। उस मूर्त्ति में उस मनुष्य के मानसिक, वासना तथा छाया शरीरों के यथार्थ प्रतिरूप वर्त्तमान रहते हैं; और किसी गुप्त शक्ति द्वारा उस मनुष्य में और उस की इस मूर्त्ति में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है, कि जो कुछ वह मनुष्य करता है, उस का प्रभाव इस मूर्त्ति पर आप से आप पहुंचता रहता है, और उस मनुष्य के भिन्न २ शरीरों के परिवर्तनों के साथ २

इस मूर्त्ति के भिन्न २ शरीरों के भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार उस मूर्त्ति के देखने से पता चल जा सकता है, कि कब कैसे विचार, कैसे भाव उस मनुष्य के मन अथवा हृदय में उठते रहते हैं, और इस से यह भी मालूम हो सकता है कि वह किस प्रकार उन्नति करता है। गुरुदेव समय २ पर इस चित्र को देखते हैं और उस के द्वारा उस मनुष्य के पास अपना आशीर्बाद भी गुप्त रूप से भेजते रहते हैं, ताकि उस के विकास में सहायता मिल सके।

कहा जाता है कि इस परीक्ष्यमाण शिष्यत्व की अवस्था साधारणत: सात वर्षों में पूरी होती है। पर इस में समय का कुछ विशेष बन्धन नहीं है। समय उस मनुष्य की हार्दिक उत्सुकता पर निर्भर रहता है। ऐसा भी देखा गया है, कि किसी किसी हालत में परीक्षा का यह समय एक जीवन काल तक चला गया, और किसी २ विशेष हालत में यह समय चन्द महीनों के ही अन्दर पूरा हो गया।

जब मनुष्य में निःस्वार्थ सेवा का भाव और दृढ़ हो जाता है और उसके मन तथा हृदय से साधारण कमज़ोरियां दूर हो जाती हैं, तब उस शिष्य की स्वीकृति का समय आता है। स्वीकृति के समय उसकी मूर्त्ति तोड़ दी जाती है, और गुरुदेव उस मनुष्य की चेतना का सीधा सम्बन्ध अपनी चेतना के साथ कर लेते हैं। अब मनुष्य के विचारों तथा भावनाओं, इच्छाओं अथवा वासनाओं का सीधा प्रभाव गुरुदेव के मन तथा हृदय

पर पहुंचता है। यही कारण है कि क्यों शिष्यों को स्वीकार करने के पहिले उनके चरित्र गठन और निःस्वार्थ सेवा के सद्गुणों पर इतना ज़ोर दिया जाता है। यदि उस मनुष्य में अभी स्वार्थ का भाव मौजूद है, यदि उसके वासना देह में अभी बुरी वासनायें उठ सकती हैं, यदि उसके मन में तुच्छ अथवा चिड़चिड़ापन के विचारों के आने की कुछ भी सम्भावना शेष रह गई, तो ये सभी विचार और सभी वासनायें गुरुदेव के मानसिक तथा वासना देहों में जा कर प्रगट होती हैं; और चूंकि गुरुदेव के मन अथवा हृदय में इनके रहने की गुंजाइश नहीं है, इसलिये इनसे अपने को बचाने के लिये गुरुदेव को इनके हटाने में अपनी शक्ति व्यय करनी पड़ती है। याद रखनी चाहिये कि किस प्रकार उनके कार्य अनेक वृहत् क्षेत्रों में फैले रहते हैं। इस तथ्य को सामने रख कर विचार करने से विदित होगा कि ऐसी हालत में किसी व्यक्ति विशेष के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसके सहायतार्थ अपनी शक्ति का व्यय करना उनके लिये कितना कठिन कार्य होगा। पर वे इस कार्य को भी इसी आशा से करते हैं, कि इस समय जितना ध्यान उनको एक व्यक्ति के ऊपर देना पड़ता है, समय आने पर अर्थात् उसका विकास हो जाने पर, वह उसके कई गुणा अधिक मानव समाज को हित पहुँचा सकेगा। उनके प्रत्येक कार्य में मानव समाज के विकास क्रम के अनुकूल हित का भाव भरा रहता है।

धीरे २ पवित्र होते २ जब उस शिष्य में नीची श्रेणी की

वासनाओं तथा विचारों के आने की कुछ भी सम्भावना उसमें शेष नहीं रह जाती है, तब गुरुदेव उस शिष्य के साथ और निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस अवस्था पर पहुंचने पर गुरुदेव और शिष्य में पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस समय गुरुदेव शिष्य की चेतना को अपनी चेतना के साथ इस प्रकार एक कर लेते हैं, कि इसके बाद उनके लिये भी ऐसा सम्भव नहीं रहता है, कि शिष्य के किसी विचार अथवा भाव को अपनी चेतना में आने देने से रोक सकें।

ये तीनों प्रकार के सम्बन्ध अपने गुरुदेव के ही साथ के व्यक्तिगत सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धों द्वारा क्रमशः मनुष्य का जीवन पवित्र होता रहता है, और वह अपने आगे आने वाले पथ के लिये तैयार होता जाता है। जब गुरुदेव देखते हैं, कि उस चेले में ऐसी पवित्रता, निःस्वार्थता तथा सेवा वृत्ति आ गई है, कि उसको अधिक उपयोगी बनाने के निमित्त विशेष गुप्त शक्तियों के जाग्रत करने की कूंजी उसे दी जानी चाहिये, तो वे उस चेले को ऋषि संघ में दाख़िल करने के लिये भगवान महाचौहान के पास ले जाते हैं।

यहां तक चेले को साधारण भाव से मनुष्यों के बीच में अपने पवित्र जीवन तथा अपनी निःस्वार्थ सेवा द्वारा उन का यथाशक्ति उपकार करते रहना पड़ता है। समय २ पर गुरुदेव कुछ उचित उपदेश उस को दिया करते हैं। पर इस के साथ २ उस को भुवर्लोक में कार्य करने का भी कुछ अभ्यास कराया

जाता है। इस कार्य में सहायता देने की ज़िम्मेवारी बहुधा गुरुदेव किसी अनुभवी चेले पर दे देते हैं। पर इस बात पर हमेशे ध्यान रखा जाता है कि कहीं ऐसा नहीं हो कि वह चेला अपनी गुप्त शक्तियों के विकास को ही अपना प्रधान कार्य समझने लगे, क्योंकि ऐसा करने से उस की आगे की उन्नति नहीं हो सकती। इस बात को हमेशे याद रखनी चाहिये कि इस पथ पर गुप्त शक्तियों के विकास का जो अपूर्व अवसर मिलता है, उस का प्रधान अभिप्राय उस व्यक्ति विशेष की उन्नति ही नहीं है, बल्कि उस का प्रधान अभिप्राय यह है, कि जिस में इन के सदुपयोग द्वारा उस की सेवा करने की शक्ति और अधिक बढ़ जा सके। इसी लिये ये गुप्त बातें भी उसी समय उस को बतलायी जाती हैं, जब साधारण वर्त्तमान शक्तियों को बिना किसी स्वार्थ भाव के वह पूर्ण रूप से सेवा के ही कार्य में लगाना सीख लेता है।

इस अवस्था पर पहुंचने के बाद उस के सामने चार और दरवाज़े, यानी मंज़िलें तय करने को बाक़ी रहती हैं। इन को चार दीक्षायें कहते हैं। प्रत्येक दीक्षा का अभिप्राय मनुष्य की किसी विशेष शक्ति की जागृति द्वारा उस की चेतना शक्ति की सीमा को बढ़ाना है। उदाहरणार्थ, पहली महान दीक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य को सज्ञान रूप से स्वेच्छा पूर्वक अपने वासना शरीर द्वारा भुवर्लोक में भ्रमण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। पीछे वर्णन किया जा चुका है, कि बिना जाने बूझे भी मनुष्य

जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में अथवा मृत्यु पश्चात् भुवर्लोक में सदैव कार्य करता रहता है। पर योग द्वारा स्वेच्छा पूर्वक उस में आने जाने तथा कार्य करने का अवसर उस को अभी प्राप्त होता है। ऐसे मनुष्य के लिये भुवर्लोक का ज्ञान जाग्रत अवस्था में भी वैसे ही उस के सामने वर्त्तमान रहता है, जैसे भूलोक का ज्ञान रहता है। इस प्रकार उस को भूलोक के साथ साथ एक और लोक में सज्ञान रूप से स्वेच्छा पूर्वक कार्य करने की शक्ति मिल जाती है।

कह सकते हैं कि इस प्रकार उस का एक और नया जन्म होता है। हिन्दू धर्म में संस्कार द्वारा द्विज अर्थात् दूसरा नया जन्म धारण करने की बात आई है। हो सकता है कि उस दूसरे जन्म से इसी नये जन्म से अभिप्राय हो। पर आज योग के तत्वों को न जानने के कारण द्विज शब्द का हमारे यहां कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है। वास्तव में यह एक नया जन्म होता है, क्योंकि साधारण तौर से मनुष्य स्थूल शरीर का त्याग कर सूक्ष्म शरीरों द्वारा भुवर्लोक तथा स्वर्गलोक में जाता है और पुनः दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है, तब उस का दूसरा जन्म होता है। पर इस दीक्षा के पा लेने पर इस शरीर को रखते हुए, स्वेच्छा पूर्वक इस का त्याग कर के मनुष्य वासना देह द्वारा भुवर्लोक में जा सकता है, वहां कार्य कर सकता है और उस कार्य का अनुभव लेकर फिर इसी शरीर में वापस भी आ सकता है। इस प्रकार इस शरीर के त्याग तथा पुनर्जन्म का

भी कुछ अनुभव उस को यहीं रहते रहते हो जाता है। उस के बाद मृत्यु उस के लिये कोई भयानक बस्तु नहीं रह जाती है, क्योंकि मृत्यु के बाद जीव को जिन लोकों से होकर जाना अथवा वापस आना होता है, उस में से एक लोक का तो पूरा ज्ञान इसे इस प्रकार हो जाता है। इसलिये ज्ञात होता है कि वास्तव में इस प्रथम दीक्षा के प्राप्त करने वाले मनुष्यों को ही प्राचीन प्रथानुसार द्विज कहना चाहिये।

इसी वर्णन से यह भी पता चलेगा, कि थियौसोफ़ी अर्थात ब्रह्मविद्या के द्वारा आज जिन दीक्षाओं का संसार में प्रचार किया जा रहा है, ये कोई नई बातें नहीं हैं। हां, हम उनको भूल अवश्य गये हैं और इसलिये उनके पुनः याद दिलाने की आवश्यकता पड़ी है। थियोसौफ़िकल सोसाइटी में अनेक मनुष्य ऐसे वर्त्तमान हैं, जिन्होंने इन दीक्षाओं को प्राप्त किया है। पर ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि मानो इन दीक्षाओं के प्राप्त करनेका अधिकार केवल थियोसौफ़िकल सोसाइटी के सदस्यों को ही प्राप्त है। अभी ऊपर दिखलाया गया है, कि हिन्दू धर्म में भी ऐसे भाव पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि यहां तक भी कहा जा सकता है, कि मनुष्य मात्र के लिये यही एक गुप्त पथ है, जिस से हो कर एक न एक दिन अपना विकास पूरा करने के लिये सभी मनुष्यों को जाना होगा। और प्रत्येक धर्म में स्पष्ट अथवा गुप्त रूप सें इनका ज़िक्र भी किया गया है, क्योंकि वास्तव में सभी धर्मों की उत्पत्ति एक जड़ से है। हां, भिन्न २ धर्मों में इन

दीक्षाओं के नाम भिन्न २ अवश्य हैं। एक बात और स्मरण रखना चाहिये, कि धर्म पुस्तकों में जहां इनका ज़िक्र आया है, वहां इनके भेदों को स्पष्ट रूप से खोल कर मनुष्यों के सामने नहीं रखा गया है। पर वर्त्तमान समय में उन भेदों पर से कुछ पर्दा हटाया गया है, पर अभी भी उनका बहुत कुछ अंश—प्रधान अंश—ऐसा है, जो पुस्तकों में कभी प्रगट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक प्रधान धर्म में चार ऐसी दीक्षाओं के नाम पाये जाते हैं, जिन्हें मनुष्य को प्राप्त करना अवश्यक है। पांचवीं दीक्षा पाने पर वह मनुष्य वर्ग को पार कर के ऋषि अथवा महात्माओं के वर्ग में पहुंच जाता है। हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में इनका अधिक स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। ईसाई धर्म में प्रत्यक्ष रूप से इनका वर्णन नहीं है। पर ईसा मसीह के जीवन की भिन्न २ विशेष घटनाओं द्वारा एक २ दीक्षा के समय की परस्थितियों का वर्णन पाया जाता है। कहा जाता है कि ईसा मसीह जन साधारण को क़िस्से कहानियों द्वारा उपदेश करते थे और अधिकारी शिष्यों को इस गुप्त पथ के भेदों का उपदेश देते थे। अन्य धर्म ग्रन्थों में भी तुलना करने से इन दीक्षाओं के उपदेश पाये जायेंगे। तुलना द्वारा यह दिखलाने के लिये कि किस प्रकार आज भी कई वर्त्तमान धर्मों में इन चारों अथवा पाचों दीक्षाओं के वर्णन पाये जाते हैं, भिन्न २ धर्मों में दिये हुए उनके भिन्न नाम नीचे दिये जाते हैं।

मनुष्य की महान् दीक्षायें।

न०	दीक्षाओं के नाम			
	हिन्दू धर्म	बौद्ध धर्म	ईसाई धर्म	थियौसोफ़ी
१	परिव्राजक	श्रोतापत्ति	ईसा मसीह का जन्म (Birth of Christ)	प्रथम महान् दीक्षा
२	कुटीचक	सकृदागामी	ईसा मसीह का बपतिस्मा (संस्कार) (Baptism of Christ)	द्वितीय महान् दीक्षा
३	हंस	अनागामी	ईसा मसीह का स्वरूप परिवर्त्तन (Transfiguration of Christ)	तृतीय महान् दीक्षा
४	परमहंस	अर्हत	ईसा मसीह की हत्या और पुनरुत्थान (Crucifixion & Ascension of Christ)	चतुर्थ महान् दीक्षा
५	जीवन मुक्त	अशेष	...	पंचम महान् दीक्षा

चित्र न० ३।

प्रत्येक महान् दीक्षा का विधिपूर्वक उत्सव मनाया जाता है। इन सभी अवस्थाओं के वर्णन जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य तथा भगवान बुद्ध के धर्म ग्रन्थों में पाये जायंगे। हाल में इन का संक्षिप्त पर सुन्दर वर्णन डा० एनी बेसेन्ट ने 'मुमुक्षा का मार्ग' (The Path of Discipleship) नामक पुस्तक में किया है। और इन का वृहत् वर्णन बिशप लेडबीटर साहेब

की मशहूर पुस्तक 'महात्मागण तथा पवित्र पथ' (The Masters and the Path) में पाया जाता है। इन पुस्तकों के पढ़ने से इन दीक्षाओं के लिये आवश्यक गुणों आदि का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन का अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन यहां सम्भव नहीं है। इसलिये अब प्रत्येक दीक्षा का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

प्रथम महान् दीक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य एक प्रकार से इस संसार से विलग हो जाता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है, कि वह संसार को छोड़ कर सन्यास धारण कर के जंगल, पहाड़ की गुफा अथवा अन्यत्र कहीं जा बैठता हो। यह तो असम्भव है, क्योंकि मानव समाज की अधिक निपुणता के साथ सेवा करने ही के लिये उस को यह नई शक्ति मिलती है, जिस का कुछ ज़िक्र पहिले किया जा चुका है। संसार में तो उसे रहना ही होता है, पर संसार में रहते हुए भी उसे संसार से उसी प्रकार बे-लाग रहना होता है, जैसे कमल का पत्ता जल में रहता है। हां, प्रथम दीक्षा तथा इस के और आगे की दीक्षाओं के प्राप्त करने के बाद भी कभी २ मनुष्य अपने धर्म के कठिन मार्ग से विचलित हो कर नीचे गिर जाते हैं। पर उस का यही मतलब है कि कुछ काल के लिये वे अपने विकास को रोक देते हैं। इस अवस्था पर पहुंचे हुए मनुष्य का कभी सत्या-नाश नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वदा के लिये सुरक्षित हो जाता है। परिव्राजक शब्द से भी यही भाव निकलता है, कि वह आदमी अब इस संसार का नहीं रह जाता है। किसी स्थान

से उस को विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। वह सदा भ्रमण करता रहता है अर्थात् संसार में उस को अपनी ओर आकर्षित कर के रोक रखने की शक्ति अब नहीं रहती है। इस ऊंचे पद को आज कितना नीचा गिरा दिया गया है। जो कोई चाहता है, परिव्राजक बन जाता है। ख़ैर, श्रोतापत्ति से भी यही अभिप्राय है कि वह मनुष्य संसार से अलग हो कर जीवन अर्थात् गुप्त मार्ग की असली धारे में प्रवेश कर जाता है। अब वह फिर संसार चक्र की ओर नहीं मुड़ सकता। और ईसा मसीह के जन्म का भी ऐसा ही अभिप्राय है। ईश्वर का अंश प्रत्येक मनुष्य के भीतर वर्त्तमान है, जिसे हम आत्मा कहते हैं। ईसा मसीह से उसी हृदय के भीतर बैठे आत्मा से मतलब है। जिस समय प्रथम महान् दीक्षा का उत्सव होता है, उस समय आत्मा, जीव और देहात्मक जीव में एक बार थोड़ी देर के लिये सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मनुष्य अपनी असली प्रकृति का, अपनी असली शक्तियों का कुछ अन्दाज़ पा लेता है। इसलिये इस अवस्था को मनुष्य के भीतर स्थित आत्मा अर्थात् ईसा मसीह के जन्म से मिला सकते हैं। ऊपर भी दिखलाया जा चुका है कि ऐसे मनुष्य को द्विज अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने वाला कहते हैं। यदि शब्दों के भेदों को छोड़ कर उन के भीतर डूब कर उन के सार तत्त्वों को हम समझने की कोशिश करें, तो सभी धर्मों के भीतर हम जीवन के इस पवित्र पथ का वर्णन अथवा इशारा पा सकेंगे।

प्रथम दीक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य जाग्रत अवस्था में भी

भुवर्लोक का अनुभव प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था में उसको एक विशेष प्रकार के कार्य करने का अवसर मिलता है। भुवर्लोक के तत्त्वों में पृथ्वी के आदि से आज तक का आकाशिक लेख वर्त्तमान है। उन लेखों को पढ़ कर वह इस पृथ्वी के भिन्न २ स्थानों तथा कालों की असली दशा को जान सकता है। लेकिन स्मरण रखना चाहिये कि साधारण तौर से ऐसे शिष्य को पृथ्वी पर मनुष्यों के विकास हित कार्य करना रहता है। भुवर्लोक में भी कार्य करना होता है और इनके अलावे उस के जीव की उन्नति बुद्धि लोक तथा अन्य लोकों में अलग होती रहती है।

प्रथम दीक्षा के बाद दूसरी दीक्षा पाने के पहिले मनुष्य को तीन प्रधान बन्धनों को तोड़ना पड़ता है: देहात्मक जीव की माया, सन्देह और अन्ध-विश्वास। जीव की माया से यह अभिप्राय है कि अब देहात्मक जीव का सर्बदा के लिये नाश हो जाना चाहिये, अर्थात्, शरीर आदि के रहते हुए उन को ही "आत्मा" अर्थात् "मैं" न समझ कर, अनुभव द्वारा उन्हें आत्मा का केवल वाहन समझना चाहिये; और इसी प्रकार बाहर, भीतर, सर्वत्र, उसे एक जीवन का अनुभव करना चाहिये। सन्देह का बन्धन तोड़ने से अभिप्राय यह है कि अभी तक कर्म, पुनर्जन्म आदि प्राकृतिक नियमों को केवल तर्क अथवा बुद्धि की अन्तःस्फूर्ति के बल पर विश्वास किया जाता था; पर अब उनका अनुभव ज्ञान हो जाना चाहिये; अर्थात्, स्वतः अपने अनुभवों द्वारा, योगाभ्यास द्वारा इन का अनुसन्धान कर इनकी

सत्यता की जांच कर लेनी चाहिये। और अन्ध विश्वास के बन्धन काटने से अभिप्राय यह है कि अब से किसी विशेष प्रकार की बिधि को आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनिवार्य नहीं समझना चाहिये। प्रत्येक विधि के प्रभावों को अनुसन्धान कर के देखना चाहिये और इस प्रकार इस बात का निर्णय स्वतः कर लेना चाहिये कि किसी विशेष रूप की बाहरी पूजा विधि आत्मोन्नति के लिये अनिवार्य नहीं है। सब का कार्य अपनी २ जगह पर है। पर जो इस अवस्था में पहुंच गया है, उसने सच्चा सन्यास प्राप्त कर लिया है। सत्य का स्पर्श उसको हो चुका है और आगे वह जब चाहे, सत्य का स्पर्श कर सकता है। इसलिये उसके लिये अब पूजा पाठ आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती है। सच्चे सन्यासी के निरग्नि अर्थात् पूजा पाठ अथवा यज्ञ आदि से रहित रहने का असली तात्पर्य यही है।

इन तीनों बन्धनों को पूर्ण रूप से तोड़ देने पर दूसरी दीक्षा प्राप्त करने का समय आता है। इन बन्धनों के तोड़ने के साथ २ उस मनुष्य को स्वप्नावस्था में स्वर्लोक के रूप खण्ड में कार्य करने का भी अभ्यास कराया जाता है। यह दूसरी दीक्षा मानसिक लोक में ही मिलती है; और उस समय उस को ऐसी कूंजी बतला दी जाती है, कि जिससे वह जाग्रत अवस्था में भी मानसिक लोक में जाकर कार्य कर सकता है और वहां से अनुभव प्राप्त कर सज्ञान रूप से फिर भूलोक में वापस आ सकता है। इस दीक्षा के प्राप्त करने पर सिद्धियों के प्राप्त करने का समय आता है। अब चूंकि उस की उपयोगिता बहुत बढ़

गई रहती है और उसी परिमाण से निःस्वार्थता का भाव भी उस में और अधिक आ गया रहता है, इसलिये अब सिद्धियों के भेद बतलाने में कोई हर्ज नहीं रहता है; क्योंकि अब आशा की जा सकती है, कि वह उन का दुरुपयोग नहीं करेगा। इस अवस्था पर पहुंचने पर अनन्त ज्ञान का भण्डार उस के सामने उपस्थित हो जाता है और उन के अभ्यास की असली कूंजी भी उस को मिल चुकी रहती है। फिर भी इस अवस्था में शिष्य को बहुत सतर्क और सचेत रहना पड़ता है; क्योंकि भांति २ की गुप्त शक्तियों के साथ २ उस में गर्व आ जाने का भी भय रहता है।

इस दीक्षा को हिन्दू धर्म शास्त्रों में कुटीचक कहते हैं, बौद्ध धर्म में इसे सकृदागामी कहा गया है और ईसाई धर्म में ईसा-मसीह के संस्कार द्वारा इस की सूचना की जाती है। सभों से अभिप्राय यही है, कि इस अवस्था में पहुंचने पर मनुष्य अब पवित्र गुप्त पथ पर सुदृढ़ हो जाता है और वह अपने असली स्वरूप को कुछ अधिक स्पष्ट रूप से देखने लगता है, क्योंकि उस में अनेक सिद्धियां अब क्रमशः विकसित होने लगती हैं। कुटीचक का अर्थ है कुटी स्थापित कर के रहने वाला अर्थात् जिसने इस पथ पर अपनी दृढ़ कुटी जमा ली हो। संकृदागामी का मानी है एक बार और जन्म लेने वाला, अर्थात्, इस अवस्था का मनुष्य अब मुक्ति के अत्यन्त समीप आ गया रहता है। इसी प्रकार ईसा मसीह के संस्कार से यह अभिप्राय है, कि इस अवस्था में गुप्त तथा आध्यात्मिक शक्तियों का उस में विशेष

रूप से विकास होता है। इन सभी नामों में केवल शब्दों के अन्तर हैं। भाव सभों के भीतर एक ही है।

दूसरी दीक्षा से तीसरी दीक्षा में प्रवेश करने के हेतु किसी विशेष बन्धन को नहीं तोड़ना होता है। केवल सिद्धियों को प्राप्त कर के उनके सदुपयोग का अभ्यास करना होता है। यहां पहुंचने पर मनुष्य अपनी जाग्रत अवस्था में रूप-मानसिक खण्ड का अनुभव ला सकता है। स्वप्नावस्था में वह अरूप खण्ड में रहता है और साथ ही बुद्धि लोक आदि के भी शरीर क्रमशः उन्नत होते रहते हैं।

तीसरी दीक्षा मानसिक लोक के अरूप खण्ड में होती है। इस समय जीव और आत्मा के बीच बहुत घना सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा का प्रकाश जीव द्वारा विशेष रूप से प्रगट होने के कारण जीव का स्वरूप भी अत्यन्त प्रकाशमय हो कर परिवर्त्तित हो जाता है। इसी लिये ईसाई धर्म में इस को ईसा मसीह के परिवर्तन द्वारा सूचित किया गया है। हिन्दू धर्म में इसको हंस कहा गया है, क्योंकि अब जीव अपने आपको आत्मा स्वरूप में भली भांति पहिचान लेता है और कहता है 'सोऽहम्' अर्थात् "मैं वह हूं"। इसी प्रकार बुद्ध भगवान ने इसे अनागामी कहा है, जिसका अर्थ है अब जन्म न होने वाला। इस अवस्था में पहुंचने पर शिष्य को ऐसी कूंजी बतला दी जाती है, जिसके द्वारा वह अपनी जाग्रत अवस्था में अरूप मानसिक खण्ड में स्वेच्छापूर्वक आ जा सकता है और वहां कार्य कर सज्ञान रूप से अनुभव ले कर वहां से वापस आ

सकता है। स्वप्नावस्था में जीव बुद्धि लोक में रहता है और बुद्धि लोक तथा आत्म लोक के वाहनों के भी विशेष रूप से विकास होते रहते हैं।

इस अवस्था में रह कर शिष्य को दो और बन्धनों को तोड़ना पड़ता है : काम राग और पतिघा। काम राग से यह अभिप्राय है, कि अब नीचे के लोकों पर और विशेषतः काम लोक पर उसका ऐसा आधिपत्य हो गया रहना चाहिये कि उनमें कोई ऐसी शक्ति शेष नहीं रह जाय, जो उस शिष्य को आकर्षित कर सके। अब शिष्य का जीवन पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हो जाता है। 'पतिघा' पाली शब्द है, जिसका अभिप्राय 'निर्द्वन्दता' द्वारा प्रगट किया जा सकता है, क्योंकि यहां आते २ मनुष्य द्वन्द्वातीत अर्थात् द्वन्द्वों से परे हो जाता है। वह सुख दुःख, हानि लाभ, हार जीत, मित्र शत्रु सब में एक भाव से रहने लगता है।

इन दो बन्धनों को पूर्ण रूप से तोड़ने के बाद शिष्य की चौथी दीक्षा होती है, जिसको अर्हत अथवा परमहंस कहते हैं। इनकी शक्ति कहां तक बढ़ी रहती है, इसका कुछ अनुमान हम साधारण मनुष्य नहीं कर सकते। पर इस अवस्था की दो विशेषतायें है : एक तो यह कि मनुष्य को घोर बिपत्ति तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और दूसरी यह कि उनको सहर्ष निश्चल भाव से पार कर जाने पर उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। यहां पहुंचते पहुंचते मनुष्य की शक्तियां बहुत अधिक विकसित हो गई रहती हैं। उनकी शक्तियों के प्रकाश

को साधारण मनुष्य सहन नहीं कर सकते । नतीजा यह होता है कि जन साधारण उसे प्रतिष्ठा की चोटी पर पहुंचा कर फिर उसे नीचे गड्ढे में गिरा देते हैं । साथी सब भी एक २ कर के अलग हो जाते हैं और मनुष्य कभी २ घबड़ा कर सोचने लगता है कि, "हे भगवन्, क्या इस घोर अवस्था से निस्तार नहीं है ?" पर अपने पथ पर आरूढ़ रहने से सारे आक्षेप आप से आप दूर हो जाते हैं और वह मनुष्य विजय प्राप्त कर पुनः उठ खड़ा होता है । इसी कारण से ईसाई धर्म में इस अवस्था को दो दशाओं द्वारा प्रगट किया गया है—ईसा मसीह की हत्या तथा उनका पुनरुत्थान । इस अवस्था के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट वर्णन करना असम्भव है ।

इस अवस्था में घोरतम विपत्तियों अथवा कठिनाइयों के सामने आने का एक विशेष अभिप्राय जान पड़ता है । अब मनुष्य जीवन-मुक्त होने के समीप पहुंचा रहता है । इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य वर्ग में पधारने के बाद से अब तक जो कुछ भी कर्म भोगने को शेष रह गये हों, उन का हिसाब निपटा दिया जाना चाहिये । यहां पहुंचते २ उस की शक्तियां भी बहुत विकसित रहती हैं, जिन के बल पर वह घोरतम यातनाओं का सामना कर सकता है । इसलिये कर्म के हिसाब को चुकाने के हेतु कर्माधिकारी देवता सभी शेष कर्मों का भार उस पर एक बार डालते हैं । इसी कारण इस अवस्था में अवर्णनीय दुःख भोगना पड़ता है ।

इस अवस्था में रह कर शिष्य को मानव जीवन से सम्बन्ध

रखने वाले पांच और बन्धनों को तोड़ना पड़ता है। उन के नाम हैं: रूपराग, अरूपराग, मान, उद्धच्छा (चंचलता) और अविद्या। इन शब्दों से असल में क्या भाव उस ऊँचाई पर प्रगट किये जाते हैं, उस का पता नहीं। अन्दाज़ से मालूम होता है, कि रूपराग जीतने से रूप-मानसिक खण्ड पर पूरा अधिकार हो जाता है। वहां की कोई वस्तु अथवा शक्ति मनुष्य को अब विचलित नहीं कर सकती, न उसे अपनी ओर खींच सकती है, न उसे हटा सकती है। उसी प्रकार अरूपराग से अरूप मानसिक विभाग के पूर्ण आधिपत्य से अभिप्राय हो सकता है। मान का वहां क्या अभिप्राय होगा, कुछ समझ में नहीं आता। हो सकता है, अब इस के बाद उसे चाहे कितनी ही प्रबल शक्ति क्यों न प्राप्त हो, पर उस के हृदय में उस के लिये मान अथवा गर्व होना असम्भव हो जाना चाहिये। उद्धच्छा पाली शब्द है। इस के जीतने का यह अभिप्राय हो सकता है कि इस परमहंसावस्था पर पहुंचने पर मनुष्य किसी भी घटना से विचलित नहीं हो सकता; यदि संसार टुकड़े २ हो जाय, तौभी उस में उद्विग्नता नहीं आ सकेगी; वह निर्द्वन्द, निश्चल पड़ा रहेगा। इस से अभिप्राय लापरवाही से नहीं है, जैसा आजकल के नक़ली परमहंस लोग करते हुए देखे जाते हैं। इस का असली अभिप्राय यह है, कि अब वह मनुष्य विकास के साथ २ और प्राकृतिक नियमों के साथ भी ऐसा ऐक्य स्थापित कर लेता है, कि उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि नियम विरुद्ध कोई घटना घटित नहीं हो सकती और इसलिये प्रत्येक परिस्थिति में वह निश्चल

रहता है। अविद्या के नाश से पूर्ण आत्म ज्ञान का अनुभव ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है और इसलिये अब कोई वस्तु उस के जानने के लिये शेष नहीं रह जाती है।

इन बन्धनों को पूर्ण रूप से तोड़ने के बाद मनुष्य जीवन मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है। इसी को निर्वाण प्राप्ति भी कहते हैं। इस के बाद उस के सामने सात रास्ते प्रगट होते हैं, जिन में से किसी एक को वह स्वेच्छा पूर्वक ग्रहण कर सकता है। उनका वर्णन संक्षेप में पीछे किया जा चुका है।

यही मनुष्य के जीवन का अन्तिम फल है। यही मनुष्य मात्र के लिये एक मात्र पवित्र गुप्त पथ है, जिस पर पहुंचाने के लिये भिन्न २ धर्म भिन्न २ पगडंडियां हैं। शुरू में जो विभेद देखने में आये, पर आगे जा कर सभी इसी एक पथ में मिल जाते हैं। कैसा विचित्र, सुन्दर पथ है! पर साथ ही वैसा ही कठिन भी है। इसी पथ के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह छूरे की धार की नाईं तेज़ रास्ता है। इसी वर्णन में गुरु-शिष्य के पवित्र सम्बन्धों तथा मनुष्य की भिन्न २ दीक्षाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी प्राप्त होगा। कैसा अच्छा, पवित्र, प्रभाव शील और आवश्यक ये बातें हैं और किस हद तक हमने इनको नीचे गिरा रखा है! अब भी संभल कर सद्गुरुओं की सच्ची खोज की ओर हमें ध्यान फेरना चाहिये। अत्यन्त प्रेम के साथ, अगाध दया के साथ, सद्गुरु हमारी ओर देख रहे हैं। क्या हम उनकी ओर नज़र उठा कर न देखेंगे और उनकी सहायता से जीवन सफल न बनायेंगे? रास्ता बिकट है, पर निःस्वार्थ सेवा

की वृत्ति बढ़ाने से इसकी कठिनाइयां बहुत कम हो जाती हैं। और सब से बढ़ कर साहस की बात तो यह है, कि ये सद्गुरु भी हमारी ही अवस्था से, बल्कि हम से भी नीचे की अवस्थाओं से क्रमशः विकास करते २ आज पूर्णता प्राप्त कर हमारा पथ प्रदर्शन करने को खड़े हैं। अपने अस्तित्व मात्र से हम को ये इस बात का विश्वास दिला रहे हैं कि चाहे हम कहीं भी हों, कितनी ही नीची अवस्था में क्यों न हों, हताश होने की बात नहीं है, साहस पूर्वक हम को जीवन के तथ्यों को समझ कर वैसा ही रहने की कोशिश करनी चाहिये और एक न एक दिन हम भी उस पूर्णता के उच्चतम शिखर पर अवश्य पहुंचेंगे, जहां ये पहुँचे हैं; मनुष्य वर्ग से पार हो कर जीवन-मुक्त अर्थात् अशेष महात्माओं के वर्ग में अवश्य प्रवेश करेंगे, जिस में इन्होंने प्रवेश किया है। विकास का प्रबल प्रवाह हम को इसी ओर खींचे लिये जा रहा है!

उन्नीसवां अध्याय

'वसुधैव कुटुम्बकम्'—धर्म की नींव

'वसुधैव कुटुम्बकम्'— अर्थात् विश्व बन्धुत्व हिन्दू धर्म का प्रधान अङ्ग है। इस वाक्य का व्यवहार अक्सर किया जाता है, पर इस पर अमल करने वाले लोगों की संख्या बहुत कम ही होगी। विश्व को तो दूर छोड़ दीजिये। विश्व से तो अभिप्राय सभी प्राणियों से है, चाहे वे मनुष्य की अवस्था से उन्नत हों अथवा मनुष्य से अभी नीचे हों, चाहे वे दृश्य हों अथवा अदृश्य हों। केवल मानव समाज को ले लीजिये। क्या विश्वमात्र को कुटुम्ब समझने वाले हम हिन्दू लोग मनुष्यमात्र को अपना कुटुम्ब समझते हैं? कदापि नहीं। अन्य धर्म वाले चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हों, पर तौभी उन सभों को केवल म्लेच्छ शब्द द्वारा सम्बोधित कर के हमने उन को अपने दायरे से बाहर निकाल दिया है। हम बहुधा ऐसा समझा करते हैं कि हिन्दू धर्म सभी धर्मों से बढ़ कर है और इसलिये इस धर्म के अनुयायी होने के नाते हम लोग और सभी लोगों से आध्यात्मिक उन्नति में बढ़े हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि हम यह भी समझते हैं कि दूसरे धर्मों पर चलने वाले सभी मनुष्य गुमराह हैं, सच्चे धर्म के पथ से नीचे गिरे हुए हैं और इसलिये हम बहुधा उन को अत्यन्त घृणित दृष्टि से देखते हैं। अन्य देश वालों अथवा अन्य

धर्म वालों को भी छोड़िये। क्या हिन्दू कहलाने वाले सभी लोगों के साथ भी हम भाईचारे का सम्बन्ध रखते हैं ? कभी नहीं। यदि हम सभी हिन्दुओं के साथ भी भाईचारे का सम्बन्ध रखते होते, तो अपने ही देश में करोड़ों मनुष्यों को अस्पृश्य कह कर, हम उन को घृणा का पात्र हर्गिज़ नहीं बनाते। उन को भी छोड़िये; क्या अपने परिवार के ही सभी लोगों के साथ हम भाईचारे का सम्बन्ध निबाहते हैं ? इस के उत्तर में भी कहना होगा 'नहीं'; क्योंकि यदि हम भाईचारे का सम्बन्ध समझ कर निबाहते होते, तो किसी व्यक्ति पर दबाव डाल कर, उस को अपने ढांचे में ढालने की कोशिश हम हर्गिज़ नहीं करते, बल्कि उस की अभिरुचि को पहिचान कर उस के असली हित के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता प्रतीत होती, उन्हीं का प्रबन्ध करने का सामान करते। थोड़ा भी सोचने से स्पष्ट रूप से पता चल जायगा कि विश्व बन्धुत्व को कितने कम अंशों में हम वास्तव में अपने व्यवहार में ला रहे हैं।

ऐसी बुरी दशा केवल हिन्दू धर्मावलम्बियों की ही नहीं है। प्रत्येक धर्म के अनुयायियों में सङ्कीर्णता का ऐसा ही भाव आ गया है। मुसलमान लोग अपने को ख़ोदा के ख़ास बन्दों में समझते हैं और जो लोग इस्लाम धर्म के दायरे से बाहर हैं, उन सभों को काफ़िर समझते हैं। ईसाई धर्मावलम्बी अपने को ईश्वर के चुने हुए लोगों में गिनते हैं और उस धर्म से बाहर वाले सभी मनुष्यों को गुमराह तथा अधर्मी समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म के लोगों में ऐसी भावना प्रवेश कर गई है,

कि ईश्वर के पास पहुंचने के लिये उन्हीं का धर्म एक मात्र सच्चा मार्ग बतलाता है, अन्य धर्म नहीं। और इस भाव के ग्रहण करने का नतीजा यह निकलता है, कि धर्म के ही नाम पर दो भिन्न २ धर्मों वाले मनुष्य आपस में अक्सर लड़ भिड़ जाते हैं और दोनों ओर से सैकड़ों क्या, हजारों लाशें गिर जाती हैं। आज इस देश में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के झगड़ों के प्रधान अवलम्ब ऐसे ही तुच्छ भावों पर हैं। और ऐसी ही हालत और धार्मिक लड़ाइयों की भी होती है।

अन्य धर्मों के बीच की ऐसी लड़ाइयों को छोड़िये। क्या एक ही धर्म के माननेवाले सभी लोग आपस में मेल मुवाफ़क़त के साथ अमन चैन से रहते हैं? नहीं; प्रत्येक धर्म के भीतर भिन्न २ पथ, भिन्न २ सम्प्रदाय, भिन्न २ फिरक़े बन गये हैं और ये भी आपस में घोर लड़ाइयां किया करते हैं।

क्या धर्म का असली अभिप्राय यही है? पिछले अध्यायों में बतलाया जा चुका है, कि किस प्रकार सभी धर्म एक ही मूल से प्रगट होते हैं। एक ही महात्मा की प्रेरणा से सभी धर्मों की संस्थापना की गई है और वे ही गुप्त रूप से सभी धर्मों का एक भाव से संरक्षण तथा देख भाल करते रहते हैं। उनका आशीर्वाद एक भाव से सभी धर्मों पर पहुंचता रहता है। भिन्न २ धर्मों के सत्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात साफ़ २ ज़ाहिर हो जायगी, कि सभों के भीतर सार वस्तु एक है। ऐसा तुलनात्मक अध्ययन थियोसौफ़िकल सोसाइटी के अनेक नेताओं तथा अन्य सदस्यों ने किया है; और अपने

अनुभवों को पुस्तकों द्वारा प्रकाशित कर के उन्होंने संसार को स्पष्ट रूप से दिखलाने की कोशिश की है, कि भिन्न २ धर्मों के साथ केवल साधारण सहानुभूति काफ़ी नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्ध में मतभेद अथवा झगड़े का कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि सभों में सार वस्तु एक है। अपनी अज्ञानता के कारण हम बहुधा सार वस्तुओं के ऊपर अप्रधान वस्तुओं को ही प्रधानता देना चाहते हैं, और यही कारण है कि क्यों धर्म के नाम पर हम इस प्रकार अधर्म तथा लड़ाई झगड़ा करते हैं। हर्ष की बात है कि आज कल कई सोसाइटियों द्वारा धार्मिक झगड़ों को दूर करने की कोशिश की जा रही है। पर अभी इस क्षेत्र में बहुत कार्य करना बाक़ी है। समझदार मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि इस ओर विशेष ध्यान दें और सभी धर्म के मनुष्यों में धर्म के सार तत्त्वों पर प्रधानता देने का भाव जाग्रत करें; क्योंकि जब तक हम अप्रधान वस्तुओं को प्रधान वस्तुओं से बढ़ाते रहेंगे, तब तक हमारे झगड़े खतम नहीं हो सकेंगे।

भिन्न २ धर्मों में प्रायः दो प्रकार के भेद पाये जाते हैं: एक तो यह कि किसी में अधिक रहस्यों का वर्णन पाया जाता है, किसी में कम; और दूसरा यह कि भिन्न २ धर्मों में एक ही कार्य को करने के लिये भिन्न २ प्रकार की रीतियां बतलाई जाती हैं। यदि हम केवल एक बात को समझ लें, कि इस संसार के सभी लोग एक अवस्था वाले अथवा एक प्रकार की प्रवृत्ति वाले नहीं हैं, तो हम को मालूम हो जायगा कि भिन्न २ श्रेणी के विकास के लिये भिन्न २ वस्तुओं की आवश्यकता होनी चाहिये।

भगवान जगद्गुरु की दृष्टि में इस संसार की भिन्न २ जातियां भिन्न दर्जे के विद्यार्थियों की नाईं हैं; इसलिये किसी भी धर्म को स्थापित करने में देश, काल तथा पात्र पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। यही धार्मिक रीतियों के बाहरी भेदों का प्रधान कारण हैं। यदि देश, काल और पात्र की भिन्न २ आवश्यकताओं को अपने सामने रख कर हम भिन्न २ धर्मों की पूजा पाठ तथा विधि विधान देखने की कोशिश करें, तो सभी बाहरी भेदों के कारण स्पष्ट रूप से मालूम हो जायेंगे।

वास्तव में सभी धर्म अपनी २ जगह पर ठीक हैं। प्रत्येक धर्म को एक विशेष वर्ग के विद्यार्थियों का पाठ्यक्रम अर्थात् कोर्स समझना चाहिये। पर भिन्न २ कक्षा के विद्यार्थी तो कभी आपस में इस कारण से नहीं लड़ते झगड़ते हैं, कि उन का कोर्स दूसरे दर्जे के कोर्सों से अच्छा अथवा बुरा है। जिस दर्जे का जो कोर्स रहता है, वह उसी दर्जे के लिये ठीक होता है। दो भिन्न २ दर्जों के कोर्सों में तुलना करने का ख़्याल महज़ बेकार और नासमझी का ख़्याल मालूम होता है। पर धर्म के सम्बन्ध में अपनी नासमझी के कारण हम ठीक ऐसा ही करते हैं। जिस मनुष्य का जिस धर्म में जन्म होता है, उस के लिये वही धर्म सब से अच्छा है। उसी के सार तत्त्वों को समझ कर उन के अनुसार चलने से उस को विशेष लाभ हो सकेगा।

प्रत्येक धर्म में सत्य के किसी एक विशेष अङ्ग पर प्रधान जोर दिया जाता है। यहां स्थान नहीं है कि भिन्न २ धर्मों के तुलनात्मक मेल पर विशेष प्रकाश डाला जाय। पर ग़ौर कर के

देखने से इस तथ्य का पता लगाया जा सकता है। इसलिये अपने धर्म के विशेष तत्त्व को ग्रहण कर लेने से मनुष्य के विशेष धर्म में जन्म लेने का अभिप्राय पूरा हो जाता है। पर हम बहुधा ऐसा नहीं करते हैं। इस लिये बार २ एक ही धर्म के मध्य में हम को जन्म लेना पड़ता है। साथ ही पुनर्जन्म पर विचार करते समय यह भी दिखलाया जा चुका है, कि भिन्न २ जन्मों में मनुष्य का जन्म भिन्न २ देशों, जातियों तथा धर्मों के बीच इसलिये होता है, कि वह एक २ कर के प्रत्येक के प्रधान तत्त्व को ग्रहण कर सके। इस भाव को अपने सामने रखने से धार्मिक झगड़ों की नींव जड़ से उखड़ जा सकती है। जब प्रत्येक मनुष्य को आगे अथवा पीछे प्रत्येक धर्म के मध्य में जन्म लेना ही पड़ता है, तो धार्मिक झगड़े का भला स्थान ही कहां रह जाता है? अथवा किसी धर्म के बड़े अथवा छोटे होने का अवसर ही कहां रह जाता है? यदि हम आज हिन्दू हैं, तो दूसरे जन्म में ईसाई हो सकते हैं, तीसरे में मुसल्मान हो सकते हैं, और चौथे में बौद्ध धर्म में जन्म ले सकते हैं। इस पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। इसलिये जिस मनुष्य का जिस धर्म में जन्म हो, उसके लिये उस धर्म का सार तत्त्व ग्रहण कर के वैसा ही जीवन बनाने का प्रयत्न करना सब से अच्छा है। पर अपने धर्म पर आरूढ़ रहने के साथ २ और धर्मों को भी अपने ही धर्म की नाईं सच्चा समझना चाहिये और अपने ही धर्म की नाईं अन्य धर्मों की ओर भी आदर, सम्मान तथा श्रद्धा का भाव रखना चाहिये।

यों तो सभी धर्मों का इस समय बहुत कुछ पतन हो गया है, पर यह बात समझ में नहीं आती है, कि हिन्दू धर्मावलम्बी ऐसे संकुचित विचार के कैसे हो गये हैं। इस धर्म में तो स्पष्ट शब्दों में भगवान ने गीता में कहा है कि 'जिन २ रास्तों से मनुष्य मेरी ओर आते हैं, उन्हीं रास्तों से मैं उनका स्वागत करता हूं; क्योंकि मनुष्यों द्वारा ग्रहण किये गये सभी रास्ते मेरे ही पास आते हैं।' इस के अलावे यदि हिन्दू धर्म की सभी श्रेणियों को देखा जाय, तो कहना पड़ेगा कि शायद मनुष्यों के विचार जितने प्रकार के हो सकते हैं, उतने प्रकार के सम्प्रदायों का स्थान इसके भीतर वर्त्तमान है। इस की सहनशीलता तो इस हद तक बढ़ी हुई है, कि जो ईश्वर को माने वह भी हिन्दू है, जो ईश्वर को न माने वह भी हिन्दू है। हिन्दू धर्म में शायद कोई ऐसा विशेष प्रकार का विश्वास नहीं है, जिसके मानने से ही कोई हिन्दू कहलाया जा सके। जिस धर्म का क्षेत्र इतना विस्तृत हो, उसमें सङ्कीर्णता के विचार कैसे घुस पड़े, इसका पता नहीं चलता। ख़ैर, उसी सङ्कीर्णता का यह फल है, जो आज हम को भोगना पड़ रहा है। अब भी यदि हम प्राचीन आदर्शों के अनुसार चलने की कोशिश करें, तो भारतवर्ष पुनः संसार का आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक बन सकता है।

अक्सर लोग ऐसा कहा करते हैं, कि धर्म पर चलने से हमारे देश का उत्थान नहीं हो सकेगा, क्योंकि धर्म ही ने तो हमारे देश का सत्यानाश किया है। ऐसा कहने वाले मनुष्य धर्म के सार तत्त्व को नहीं जानते हैं। हमारा सत्यानाश धर्म पर चलने

से नहीं हुआ है, धर्म पर नहीं चलने से हुआ है, धर्म के नाम पर अधर्म करने से हुआ है। और अन्य देशों की चाहे जो हालत हो, पर भारतवर्ष तो ऐसा धर्म प्रधान देश है, कि इसका उत्थान तो केवल धर्म के ही अवलम्ब पर हो सकता है। इसलिये धर्म को अच्छी तरह समझ कर, उसके अनुसार चलने की कोशिश करनी चाहिये; और तब शीघ्र ही मालूम हो जायगा कि धर्म पर चलने से कितनी जल्दी हमारी तरक्की हो सकती है।

धर्म के असली अभिप्राय को न समझने वाले मनुष्य इस बात की बड़ी कोशिश करते हैं, कि दूसरे धर्म के लोगों को वे अपने धर्म में ले आयें। ऐसा करने में कुछ स्वार्थ भाव तो अवश्य रहता ही है, क्योंकि लोग समझते हैं कि इससे उनके धर्म पर चलने वालों की संख्या संसार में बढ़ेगी। ऐसी कोशिशें इस्लाम तथा ईसाई धर्म के धार्मिक नेताओं में बहुत पाई जाती हैं। हिन्दू धर्म में ऐसी प्रथा पहिले नहीं थी, पर कुछ दिनों से देखा देखी हिन्दू धर्मावलम्बियों ने भी ऐसा ही करना आरम्भ कर दिया है। इस प्रकार अन्य धर्म वालों को अपने धर्म में मिलाने के ख्याल के भीतर यह भाव छिपा रहता है, कि अपना ही धर्म ईश्वर के पास पहुंचने का सच्चा मार्ग है, और अन्य सभी धर्म ग़लत रास्ते पर हैं। बहुत से धर्म प्रचारक निरा स्वार्थ भाव से ही ऐसा करते हैं। लेकिन कुछ प्रचारकों का तो ऐसा ही सच्चा विश्वास होता है। ये लोग समझते हैं कि ऐसा करने से ये भगवान की उच्चतम सेवा करते हैं।

पर वास्तव में ये लोग मनुष्य के धर्म परिवर्तन

(conversion) के असली अभिप्राय को नहीं जानते हैं। मनुष्य का असली परिवर्तन तो तब होता है, जब आत्मा का जीव के साथ अथवा जीव का देहात्मक जीव के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है। इन परिवर्तनों का कुछ ज़िक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। वहां दिखलाया गया है, कि साधन चतुष्टय के अनुसार चलने से जब किसी मनुष्य को प्रथम दीक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य होता है, तो चाहे वह हिन्दू हो अथवा ईसाई, बौद्ध धर्मावलम्बी हो अथवा मुसल्मान, हर हालत में उसमें प्रधान रूप से एक प्रकार का परिवर्तन होता है। ईसाई धर्म में इसको ईसामसीह के जन्म द्वारा ही विदित किया गया है। पर ईसामसीह का जन्म प्रत्येक मनुष्य के हृदय के अन्दर होता है, ईसाई धर्म में जाने से नहीं होता है। उसी को मनुष्य का असली धार्मिक परिवर्तन कहते हैं। खेद की बात है, कि औरों के देखा देखी कुछ हिन्दू लोग भी इस भूल का अनुसरण करने लगे हैं। इसके बदले में यदि प्रत्येक पण्डित, प्रत्येक प्रचारक, मौलाना अथवा पादरी पहिले अपने हृदय में ही धार्मिक परिवर्तन लाने की कोशिश करते, तो बहुत लाभ होता। उनकी अज्ञानता और ना-समझी दूर हो जाती और वे प्रत्येक धर्म को सच्चा और ईश्वर के पास ले जाने वाला यथार्थ मार्ग समझने लगते।

धर्म का अभिप्राय सङ्कीर्ण दायरे के अन्दर गरोह बन्दी करना नहीं है। धर्म का तो अर्थ ही है जो धारण करे। इस लिये इसमें सीमा बांधने का स्थान नहीं है; क्योंकि सीमा

बांधने ही का यह फल है, कि सब को एक साथ धारण करने के बदले एक गरोह के लोग धर्म के ही नाम पर दूसरे गरोह वालों के साथ अनेक प्रकार के लड़ाई झगड़े तथा अत्याचार किया करते हैं। इसी सङ्कीर्णता के कारण हम धर्म के असली आशय को समझने तथा अपनी उन्नति करने के रास्ते में स्वयं बाधक बनते हैं।

धर्म के आशय को एक दायरे के भीतर बांधने का वही नतीजा होता है, जो सूर्य के प्रकाश को एक कोठरी में चारों ओर से घेर कर बन्द करने से हो सकता है। यदि सूर्य के प्रकाश को कोई इस प्रकार अपनी कोठरी में बन्द करके रखना चाहे, तो इसका क्या नतीजा होगा? जैसे २ वह चारों ओर से दीवारों को उठाता जायगा अथवा पर्दा डालता जायगा, वैसे २ उस कोठरी में प्रकाश की मात्रा कम होती जायगी; और जिस समय वह अपनी कोठरी को पूर्ण रूप से चारों ओर से बन्द कर देगा, उस समय उस कोठरी में प्रकाश का नाम मात्र भी शेष नहीं रह जायगा। इस प्रकार घेरने का नतीजा यही होगा, कि कोठरी में तो प्रकाश की जगह पर घोर अन्धकार रह जायगा और उस कोठरी के बाहर पूर्ण प्रकाश रहेगा।

इसी प्रकार अन्य धार्मिक अथवा प्राकृतिक सत्यों को विचार की अपनी सङ्कीर्ण कोठरी में बन्द करने का भी यही नतीजा निकलता है, कि उस कोठरी अथवा दायरे में तो प्रकाश के स्थान पर अन्धकार, अर्थात्, सत्य के स्थान पर असत्य ही रह जाता है, और सत्य, जो बन्धनों के बाहर की चीज है, वह बाहर में ज्यों

का त्यों वर्त्तमान रहता है। इस लिये इस प्राकृतिक रहस्य को जान कर अपने ही धर्म को सच्चा और दूसरों के धर्मों को असत्य समझने वाले मनुष्यों को समझना चाहिये, कि उनकी इस प्रकार की सङ्कीर्ण विचार कोठरी से अब धर्म ने अपनी राह ली है, और वास्तव में उसका प्रकाश उसके बाहर ही फैला हुआ है। इस लिये सत्य और सङ्कीर्णता को परस्पर विरोधी वस्तुयें समझनी चाहिये। दोनों कभी एक स्थान पर एक साथ नहीं ठहर सकतीं। इस लिये मनुष्य को सदा सतर्क रहना चाहिये और सङ्कीर्णता को कभी अपने पास फटकने नहीं देना चाहिये।

ऊपर के विचारों से प्रगट होगा, कि धर्म के आशय को समझने के लिये सङ्कीर्णता को दूर कर के उदारता का भाव अपने भीतर लाने की कितनी बड़ी आवश्यकता है। इस लिये सब से पहले प्रत्येक धार्मिक मनुष्य को मनुष्य मात्र के साथ भ्रातृभाव स्थापित करने की कोशिश करनी चाहिये, क्योंकि ग़ौर करने से प्रगट होगा कि धर्म की यही नींव है। अनेक मनुष्य डरते हैं कि ऐसा उदार भाव रखने से अथवा इसको जीवन में वर्त्तने से उनकी जाति अथवा धर्म का व्यक्तित्व ही नाश हो जायगा। इस लिये यद्यपि ये सोच विचार द्वारा इस तथ्य को ठीक भी पाते हैं, तथापि ये इसका अनुसरण करना उचित नहीं समझते हैं। ऐसी समझ अत्यन्त ग़लत है। ऐसा मनुष्य वास्तव में धर्म के पथ पर पग ही नहीं रखता है। धर्म की रक्षा का ख़्याल तो दूर रहे, वह इसके क, ख, ग, घ को ही नहीं सीखना चाहता है। ऐसा मनुष्य मानों नदी के किनारे बैठ कर नदी को पार करना

चाहता है। बिना जल में उतरे, बिना तैरना सीखे अपने ही अवलम्ब पर नदी को पार कैसे किया जा सकता है? यही हालत उस सङ्कीर्ण विचार वाले मनुष्य की है। इस लिये प्राकृतिक तथ्यों की व्यापकता पर ध्यान रखते हुए, सङ्कीर्णता के भाव को दूर कर के मानव समाज के प्रति भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करनी चाहिये। पिछले अध्यायों में भी दिखलाया जा चुका है, कि जीवन के उच्चतम मंज़िलों पर पहुंचने के हेतु, मानव समाज के प्रति निःस्वार्थ सेवा के भाव को रखने की कितनी बड़ी आवश्यकता है। इस लिये धर्म का तत्त्व समझने के लिये तथा धार्मिक जीवन के पथ पर पांव रखने के लिये पहिला आवश्यक कार्य मनुष्य मात्र को भाई २ समझ कर उनके साथ ऐसे ही भाव से वर्त्ताव करना है। इस प्रकार का थोड़ा भी अभ्यास करने से मनुष्य के हृदय के गुप्त भाव प्रगट होने लगेंगे, जिनसे उसके विकास में बहुत लाभ पहुंचेगा।

इसी लिये धर्म के पुनरुत्थान के निमित्त थियोसौफ़िकल सोसाइटी ने अपना पहिला ध्येय 'बिना किसी प्रकार के भेद भाव के मनुष्य मात्र का संसार व्यापी भ्रातृभाव का केन्द्र स्थापित करना' रखा है, और अभी प्रायः साठ वर्षों के ही भीतर इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के द्वारा इस संसार का बहुत बड़ा उपकार हुआ है। इस समय इसकी शाखायें सैंतालीस भिन्न २ देशों में फैली हुई हैं। मद्रास के समीप अड्यार में इसका अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है। साधारणतः वहां अथवा काशी में

इसका वार्षिकोत्सव मनाया जाता है। किसी भी वार्षिकोत्सव में जा कर देखिये ; वहां पर आप को अनेक देशों तथा अनेक धर्मों के आदमी एक साथ एकत्र देखने में आयेंगे और सब में विशेष प्रकार से संसार व्यापी भ्रातृत्व का भाव पाया जायगा। इस संस्था में संसार के सभी धर्मों के लोग मौजूद हैं और सभी अपने २ भिन्न २ धर्मों के नियमानुसार अलग २ पूजा पाठ किया करते हैं। कोई अपने धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म में नहीं जाता है, पर अपने धर्म के समान ही प्रत्येक मनुष्य दूसरे के धर्मों को भी सच्चा और पवित्र समझता है। इतना ही नहीं, बल्कि ईसाई के गिर्जाघर में भी हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, बौद्ध, आदि सभी धर्मों के लोग श्रद्धापूर्वक शरीक होते हैं और श्रद्धापूर्वक उनका प्रसाद भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार हिन्दू मन्दिर अथवा अन्य पूजालयों में भी ईसाई, पारसी, मुसलमान, आदि, सभी धर्मों के लोग शरीक होते हैं और अन्त में जब 'तीर्थम्' अर्थात् जल बांटा जाता है, तो सभी लोग उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं। गिर्जाघर में जाते समय कोई हिन्दू ऐसा नहीं समझता है, कि वहां जाने से उसका धर्म भ्रष्ट हो जायगा और उसी प्रकार हिन्दू मन्दिर में ईसाइयों तथा मुसल्मानों के आने पर भी कोई हिन्दू ऐसा नहीं समझता है, कि उसका पवित्र पूजा स्थान इनके प्रवेश से अपवित्र हो जायगा। कैसे सुन्दर व्यापक भ्रातृभाव का प्रदर्शन ऐसे अवसरों पर होता है! इसका कारण यही है कि इस सोसाइटी के प्रधान नेता तथा अन्य सदस्य आज क़रीब साठ वर्षों से संसार में विश्व बन्धुत्व का

भाव फैलाने के लिये सतत् प्रयत्न करते रहे हैं, और अभी भी कर रहे हैं क्योंकि इस वृहत् क्षेत्र में अभी भी बहुत काम करना बाक़ी है।

संसारव्यापी भाईचारे के भाव के फैलाने में और भी अनेक संस्थायें कोशिश कर रही हैं। वास्तव में प्रत्येक धर्म की नींव अथवा उस का मूल स्तम्भ तो यही है। अपने सङ्कीर्ण विचारों के ही कारण प्रायः प्रत्येक धर्म के अनुयायियों ने इस पर चलना छोड़ दिया है। वास्तव में विश्वबन्धुत्व अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का क्षेत्र केवल मनुष्य मात्र के संसारव्यापी भाईचारे से सम्बन्ध नहीं रखता है। उस का क्षेत्र अत्यन्त वृहत् है और जैसा पहिले दिखलाया जा चुका है, विश्वबन्धुत्व के दायरे में विश्व के सभी प्राणी—छोटे अथवा बड़े, जड़ अथवा चेतन, दृश्य अथवा अदृश्य—शामिल हैं। पंच महायज्ञों के वर्णन में दिखलाया गया है, कि किस प्रकार विश्व के इन सभी प्राणियों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है और किस प्रकार हिन्दू धर्म के दैनिक जीवन में प्रत्येक श्रेणी के प्राणियों के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करने की रीति जारी थी।

वास्तव में एक जीवन विश्व मात्र में व्याप रहा है। हमारे भीतर वही जीवन है, जो पशु अथवा पत्थर के भीतर भी है। अन्तर केवल विकास का है; हम पशु से कुछ अधिक उन्नत हैं, पशु पत्थर से अधिक उन्नत है। पर वास्तव में सभी के भीतर एक ही सत्ता वर्त्तमान है। विकास पर विचार करते समय दिखलाया जा चुका है, कि प्रकृति में पशु अथवा मनुष्य की

उत्पत्ति उन की अपनी ही अवस्था से आरम्भ नहीं होती है। सभी को पहिले खनिज वर्ग में रहना पड़ता है। उस के बाद विकास पा कर क्रमशः बनस्पति, पशु तथा मनुष्य वर्गों में जाना होता है। इसलिये एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा, जब हम भी पशु अथवा खनिजों आदि की अवस्थाओं में रहे होंगे और उसी प्रकार से जितने प्राणी आज इन नीचे के वर्गों में पाये जाते हैं, वे भी अपने २ समय पर हमारे वर्ग में अवश्य पहुंचेंगे। इसी प्रकार मनुष्य के आगे भी विकास की सीढ़ी के पद बढ़े हुए हैं और जैसा अन्तिम अध्याय में दिखलाने की कोशिश की गई है, प्रत्येक मनुष्य मानव विकास की पूर्णता प्राप्त कर समय आने पर उन ऊपर के वर्गों में भी प्रवेश करेगा, क्योंकि जो इन ऊंचे पदों पर पहुंचे हुए हैं, वे स्वतः बतलाते हैं कि वे भी हम लोगों की अवस्था से हो कर कई जन्मों के सतत् प्रयत्न द्वारा वहां पहुंचे हैं। इन विचारों से विश्व बन्धुत्व के विस्तृत क्षेत्र का कुछ अन्दाज मिल सकता है।

कोई भी प्राणी इस विश्व में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा नहीं है, जिस के साथ अदृश्य रूप से हमारा सम्बन्ध न लगा हो। इसीलिये महात्मा लोग अपने को मनुष्य समाज का केवल बड़ा भाई कहते हैं, और ऐसा ही सम्बन्ध मनुष्य के साथ वर्त्तते हैं। इसी प्रकार हम को भी पशुओं, बनस्पतियों, खनिजों तथा अन्य अदृश्य भूतों को, जिन्हें हम अभी नहीं देखते हैं, अपना छोटा भाई समझना चाहिये। वास्तव में वे मानव समाज के छोटे भाई हैं ही। इसलिये उन के साथ प्रेम, दया तथा

साहाय्य का भाव अवश्य उसी तरह से प्रदर्शित करना चाहिये, जिस तरह अपने परिवार के छोटे भाइयों के साथ हम करते हैं। हम सदा अपने से ऊपर वाले महात्माओं की ओर ध्यान लगाये रहते हैं और उन से साहाय्य की प्रतीक्षा किया करते हैं। वास्तव में हम ऐसा करें अथवा न करें, पर वे तो अदृश्य रूप से हमारे विकास में सदा साहाय्य पहुंचाते रहते हैं। पर हमारे लिये सोचने की बात है, कि हम अपनी ओर से अपने समाज के छोटे भाइयों, अर्थात् पशुओं आदि के साथ कैसा सम्बन्ध रखते हैं। क्या हम उन के साथ दया तथा प्रेम का भाव रखते हैं? यदि नहीं रखते हैं, तो हम को अपने समाज के बड़े भाइयों से दया तथा आशीर्वाद की आशा क्यों रखनी चाहिये? हम को सदा स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा लोग अपना आशीर्वाद अवश्य मनुष्य मात्र तथा अन्य प्राणियों पर सदैव वर्षाया करते हैं, पर वे भी किसी के कर्म के साथ हस्तक्षेप नहीं कर सकते। इसलिये हम जो पशुओं आदि के साथ निर्दयता का व्यवहार करते हैं, इस का बुरा परिणाम व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मानव समाज को अवश्य भोगना पड़ेगा। इस लिये अपने समाज के इन छोटे भाइयों के प्रति अपने कर्त्तव्य को अवश्य पालन करना चाहिये।

पशुओं के साथ कभी भी निर्दयता का व्यवहार नहीं करना चाहिये। उन को काम करने को अवश्य सिखलाना चाहिये। उन से काम लेना चाहिये, क्योंकि मनुष्य के सम्बन्ध से उन के विकास में सहायता पहुंचती है। पर काम लेने के साथ २ उन

का पालन पोषण भी भली भांति करना आवश्यक है । इस समय पशुओं के साथ अनेक रूप से निर्दयता की जाती है । अभी तक कई जगहों में पशुओं के बलिदान की प्रथा जारी है । इस के अलावे बहुत लोग मांस भक्षण करते हैं और इसलिये पशुओं तथा चिड़ियों का शिकार किया करते हैं, और ऐसे शिकारों में ख़ुशी मनाते हैं ! कैसी निर्दयता की बात है ! मनुष्य के लिये अन्न का ही भोजन सर्वोत्तम है । इसीलिये मनुष्य के स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहते भी हैं । इस के अलावे भगवान के अथवा देवी देवताओं के नाम पर पशुओं का वध कर उन से आशीर्वाद की आशा रखनी प्राकृतिक नियम के अत्यन्त प्रतिकूल बात है ! दया करने वाले देवी देवता कभी बलि अर्थात् हत्या से ख़ुश नहीं हो सकते । बलिदान की प्रथा तो इस समय कुछ कम हो रही है, पर मांस भक्षण उसी हिसाब से बढ़ रहा है । इस को भी उठा कर निरामिष भोजन पर ही संतुष्ट रहना आवश्यक है । कम से कम ऐसे मनुष्य को तो मांस भक्षण का त्याग ही कर देना चाहिये, जो धर्म के तत्त्व पर चलना सीखना चाहता है ।

इसी प्रकार वनस्पतियों तथा खनिजों के साथ भी हमारा कर्त्तव्य है । उन के विकास में भी साहाय्य पहुंचाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। प्रत्येक श्रेणी के प्राणियों को साहाय्य पहुंचाने की भिन्न २ रीतियां है । उन सभी रीतियों को हम नहीं जानते, पर कम से कम उनके सम्बन्ध में भाईचारे का अर्थात् प्रेम और दया का भाव तो हम अवश्य रख सकते हैं ।

इस लिये विश्वव्यापी भाईचारे के सम्बन्ध को हमें सदा ध्यान में रखना चाहिये। अपने वर्ग से नीचे के वर्गों वाले प्राणियों को अपना छोटा भाई समझना चाहिये और अपने ऊपर के वर्ग वाले महात्माओं को अपने समाज का बड़ा भाई समझना चाहिये, और प्रत्येक के साथ इन भावों को अपने सामने रख कर ही व्यवहार करना चाहिये। पर इस विश्व-व्यापी भ्रातृत्व के भाव को हृदय में जमाने के निमित्त कम से कम मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व भाव से अभ्यास आरम्भ करना आवश्यक है। यही धार्मिक जीवन का मूल स्तम्भ है। इस पर अमल नहीं करने से धर्म के तत्त्वों को हम कदापि नहीं समझ सकेंगे। इस लिये चाहे हम जिस किसी देश अथवा धर्म के हों, हमें सदैव सङ्कीर्ण विचारों को दूर कर के मनुष्य मात्र को भाई भाई समझना चाहिये। ऐसा करने से हमारे धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी, बल्कि तभी धर्म का प्रकाश हमारे भीतर तथा बाहर प्रगट हो सकेगा।

यदि ग़ौर कर के देखा जाय तो मालूम होगा कि संसार के प्रायः सभी प्रकार के दुःखों के फैलने का प्रधान कारण यही है, कि भाईचारे के सम्बन्ध को हम ने भुला दिया है। विश्वव्यापी बन्धुत्व हमारे सभी दुःखों को दूर करने के लिये एक ही अचूक राम बाण महौषधि है, और बन्धुत्व ही धर्म की जड़ तथा जान है। इस लिये अगले अध्याय में इस बात पर विचार किया जायगा कि साधारण जीवन में धर्म का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये।

बीसवां अध्याय

धर्म और सामाजिक नवनिर्माण

साधारण तौर से लोगों ने जीवन को दो बिभागों में बांट रखा है : एक धार्मिक जीवन और दूसरा सांसारिक जीवन। धार्मिक जीवन से अभिप्राय पूजा, पाठ, ध्यान, यज्ञ, आदि, से समझा जाता है। इनके अलावे इस संसार में अन्य जितने कार्य किये जाते हैं, उनका सम्बन्ध सांसारिक जीवन से समझा जाता है। इस प्रकार जीवन को दो बिभागों में बांटने का नतीजा यह होता है, कि मन्दिरों में जाते अथवा पूजा पाठ करते समय तो मनुष्य बहुधा अपने ऊपर कुछ ज़ब्त रखते हैं, और अपनी वासनाओं तथा विचारों को भी संभालने की कुछ कोशिश करते हैं। वे समझते हैं कि पूजा पाठ अर्थात् धर्म के समय मन में बुरे विचार अथवा बुरी वासनाओं के आने से वे अपवित्र हो जायेंगे और इस लिये उनके इष्ट देव उनसे प्रसन्न नहीं रहेंगे ; ऐसे समय में इनको अपने मन अथवा हृदय में आने देने से भारी पाप होता है। पर ये ही लोग जब पूजा पाठ समाप्त कर के संसार के अन्य कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, तो वहां चोरी चमारी, वेईमानी शैतानी, लूट मार, निन्दा चुग़ली, ईर्षा द्वेष, आदि कुभावों तथा कुविचारों में भाग लेने से ये बहुधा बहुत कम संकोच किया करते हैं। अक्सर इनके मन में ऐसा भी भाव आता है, कि अभी यदि हम

ऐसा करते हैं, तो इसमें कोई हर्ज की बात नहीं है, क्योंकि सांसारिक जीवन तो बिना इन सभों के किये चल ही नहीं सकता। उनका ख्याल कुछ ऐसा भी रहा करता है, कि इन कर्मों के करने से जो पाप होगा, फिर पूजा पाठ अथवा दान उपदान कर लेने से उसका भी निपटेरा हो ही जायगा। इससे बढ़ कर भूल की बात और क्या हो सकती है?

पिछले अध्यायों में कर्म पर विचार करते समय यह दिखलाया गया है, प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रत्येक कार्रवाई का फल कर्म के नियमानुसार अवश्य भोगना पड़ता है। इसको कोई भी टार नहीं सकता। देवी देवता क्या, भगवान भी उसे टार नहीं सकते; क्योंकि उन्हीं के नियमों में से कर्म का भी एक प्राकृतिक नियम है। हां, यह दूसरी बात है, कि दूसरी तरह के प्रयत्न द्वारा हम कर्मों के प्रभावों को बदल दे सकते हैं। पर यह भी दिखलाया जा चुका है, कि उसमें कर्म का नाश नहीं होता है, बल्कि हर हालत में अपने कर्मों का फल भोग ही लेना पड़ता है। इस लिये ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि इस प्रकार मनमाना कुछ पूजा पाठ कर लेने से जीवन की और बुराइयों का नाश हो जाय। ऐसी ग़लत-फ़हमियों में हर्गिज़ नहीं पड़ना चाहिये, बल्कि सदा स्मरण रखना चाहिये कि कर्म का अचल नियम किसी भी हालत में बदल नहीं सकता।

इस के अलावे जीवन तो एक है। उस को हम भिन्न २ भागों में कैसे बांट सकते हैं? जैसा प्रभाव पूजा पाठ के समय के जीवन का मनुष्य के ऊपर पड़ता है, वैसाही प्रभाव अन्य

समय के जीवन का भी उस पर पड़ता है। इसलिये जीवन को धार्मिक तथा संसारिक दो भागों में नहीं बांटा जा सकता। हिन्दू धर्म की रीतियों पर विचार करने से मालूम होगा, कि वहां तो प्रत्येक कार्य में धर्म का सम्बन्ध लगा हुआ है। सोने में धर्म, जागने में धर्म, खाने में धर्म, नहाने में धर्म, हजामत बनाने में धर्म, कपड़ा पहिनने में धर्म, इत्यादि, मनुष्य का कोई कार्य ऐसा नहीं है जिस के साथ धर्म का भाव नहीं लगाया गया हो। इस का अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल में लोग जीवन के भिन्न २ कार्यों को अच्छी तरह समझते थे, और यह भी जानते थे, कि प्रत्येक कार्य के साथ जीव का कैसा सम्बन्ध रहता है। सम्भव है कि उसी सम्बन्ध को व्यापक भाव से प्रगट करने के लिये प्राचीन महात्माओं ने मनुष्य के प्रत्येक कार्य के साथ धर्म का सम्बन्ध लगा दिया हो। ऐसा करने का विशेष प्रभाव मनुष्य पर यह पड़ता है, कि धार्मिक जीवन का भाव अर्थात् अपनी अन्तरात्मा का भाव उस को सदैव प्रत्येक कार्य में स्मरण रहता है; और इसलिये समझ बूझ कर इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से उस के विकास में बहुत सहायता मिल सकती है।

आज भी यदि हम हृदय से तथा समुचित रीति से किसी काम को करना चाहते हैं, तो हम बहुधा ऐसा ही जीवन व्यतीत करने की कोशिश करते हैं। मान लीजिये हम कोई गुण अपने भीतर लाना चाहते हैं: जैसे, प्रसन्न-चित्त रहने का गुण; तो हम हर तरह से सदैव अपने को प्रसन्न-चित्त रखना चाहते हैं। अक्सर अपनी कोठरी में अपने सामने दीवार पर हम प्रसन्न-चित्त के

लक्ष्य को लिख कर टांग देते हैं, ताकि जब उधर नज़र पड़े तो यह लक्ष्य याद आ जाय; प्रसन्न-चित्त मनुष्यों के चित्र भी इधर उधर टांगे रहते हैं, ताकि उन को देख कर भी यही लक्ष्य स्मरण आया करे। इस के अलावे जब किसी मनुष्य अथवा अन्य किसी वस्तु की ओर हमारी दृष्टि पड़ती है, तो उस को भी प्रसन्न-चित्त ही स्वरूप में हम देखने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार भोर से लेकर रात्रि तक इस एक भाव को अपने सामने रखते हैं। इस का स्मरण दिलाने के निमित उचित साधनों का प्रबन्ध करते हैं और प्रत्येक प्राणी के मुख पर मुसकुराहट देखना चाहते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य आत्मा अथवा जीव को अपने जीवन के कार्यों में प्रधान स्थान देना चाहेगा, वह भी ऐसा ही प्रयत्न करेगा कि जिस में अपने प्रत्येक कार्य में उस का स्मरण रख सके; और इसलिये वह अपने प्रत्येक कार्य को इस रीति से करने की कोशिश करेगा, जो आत्मा अथवा जीव के दृष्टिकोण के अनुकूल हो। यही कारण है कि क्यों हिन्दू धर्म में जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म का भाव मिलाया गया है।

पर आज तो हम उस उच्च आदर्श को बिल्कुल भूल गये हैं। आज तो देहात्मक जीव ही हमारे लिये सर्वस्व हो रहा है। इसलिये हम उच्च आदर्शों को जीवन में नहीं बर्त्तते। इतना ही नहीं; बल्कि इस समय तो हम प्रायः ऐसा समझने लगे हैं, कि इस प्रकार जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म का भाव मिलाने से जीवन निरस हो जायगा, और इसलिये धर्म के लिये ख़ास समय ही रखना ठीक है अथवा धर्म के झंझटों से पाक साफ़

रहना ही ठीक है। इस भूल को पहिले भी दिखलाया जा चुका है। पर याद रखना चाहिये कि सरसता और निरसता मनुष्य की वासना अथवा अभिलाषा के ऊपर निर्भर हैं। जो मनुष्य विषय वासना में जीवन बिताना चाहते हैं, उन के लिये धर्म, जीव, आत्मा अथवा परमात्मा की बातें अवश्य निरस हैं; उन को इन में कुछ आनन्द नहीं मिलता है। पर जो लोग धर्म के तत्त्वों को समझने तथा उन पर चलने की अभिलाषा रखते हैं, उन को धर्म की ही बातों में विशेष आनन्द मिलता है। काम, वासना आदि में उन को कुछ भी आनन्द नहीं मिलता। और अन्त में सब को इसी रास्ते पर आना होगा, क्योंकि विषय वासना से जो सुख मिलता है, वह तो क्षणिक अर्थात् नश्वर सुख होता है। इस बात का ज्ञान विषयी पुरुष को आगे अथवा पीछे कभी न कभी अवश्य होता है, और तब वह अचल आनन्द की खोज में पड़ता है। उस समय से उस को भी जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म के वर्त्तने में ही पूर्ण आनन्द प्राप्त होने लगता है। इसलिये न तो जीवन का विभाग करना उचित है और न जीवन से धर्म को अलग करना उचित है।

अब इस बात पर विचार करना चाहिये कि धर्म के जिन सिद्धान्तों का ज़िक्र पीछे किया जा चुका है, उनका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करने से हमारा जीवन कैसा हो सकेगा, अर्थात्, जीवन के भिन्न २ सम्बन्धों में हम किस प्रकार इन नियमों का पालन कर सकते हैं। ऊपर दिखलाया जा चुका है, कि इस पुस्तक में वर्णित एक २ प्राकृतिक नियम ऐसे महत्त्व का

है, कि उसको ठीक से समझ कर ग्रहण कर लेने से और जीवन में उसका उपयोग करने से हमारे जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। अब साधारण जीवन में इन सिद्धान्तों के सदुपयोगों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जायेंगे।

सब से पहिले धर्म की ही बात लीजिये। आज हम ने धर्म के सार को छोड़ कर केवल उसका बाहरी रूप धारण कर रखा है। हम केवल बच्चों की तरह प्राचीन जीवित प्रथाओं की नक़ल कर रहे हैं और उसी को असली धर्म समझ रहे हैं। इन नक़लों के भीतर जो सारांश छिपा है, यदि हम उस को समझ कर, वास्तव में नियमानुसार उसके अनुकूल जीवन बनाना चाहें, तो न जानें हम किस हद तक उन्नति कर सकते हैं। संस्कारों, पंच महायज्ञों तथा वर्णाश्रम धर्मों का कुछ ज़िक्र पहिले आ चुका है। हम देख चुके हैं, कि किस प्रकार हम ने उनका पतन किया है। इस लिये प्रत्येक धार्मिक विधि अथवा संस्कार को समझना चाहिये और उचित समय पर उचित संस्कार को उचित रीति से करना चाहिये। हर संस्कार के लिये एक प्राकृतिक समय निश्चित है। उसी समय उसको करना चाहिये और हमेशे इस बात को याद रखनी चाहिये कि प्रत्येक संस्कार अथवा विधि से मनुष्य के जीव से विशेष सरोकार रहता है। इस लिये उस संस्कार को करते समय शरीर के साथ २ जीव की आवश्यकता को भी अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये। इसी प्रकार पूजा पाठ करते समय जो देवताओं का आवाहन किया जाता है, वह केवल एक योंही रस्म मात्र नहीं है। उचित रीति से आवाहन

करने से देवता लोग मनुष्य के उत्सवों में अवश्य शरीक होते हैं। मनुष्यों और देवताओं के बीच कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है, इसका भी कुछ वर्णन पीछे आ चुका है। इसलिये भिन्न २ देवताओं को आवाहन करते समय उनके उच्च पदों के अनुकूल श्रद्धा तथा भाव के साथ उनको बुलाना चाहिये। यदि हम उनको स्थूल देह में आते देखते, तो अवश्य उन के लिये विशेष श्रद्धा तथा आदर के भावों का प्रदर्शन करते। अभी तक हमारी सूक्ष्म आखें खुली नहीं हैं और इस कारण हम उनको देख नहीं सकते। पर देखें अथवा नहीं देखें, प्रत्येक मन्त्र का विशेष प्रभाव सूक्ष्म लोकों पर तथा उनके प्राणियों पर पड़ता है और इस लिये उचित रीति से आवाहन करने पर देवता लोग आते भी हैं। इस लिये पूजा आदि को केवल बनावटी भाव से रस्म निवाहने के लिये अथवा तमाशे के ख्याल से न करके उचित भाव के साथ करना चाहिये। ऐसा करने से हम आज भी अपने कार्यों में देवतागण का साहाय्य तथा आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार धर्म अथवा धार्मिक रीतियों को पुनः जाग्रत करने की आवश्यकता है। इसके साथ २ विधि विधान आदि के पीछे छिपे हुए धर्म के सार तत्त्वों को भी समझने की कोशिश करनी चाहिये, और उनको धर्म के अप्रधान विषयों से बढ़ कर प्रधानता दी जानी चाहिये। ऐसा करने से सभी धर्मों के भीतर एक ही सार पाया जायगा। प्रत्येक धर्म में सत्य पाया जायगा और यह भी देखा जायगा कि प्रत्येक धर्म

में सत्य के किसी विशेष अङ्ग पर ही विशेष जोर दिया गया है। सभी धर्म एक सनातन धर्म के अङ्ग हैं। किसी एक धर्म में चाहे वह हिन्दू धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, इस्लाम धर्म हो, अथवा अन्य कोई धर्म हो, पूर्ण सत्य नहीं अंट सकता। सत्य के इतने स्वरूप हैं कि किसी एक धर्म द्वारा उन सभी स्वरूपों का व्यक्त होना सम्भव नहीं है। इस बात को सुन कर आश्चर्य अथवा क्रोध नहीं करना चाहिये; सोचने से और भिन्न २ धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात सिद्ध की जा सकती है, और सिद्ध की भी गई है। कई मनुष्यों ने इस प्रकार का कठिन परिश्रम किया है और वे सभी इसी नतीजे पर पहुंचे हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा कहने से किसी धर्म को अपने पद से नीचे गिराया जाता है; बल्कि वास्तव में सभी धर्मों के सहयोग में प्रत्येक धर्म का जो स्थान है, उसी अनुपात में उसको स्थान दिया जाता है। सभी धर्मों के विशेष स्वरूपों को एक साथ मिला कर देखने से किसी एक धर्म की अपेक्षा सत्य के अनेक स्वरूपों पर अधिक प्रकाश पड़ता है; पर सभी धर्मों को एक साथ मिलाने पर भी पूर्ण सत्य का अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि सत्य अनुभव करने की वस्तु है, उसका वर्णन करना असम्भव है। इस प्रकार अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए अन्य धर्मों को भी सत्य समझना चाहिये और अपने ही धर्म की नाईं श्रद्धा और आदर के भाव से उनको देखना चाहिये। इस बात को भी सदा स्मरण रखना चाहिये कि सभी धर्म एक ही स्रोत से, एक ही मूल, अर्थात् एक ही जगद्-

गुरु की प्रेरणा से स्थापित होते हैं। उनका आशीर्वाद सभी धर्मों पर एक भाव से पहुंचता रहता है और इस संसार के सभी धर्मों को वे "मेरे भिन्न २ धर्म" कह कर सम्बोधित करते हैं।

इन तथ्यों को सदा ध्यान में रखने से धार्मिक झगड़ों का एकदम अन्त हो जा सकता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है, कि सभी लोग एक ही धर्म अथवा एक ही मार्ग का अवलम्बन करें। भिन्न २ मनुष्यों के विचारों तथा भावों में अन्तर अवश्य रहेंगे; पर उन अन्तरों के रहते हुए भी विभिन्नता के भीतर जो एकता का सार तत्त्व छिपा हुआ है, उस को ढूंढ़ निकालने के लिये आपस में लड़ाई झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आज हमारे देश में हिन्दू और मुसलमानों के बीच कभी २ कैसे भयङ्कर झगड़े हो जाते हैं। दोनों पक्ष वाले धर्म के नाम पर ही लड़ते हैं और एक दूसरे को लूटते यथा मारते हैं। दोनों ओर से सैकड़ों हज़ारों लाशें गिर जाती हैं। इस प्रकार धर्म के नाम पर दोनों ओर से अधर्म किया जाता है। कोई भी समझदार आदमी ऐसे झगड़ों का समर्थन नहीं कर सकता। इन झगड़ों के कारण हम हिन्दू तथा मुसल्मान दोनों की कितनी हानियां हुई हैं और हो रही हैं, इन को कौन नहीं जानता। आज तो इन झगड़ों के कारण भारतवर्ष की स्वतन्त्रता में भी बाधा पहुंच रही है। यदि ठण्ढे दिल से सोचा जाय, तो साफ़ २ मालूम हो जायगा, कि धार्मिक सिद्धान्तों से इन झगड़ों का कोई सरोकार नहीं हैं। केवल कुछ गुण्डे बदमाश स्वार्थ साधन के हेतु अथवा अपनी आसुरी प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के हेतु बात की बात

में कोई न कोई ग़लतफ़हमी फैला कर दोनों जातियों के बीच में दंगे फ़साद करा दिया करते हैं।

इन दुराचारों के लिये वे तो दोषी हैं ही, पर साथ ही दोनों दलों के प्रतिष्ठित तथा समझदार लोगों को भी कुछ हद तक दोषी कह सकते हैं, क्योंकि ये लोग अपने २ धर्मों के अनुयायियों के मध्य धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रचार काफ़ी तौर से नहीं करते हैं। हम लोग इन झगड़ों में भाग लेते हों अथवा नहीं, पर हम अपने को इन दोषों से बिल्कुल बरी नहीं कर सकते। जिस धर्म के मध्य में जिस मनुष्य का जन्म होता है, उस के प्रति उस का कुछ आवश्यक कर्त्तव्य भी होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को—प्रत्येक समझदार मनुष्य को, जो स्वप्न में भी इन झगड़ों में भाग नहीं ले सकता—अपने हृदय में अपने से यह प्रश्न पूछना चाहिये, कि क्या अपने भाइयों के मध्य में धर्म के सच्चे भाव अर्थात् सच्चे स्वरूप का ज्ञान फैलाने के सम्बन्ध में हमने अपना कर्त्तव्य पालन किया है? यदि निष्पक्षता और ईमान्दारी से अपने से ऐसा प्रश्न किया जाय, तो कम से कम सैकड़े निन्नानवे समझदार मनुष्यों की हालत में उत्तर में 'नहीं' ही की आवाज़ भीतर से आयेगी। इसी अर्थ में प्रायः प्रत्येक मनुष्य को इन झगड़ों का भागी समझना चाहिये। यदि प्रत्येक धर्म के समझदार मनुष्य धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ कर अपने धर्म के लोगों में उन प्रधान तत्त्वों के प्रचार की कोशिश करें, तो धार्मिक झगड़ों की जड़ ही नाश हो जायगी। धार्मिक अन्वेषणों द्वारा धर्मों के पारस्परिक भ्रातृत्व का यह अमूल्य

संदेशा हम को प्राप्त हुआ है; और हमारा कर्त्तव्य है कि हम व्यापक रीति से इस संदेशे का प्रचार करें, क्योंकि इस के द्वारा संसार का बहुत हित हो सकता है।

हिन्दू समाज में इस समय अस्पृश्यता के प्रश्न पर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। कई शताब्दियों से हम ने अपने करोड़ों भाइयों को समाज से बहिष्कृत कर एक दम नीचे गिरा रखा है। इसका जो बुरा परिणाम हम को आजतक भोगना पड़ा है और अभी भी भोगना पड़ रहा है, वह तो हमारे सामने ही है। तुर्रा यह है कि हमारे समाज के कुछ श्रेष्ठ जन इस प्रथा का समर्थन धर्म शास्त्रों के आदेशानुसार करते हैं। धर्म ने भला कब किसी को घृणित भाव से देखने को तथा किसी मनुष्य अथवा जाति के लोगों को पद्दलित करने को सिखलाया है? हा! धर्म को हमने अपनी सभी कुरितियां को छिपाने का एक आड़ बना रखा है! हो सकता है कि किसी विशेष आवश्यक तथा उचित अभिप्राय से अथवा किसी विशेष योग साधन आदि के निमित्त कुछ लोग अपने को किसी ज़माने में औरों से पृथक् रखते हों, पर उस हालत में भी उनमें घृणा का भाव कभी नहीं आने दिया जाता होगा। पर आज तो हम अपने को ऊंचे से ऊंचे पद पर समझते हैं, और दूसरों को नीचे पदों पर रख कर उन पर शासन अथवा हुकूमत करना चाहते हैं। धर्म से इन तुच्छ भावों से कुछ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहा जाय कि जिन्हें हम ने अस्पृश्य कह कर अलग कर रखा है, उनकी नैतिक अवस्था हम से कम है और इस लिये उनको

बराबरी का स्थान देने से हमारी अपनी नैतिक दशा कम हो जा सकती है, तो यह बात भी नहीं ठहर सकती, क्योंकि अच्छे और बुरे, नीच और ऊंच, प्रकृति के मनुष्य आज सभी जातियों में पाये जाते हैं। चाहे ब्राह्मण जाति हो अथवा चमार जाति हो अथवा अन्य कोई भी जाति हो, सर्वत्र यही हालत है। इस विषय पर कुछ दिनों से विशेष प्रकार की बातें दोनों पक्षों की ओर से प्रकाशित की गई हैं और की जा रही हैं। इस लिये उन्हें यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अस्तु, अन्य बातों को तो छोड़ दीजिये; पर जिस हिन्दू धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उच्चतम आदर्श मौजूद हो, वहां के लिये अपने वर्ग के मनुष्यों के साथ ऐसा वर्त्ताव करना किसी भी हालत में क्षम्य नहीं हो सकता। इस लिये बिना समझे बूझे, आंख बन्द कर लकीर का फ़क़ीर बनना छोड़ कर अपनी भूलों को सुधार कर समय के प्रवाह के साथ चलने के लिये हमें अपने आप को अविलम्ब तैयार कर लेना चाहिये; और अपने समाज से इस अस्पृश्यता के कलङ्क की कालिमा को धोकर साफ़ कर देना चाहिये।

अब यहां की स्त्रियों की दशा पर विचार कीजिये। स्त्रियों को मनुष्यों की केवल दासी बनाये रख कर उन को घरों में बन्द रखना उन के प्रति घोर अन्याय है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में कभी ऐसा नहीं होता था। उस समय स्त्रियों को स्वतन्त्रता थी और इसलिये वे पुरुषों के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य भी कर सकती थीं। कहा जाता है कि एक समय ऐसा आ गया था,

कि उन की रक्षा के हेतु उन को पर्दों में रखना आवश्यक हो गया। जो हो, पर आज तो परिस्थिति एकदम बदली हुई है। प्रायः सभी देशों की स्त्रियां स्वतन्त्र हैं; पर्दे का कहीं स्थान नहीं है। हमारे देश में भी पर्दे की चाल सब से अधिक बिहार, संयुक्तप्रान्त, बंगाल आदि चन्द ही प्रान्तों में पाई जाती है; अन्य प्रान्तों में स्त्रियां स्वतन्त्रता पूर्वक मर्दों के साथ बाहर भीतर काम करती हैं। इस लिये पर्दे के हटाने के सम्बन्ध में तो सभी समझदार लोगों की एक राय है। केवल पुराने ख़्याल वाले लोग इस पर अड़े हुए हैं, क्योंकि अब बृद्धावस्था में उनके ख़्यालों को बदलना असम्भव है। हर्ष की बात है कि पर्दे का रिवाज बहुत शीघ्रता से हटता जा रहा है। इन बातों में अधिक बिलम्ब करना भी ठीक नहीं। समझदार मनुष्यों को अपने घर में स्त्रियों को स्वतन्त्रता देकर औरों का पथ प्रदर्शक बनना चाहिये। इसके विपक्ष में अब इतना कम ज़ोर रह गया है और समय का ज़ोर इतना इसके पक्ष में है, कि अब नये २ स्थानों में भी इस प्रथा को दूर करने में पहिले की नाईं बिरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा।

पर असल प्रश्न केवल पर्दा ही दूर करने का नहीं है। असल प्रश्न स्त्रियों को भी पढ़ाने लिखाने, तथा सभी क्षेत्रों में मनुष्यों के साथ २ कार्य करने की स्वतन्त्रता देने का है। संसार के और देशों के लोगों की ओर देखने से हम को शर्म मालूम होती है, कि हमने क्यों अपनी स्त्रियों को बिना पढ़ाये लिखाये मूर्खा बना कर घरों में बन्द कर के रखा है। इसलिये और देशों के

उदाहरणों से भी यह प्रथा असह्य मालूम होती है। और यदि धार्मिक विचारों से देखा जाय, तो हमारे यहां स्त्रियों को शक्ति का स्वरूप माना गया है और वास्तव में वे वैसी ही हैं भी। यदि उनको भी विकास का वैसा ही अवसर दिया जाय, जैसा मर्दों को दिया जाता है, तो वे मर्दों से किसी दर्जे पीछे नहीं रह सकेंगी। इसके अलावे यह भी दिखलाया जा चुका है, कि मनुष्य के जीव की कोई जाति नहीं होती है। आवश्यकतानुसार कभी उसका जन्म पुरुषों के वर्ग में होता है और कभी स्त्रियों के वर्ग में, क्योंकि कुछ अनुभव ऐसे हैं जो केवल पुरुष तन द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं और कुछ केवल स्त्री तन द्वारा। इसलिये यदि मनुष्य केवल इस बात को याद रखें कि हो सकता है कि अगले जन्मों में उनको स्त्री तन धारण करना पड़े और स्त्रियों को पुरुष तन धारण करना पड़े, तो कभी वे स्त्रियों के साथ वैसा बर्त्ताव नहीं करेंगे, जैसा आज कर रहे हैं। इसलिये चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, धर्म की शिक्षा यही है, कि स्त्रियों तथा पुरुषों के विकास का सामान समान भाव से होना आवश्यक है। इस तथ्य को समझने और इस पर अमल करने की हिन्दू समाज में बड़ी आवश्यकता है।

ख़ैर, शिक्षा प्रणाली पर विचार कीजिये। वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली में मनुष्य के मस्तिष्क को प्रायः एक खोखला बर्त्तन समझा जाता है और दूसरे के विचारों को उसमें ठूसने की कोशिश की जाती है। हृदय के विकास पर तो प्रायः ध्यान ही नहीं दिया जाता। पर धर्म हमें यह सिखलाता है कि मनुष्य वास्तव में

जीव है और उस जीव के भीतर अनेक जन्मों के अनुभव भरे हुए हैं। इसके अतिरिक्त जीव भी आत्मा का एक अंश है और इस लिये उसमें अनन्त शक्तियां गुप्त रूप से छिपी पड़ी हैं। इस लिये मनुष्य की शिक्षा का यह उद्देश्य नहीं होना चाहिये, कि बाहर से उसके भीतर कोई वस्तु भरी जाय अथवा कोई ज्ञान उसको दिया जाय ; बल्कि शिक्षा का असली उद्देश्य यह होना चाहिये, कि इसके जीव को अपने ज्ञान अथवा अपनी शक्ति को अपने वाहनों द्वारा प्रगट करने में सहायता पहुंचाई जाय। इस तथ्य को समझने से वर्त्तमान शिक्षा पद्धति को जड़ मूल से बदलना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना ज्ञान अपने साथ लाता है और विशेष कार्य के निमित्त इस संसार में आता है। इस लिये शिक्षक का कर्त्तव्य केवल इतना ही है, कि अपने विद्यार्थियों को ऐसे वातावरण में रखे. जिससे उनके आन्तरिक ज्ञान तथा शक्तियों के प्रगट होने में सहायता मिल सके।

जिस प्रकार माली फूल के बीज को पृथ्वी में डाल कर खाद्य वस्तुओं तथा जल, वायु, प्रकाश आदि का समयोचित प्रबन्ध किया करता है, उसी प्रकार शिक्षक को भी अपने शिष्यों के लिये उचित वातावरण का प्रबन्ध करना चाहिये। विद्यार्थियों के विकास के निमित्त प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य का वातावरण सदा उनकी चारों ओर बनाये रखना चाहिये और वैसे ही उनसे सम्बन्ध रखने वाले शिक्षकों तथा अन्य मनुष्यों को सदैव उच्च कोटि के भावों तथा विचारों को ही अपने भीतर स्थान देना चाहिये। शब्दों से कहीं अधिक जीवन अर्थात् उदाहरण का

प्रभाव पड़ता है। फूल आप से आप जमते, बढ़ते तथा फूलते फलते हैं। माली के अधिकार में यह बात नहीं है, कि किसी फूल के एक दल को भी बना सके। प्रत्येक फूल अपनी गुप्त प्रकृति के अनुसार आप से आप अपने विशेष रूप रंग का निकलता है। उसी प्रकार उचित वातावरण का प्रबन्ध कर देने से आप से आप विद्यार्थी भी अपने विशेष रूप में विकसित हो जायेंगे।

आज तो सभी विद्यार्थियों को एक प्रकार के ढांचे में ढालने की कोशिश की जा रही है। यह भारी भूल है। वास्तव में शिक्षक को प्रत्येक विद्यार्थी के रुख को देखते रहना चाहिये और उसको इस बात के पता लगाने की कोशिश करनी चाहिये, कि उसकी विशेष अभिरुचि किस ओर है। अभिरुचि से यह पता लगता है, कि पूर्व जन्मों में किसी विशेष जीव ने किस विशेष क्षेत्र में कार्य किया है, और इस लिये उसके पता चल जाने पर उसी अभिरुचि के विकास के अनुकूल उसके लिये सामानों का प्रबन्ध करना चाहिये। यह बात कठिन अवश्य है, क्योंकि इस हालत में प्रत्येक मनुष्य की विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विशेष प्रबन्ध की ज़रूरत पड़ती है। पर आदर्श शिक्षा का यही लक्ष्य हो सकता है। जहां तक सम्भव हो, वहां तक प्रत्येक की अभिरुचि के अनुकूल सामान का अवश्य प्रबन्ध करना चाहिये। पर यदि ऐसा करना सम्भव नहीं हो, तो कम से कम कम प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य का वातावरण बनाये रख कर बिना अपनी इच्छा का दबाव उस पर जमाये, उसको स्वतन्त्र

छोड़ देना चाहिये कि मौजूदे सामानों में से ही जिसकी ओर वह जा सके उधर जाय। कभी विद्यार्थियों पर दूसरों की इच्छा के अनुसार चलने का दबाव नहीं पड़ना चाहिये। इससे उनके विकास में बहुत हर्ज पहुंचता है।

इसी प्रकार छोटे बच्चों के प्रति भी धर्म के उपदेशों के प्रकाश में अपने वर्त्तमान भावों को बदल देना चाहिये। हम को स्मरण रखना चाहिये कि बच्चे का स्थूल शरीर भले ही छोटा हो, पर वास्तव में वह बच्चा शरीर नहीं है, बल्कि उस शरीर में वास करने वाला जीव है; और वह जीव हम लोगों से बड़ा अथवा छोटा दोनां हो सकता है। इस लिये बच्चों को उनके जीव स्वरूप में समझ कर सदैव उनकी ओर आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिये। इसके अलावे बचपन का समय अत्यन्त प्रभावशील होता है। उस समय जो भाव बच्चों के मन अथवा हृदय पर जम जाते हैं, वे बहुत स्थायी होते हैं, इसलिये हमारे ऊपर बहुत भारी जिम्मेवारी रहती है। याद रखनी चाहिये कि प्रत्येक बच्चे के भीतर सभी सद्गुणों तथा दुर्गुणों के बीज मौजूद हैं, और जैसे विचार अथवा भाव हम उन के समीप रखते हैं, उन के द्वारा उन्हीं के अनुकूल अच्छे अथवा बुरे बीज उस के भीतर गुप्त रूप से अङ्कुरित होते रहते हैं। इसलिये बच्चों को अच्छा अथवा बुरा बनाने में, उन के मां बाप अथवा उन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य मनुष्यों के जीवन का बहुत गहरा प्रभाव उन पर पड़ता है। यह एक बहुत भारी जिम्मेवारी है, जिस को हमें हमेशे स्मरण रखना चाहिये। साथ ही इस बात को भी याद

रखनी चाहिये कि जो बच्चा हमारे यहां आया है, वह जीवन में कुछ विशेष कार्य करने के लिये आया है। इस लिये इस भाव को छोड़ कर कि हम अपने बच्चे को ऐसा बनायेंगे अथवा वैसा बनायेंगे, सदा इस ताक में रहना चाहिये कि उसकी अभिरुचि किस ओर है और उसी के अनुकूल उसकी उन्नति के लिये सामान जुटाने की कोशिश करनी चाहिये। बच्चों को कभी डांटना अथवा मारना पीटना नहीं चाहिये, इससे उनके सूक्ष्म भावों को बहुत हानि पहुंचती है। जिस प्रकार फूल को मार पीट कर किसी ख़ास रूप अथवा रंग का नहीं बनाया जा सकता। उसी प्रकार बच्चों को भी मार पीट कर अपने इच्छानुसार बनाने का प्रयत्न करना निरा निरर्थक तथा हानिकर है।

पारिवारिक सम्बन्धों में धर्म के तथ्यों से हम को इस बात का पता चलता है, कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, इत्यादि जितने प्राणियों से हम को सम्बन्ध होता है, उनके साथ हमारा कोई नया २ सम्बन्ध नहीं होता है। पूर्व जन्मों में हम लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ ऐसा रहा होगा और एक दूसरे के प्रति हमारे कर्मों का ऋण ऐसा जमा हो गया होगा, जो इस जन्म के इन भिन्न २ सम्बन्धों द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इस लिये अपने प्रत्येक सम्बन्ध को अपने कर्म के बन्धनों से अपने आप को मुक्त करने का एक विशेष साधन समझना चाहिये, और जहां तक हो सके अपने सम्बन्धों को भली भांति निबाहने की कोशिश करनी चाहिये। अक्सर हम इस तथ्य को अपने सामने नहीं रखते हैं और परिवार में यदि किसी के कारण

हम को कुछ कष्ट सहना पड़ता है, तो उससे हम ऊब जाते हैं। साधारणतः हम पारिवारिक जीवन को झंझटों से भरा हुआ भारी बोझ समझते हैं। झंझट उसमें हैं ज़रूर, पर वह झंझट तो अपनी ही कमाई के फल स्वरूप प्रगट होते हैं। हमने जिसको पूर्व जन्मों में हानि पहुंचाई है, वह इस जन्म में हम से बिना बदला सधाये नहीं रहेगा। इस लिये जब कोई झंझट समाने आये, तो उसको सहर्ष स्वीकार कर, उस समय भी बिना विचलित हुए अपने भिन्न २ सम्बन्धों के कर्त्तव्यों को पूरा करना चाहिये। हम को यह भी याद रखनी चाहिये कि यदि आज हम इन झंझटों से ऊब कर भागेंगे, तो अपना कर्म तो कभी पीछा छोड़ेगा नहीं, ये ही सम्बन्धी फिर अगले जन्मों में हमारे रास्ते में और कठिन बाधायें उपस्थित करेंगे। इस लिये प्रत्येक के ऋण को ख़ुशी से अदाय कर देने ही में कुशल है।

ऐसे ही जीवन के अन्य सम्बन्धों में भी धर्म के तत्त्वों के अनुसार ही अपना कर्त्तव्य पालन करने की कोशिश करनी चाहिये। देखिये, इस समय हम अभियुक्तों के प्रति कैसा भाव रखते हैं? हम उनके अभियोगों के लिये उन्हें तरह २ से दण्ड दे कर उनको दुरुस्त करना चाहते हैं। यह भी हमारी भूल है। वास्तव में अभियोग की प्रवृत्ति एक प्रकार का रोग है। सोचने से मालूम होगा, कि प्रायः समाज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसे रोगों के फैलाने में सहायक होता है। इस लिये उनको दण्ड देने का भाव छोड़ कर उनके सुधार का प्रबन्ध करना चाहिये। पर आज कल ठीक इसके उलटा हो रहा है। अभियुक्तों को बहुधा जेल में

बन्द कर दिया जाता है और वहां का वातावरण कुछ ऐसा ख़राब है, कि जो वहां जाता है, वह और दृढ़ अभियुक्त हो कर बाहर निकलता है। इससे समाज को बहुत हानि पहुंच रही है। इस लिये अभियुक्तों के लिये उचित मानसिक तथा नैतिक इलाज का प्रबन्ध करना चाहिये। उन को दण्ड देने का भाव छोड़ कर उनके साथ विशेष प्रेम का संचार करना चाहिये। ये हमारे समाज के बच्चे सरीखे हैं। अभी पाशविक वृत्तियों को ये रोक नहीं पाये हैं। पर यदि हमारे छोटे २ बच्चे कोई नुक़सानी कर देते हैं, तो हम उनको कोई दण्ड नहीं देते, बल्कि उन के साथ और अधिक प्रेम कर के उनको ऐसे कामों के करने से रोकते हैं। इसी प्रकार समाज के इन दूसरे छोटे २ बच्चों अर्थात् अभियुक्तों के साथ भी हम को विशेष प्रेम के साथ पेश आना चाहिये, क्योंकि तभी इनकी उच्च भावनायें तथा उच्च कोटि की शक्तियां प्रगट तथा विकसित हो सकेंगी और ये स्वतः अपनी पाशविक वृत्तियों को अपनी दैवी शक्तियों द्वारा दबा सकेंगे।

इसी प्रकार हम देखेंगे कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रातृ-भाव के अभाव के कारण ही इतने दुःख फैल रहे हैं। एक देश दूसरे देश को दबा कर अनुचित लाभ उठाने की कोशिश में लगा हुआ है, और इसी कोशिश में अनेक भयानक युद्ध होते रहते हैं, जिनमें हजारों, लाखों मनुष्य मारे जाते हैं। यदि मनुष्य एक दूसरे के साथ अपने भ्रातृत्व के सम्बन्ध को याद रखते, तो ऐसी बातें असम्भव हो जातीं। राष्ट्रीयता बहुत अच्छी वस्तु है। अपने देश को उन्नत करने की कोशिश सब को करनी चाहिये,

पर दूसरों को कष्ट देकर नहीं, दूसरों को हानि पहुंचा कर नहीं। भारतवर्ष के लिये भी इस तथ्य को स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है। हमारा देश पराधीन है। अङ्गरेज़ों ने हमारे साथ बहुत अत्याचार किया है। हम अपने देश को उन अत्याचारों से उबारना चाहते हैं। अवश्य उबारना चाहिये। पर इसके साथ २ अङ्गरेज़ों के प्रति भी बुरे भावों को नहीं रखना चाहिये। उन्हों ने हमारे साथ अन्याय किया है। इसका बदला वे अवश्य चखेंगे। कर्म किसी की कार्रवाइयों को नहीं भूलता है। उसके समीप कोई छोटा बड़ा नहीं है। वहां राजा प्रजा का कोई ख़्याल नहीं है। सब के कर्मों का बदला एक भाव से चुकाया जाता है। इस लिये अपने देश को उनके अत्याचारों से उबारते समय हम को भी उन्हीं की नाईं भूल नहीं करनी चाहिये। और यदि हम ठण्ढे दिल से सोचेंगे, तो हम को पता चलेगा कि अपने स्वार्थ साधन के साथ २ इन अङ्गरेज़ों द्वारा हमारा बहुत उपकार भी हुआ है, जिसके लिये हम को हृदय से उनका अनुगृहीत होना चाहिये। हम तो धर्म को प्रधान मानते हैं। इस लिये बदला चुकाने के आवेश में पड़ कर हम को भी अपनी ओर से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, और इस लिये अङ्गरेज़ों के साथ भी वैसा भ्रातृभाव रखना चाहिये जैसा हम आपस में रखते हैं अथवा अन्य जातियों के साथ रखना चाहते हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं है, कि हम को चुपचाप बैठ कर उनके अन्याय तथा अत्याचारों का सहन करते रहना चाहिये। भातृत्व तो हमें सिखलाता है कि कभी किसी भी हालत में हम को अन्याय अथवा

अत्याचार का सहन नहीं करना चाहिये। संसार व्यापी भ्रातृ-भाव रखने से अन्याय तथा अत्याचार का सामना करने की हमारी शक्ति और बढ़ जायगी; पर उस हालत में जो हम करेंगे प्रेम से प्रेरित हो कर करेंगे, घृणा को कभी किसी हालत में अपने भीतर नहीं आने देंगे।

इसी प्रकार सामाजिक नवनिर्माण में वर्ण व्यवस्था के रहस्यों से बहुत लाभ हो सकता है। यदि हम वर्ण का अर्थ जीव का व्यवसाय समझ लें, तो सभी झगड़े बहुत हद तक तय हो जायेंगे। चार श्रेणी के ही जीव मनुष्यों में हो सकते हैं, जिन का वर्णन पहिले किया जा चुका है। यदि प्रत्येक श्रेणी के लोग इस देश अथवा अन्य देशों में अपनी २ श्रेणी के कर्त्तव्यों पर आरूढ़ हो जायं और सामाजिक उन्नति को अपनी निजी उन्नति पर प्रधानता दें, तो इस देश अथवा संसार के सामाजिक नवनिर्माण का प्रश्न हल हो जा सकता है।

धर्म के तत्त्वों का व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है। अभी जो दो चार विशेष सम्बन्धों में उनका उदारहण दिया गया है, यह तो केवल उदाहरण मात्र है। इस प्रकार हम भ्रातृभाव को जीवन में स्थान दे कर संसार के दुःखों को बहुत हद तक दूर कर सकते हैं। पर इस क्षेत्र में कार्य करने वालों की संख्या अभी बहुत कम है। इस लिये प्रत्येक मनुष्य, जिसके दिल में ये सेवा के भाव आ सकें, उसको अवश्य-मेव इस कार्य में लग जाना चाहिये। संसार बहुत दुःखी हो रहा है। सच्चे समझदार सेवकों की बड़ी आवश्यकता है।

इक्कीसवां अध्याय

उपसंहार

इस छोटी पुस्तक में एक अत्यन्त गूढ़ और गहन विषय को अत्यन्त संक्षेप से वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। जीवन के मूल तत्त्वों का विस्तृत वर्णन एक पुस्तक में सम्भव नहीं है। इस पुस्तक के अवलोकन से इस बात का कुछ अनुमान हो सकेगा, कि हमारे साधारण दैनिक जीवन के साधारण रस्म रिवाजों के भीतर कैसा गूढ़ रहस्य भरा है। हम उन रहस्यों को जानें अथवा न जानें, पर गुप्त रूप से उनका सार एक प्रकार से हमारे रग २ में प्रवेश कर गया है। इसी कारण अपने साधारण जीवन में भी हम ऐसे धार्मिक तथा प्राकृतिक सत्यों की बात चीत करते हैं, जिन को सुन कर दूसरे देश वाले दंग रह जाते हैं। पर खेद है कि उन से हम इस समय लाभ नहीं उठा रहे हैं। बल्कि सच्ची बात तो यह है, कि इन महान् सत्यों का ग़लत अर्थ ग्रहण करने के कारण हम लाभ के बदले अपनी बड़ी हानि पहुंचा रहे हैं। कर्म, पुनर्जन्म, युगधर्म, भक्ति, ईश्वर, आत्मा, इत्यादि, जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्वों तथा नियमों को हमने केवल अपनी अकर्मण्यता, आलस्य एवं पाप प्रवृत्ति को छिपाने अथवा समर्थित करने के हेतु आड़ बना रखा है।

पिछले अध्यायों में दिखलाया गया है, कि इनमें से किसी

एक सत्य के सार को भी समझ कर उसके अनुसार जीवन बनाने से जीवन कितना उन्नत बनाया जा सकता है। इतने अधिक प्राकृतिक नियमों के भेद संसार में अन्य किसी वर्त्तमान जाति को उपलब्ध नहीं थी। यह हमारा सौभाग्य है कि हम को इन सत्यों को औरों से बढ़ कर जानने का अवसर मिला। पर इन प्राकृतिक सत्यों के संरक्षक होने के कारण हमारे ऊपर एक प्रकार की बड़ी ज़िम्मेवारी भी आती है। हम को औरों से बढ़ कर अपने जीवन में इन नियमों का व्यवहार करना चाहिये। पर खेद है कि हम उनके प्रायः ठीक विपरीत आचरण कर रहे हैं। हम ने कुछ बहुत बड़ा पुण्य किया था, जिससे इन तथ्यों को औरों से पेशतर जानने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। ऐसा शुभ अवसर मनुष्य अथवा जातियां के लिये अत्यन्त दुर्लभ है। पर उस दुर्लभ स्वर्ण अवसर को भी हम खो रहे हैं। न जानें इसका क्या दुष्परिणाम हम को भोगना पड़ेगा।

पर हताश होने की कोई बात नहीं है। हम को केवल इन सत्यों के मूल तत्त्वों के ग्रहण करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से अभी भी हम देखेंगे, कि उनका सदुपयोग कर के हम अपने जीवन को पूर्ण रूप से सार्थक बना सकते हैं। पर याद रखनी चाहिये कि उन से हम तभी लाभ उठा सकेंगे, जब हम नियमित रूप से उन पर चलेंगे।

यह भी दिखलाया जा चुका है, कि इस पुस्तक में जितने धार्मिक तथ्यों अथवा नियमों का वर्णन किया गया है, वे सभी प्राकृतिक नियम हैं, और इस लिये अपने सङ्कीर्ण भावों को छोड़

कर हमें उनको हमेशे व्यापक रूप में देखने की कोशिश करनी चाहिये। साथ ही इस बात को भी स्मरण रखना चाहिये, कि वैज्ञानिक नियमों के अनुसार ये नियम भी अवश्यम्भावी सदा अपना कार्य करते रहते हैं। कोई इनको जाने अथवा न जाने, इससे उनके कार्य में कुछ बाधा नहीं आती। और वैज्ञानिक नियमों की ही नाईं इनकी सत्यता की जांच भी की जा सकती है।

हाल में थियोसौफिकल सोसाइटी के द्वारा कुछ जीवन मुक्त महात्माओं ने इन जीवन के अनेक तथ्यों को समस्त संसार में प्रचार करने का अवसर दिया है। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा यह कार्य अत्यन्त निपुणता पूर्वक किया जा रहा है। इसमें कितने ही ऐसे सदस्य बर्त्तमान हैं, जिन्हों ने योग साधन द्वारा जीवन के इन रहस्यों का अनुभव प्राप्त कर के स्वतः उन का समर्थन किया है। इस लिये इस संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में बर्त्तमान योगियों के अनुभव ज्ञान बर्त्तमान रहने से अनेक धार्मिक नियमों के सम्बन्ध में ऐसी बातें मालूम होती हैं, जिन का पता इस समय अन्य बर्त्तमान धर्म पुस्तकों से नहीं चल सकता। यहां पर ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिये। धार्मिक, प्राकृतिक तथ्यों का सार सभी धर्म ग्रन्थों में मौजूद है। पर जब तक कोई अनुभवी पुरुष उनके रहस्यों अथवा असली अर्थों को न बतलाये, तब तक केवल अक्षर अथवा भाषा ज्ञान प्राप्त कर के उनको जानना असम्भव है। उनके अनुभव प्राप्त करने की प्राचीन प्रथा कुछ दूसरी ही थी। आज हम केवल पढ़ कर

उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। यह सम्भव नहीं है। यदि उनके सार को हम समझना चाहें, तो हम को पुनः योग साधन का ही अवलम्ब लेना पड़ेगा, जिसका इस समय दुर्भाग्य-वश इतना अभाव दीख पड़ता है।

यही कारण है कि तत्त्वों, लोकों तथा मनुष्य के कोषों अथवा शरीरों का इतना व्यापक ज्ञान धर्म पुस्तकों में दिये रहने पर भी अब तक हम उनके असली अभिप्राय को नहीं जानते थे। नर्क, स्वर्ग आदि अनेक लोकों की बातचीत लोग बराबर करते हैं; पर साधारणतः उन्हें यह नहीं मालूम रहता है, कि इन लोकों से असली अभिप्राय क्या है और ये कहां हैं। इस कारण इनके सम्बन्ध में लोग तरह २ के अनुमान किया करते हैं। वैसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के भी सार तत्त्व को हम नहीं जानते हैं, जो वास्तव में मनुष्य के भिन्न २ कोष अथवा शरीर हैं। पहिले कहा जा चुका है, कि प्राचीन प्रथा के अनुसार केवल ऋषि महात्मा लोग इनके भेदों को जानते थे और केवल अधिकारी शिष्यों को ही बतलाते थे। बाह्य पुस्तकों में यद्यपि इन का नाम दिया हुआ है, पर वहां उनका भेद नहीं खोला गया है। उन्हीं महात्माओं ने संसार की आवश्यकता को समझ कर इन सत्यों के अनेक भेदों को थियोसौफिकल सोसाइटी द्वारा प्रगट किया है, और इसलिये उस सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से इन सत्यों के सम्बन्ध में ऐसे मार्मिक अर्थों का पता चलता है, जिनका साधारणतः उतने स्पष्ट रूप से अन्यत्र वर्णन नहीं पाया जाता।

हिन्दू तथा बौद्ध धर्म की पुस्तकों से इन प्राकृतिक सत्यों का बहुत कुछ पता चलता है। अभी हिन्दू धर्म के अनेक सत्य हैं, जिन पर थियोसौफ़ी द्वारा भी बाह्य पुस्तकों में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। हो सकता है, भविष्य में उन पर अधिक प्रकाश पड़ सके। इसलिये प्रत्येक स्रोत से ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिये। बिशप लेडबीटर ने अपनी योग शक्तियों अथवा दिव्य दृष्टि द्वारा ईसाई धर्म के भिन्न २ संस्कारों तथा पूजा विधियों का अनुसन्धान कर के प्रचलित रिवाजों में बहुत कुछ संशोधन किया है। हिन्दू धर्म में तो ऐसे अन्वेषणों का और अधिक विस्तृत क्षेत्र है। पर खेद है कि अभी तक किसी हिन्दू योगी ने योगिक अन्वेषणों द्वारा भिन्न २ धार्मिक रीतियों के संशोधन का प्रयत्न नहीं किया है। बिशप लेडबीटर ने ही अड्यार में स्थापित भारत समाज मन्दिर की पूजा विधि का अनुसन्धान दिव्य दृष्टि द्वारा करते समय इस बात का वर्णन किया था कि गायत्री मन्त्र के उच्चारण मात्र से अनेक लोकों में एक अत्यन्त दिव्य शक्ति प्रगट होती है, और उसका प्रभाव पूजा करने वालों से लेकर दूर २ तक के मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों पर पड़ता है। उसी सम्बन्ध में उन्होंने और भी अनेक बातों को प्रगट किया था, जिनका वर्णन भारत समाज द्वारा प्रकाशित 'नित्य पूजा विधान' नामक पुस्तक में पाया जायगा। पर लेडबीटर साहेब हिन्दू विधियों का अधिक अनुसन्धान नहीं करना चाहते, क्योंकि वे अन्य कार्यों में बझे रहते हैं। इसके अलावे इस कार्य को तो किसी हिन्दू योगी को ही करना चाहिये। आशा

है निकट भविष्य में कोई हिन्दू सदस्य योगाभ्यास द्वारा अपनी दिव्यदृष्टि को विकसित कर के हिन्दू पूजा विधानों का अनुसन्धान करने की प्रबल चेष्टा करेंगे, और वर्त्तमान रीतियों में समुचित संशोधन कर के हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज की विशेष सेवा के भागी होंगे।

यदि उचित रीति से कोशिश की जाय, तो प्रत्येक मनुष्य इन प्राकृतिक तथ्यों का पता लगा सकता है। इसके लिये कैसे जीवन, कैसे त्याग अथवा कैसे गुणों के प्राप्त करने की आवश्यकता है, इसका कुछ वर्णन पीछे किया जा चुका है। यदि प्रत्येक मनुष्य सभी प्राणियों में केवल एक जीवन देखने की कोशिश करे, तो अपनी गुप्त शक्तियों के विकास में वह विशेष सहायता पहुंचा सकता है। मि० जिनराजदास ने 'थियौसोफ़ी के मूल सिद्धान्त' (First Principles of Theosophy) नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है, कि यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियों के देखने पर अपने हृदय में इस भाव को लाने की कोशिश करे, कि ये भी हम ही हैं, ये भी हमारे ही भिन्न २ स्वरूप हैं, तो उसके हृदय की दृष्टि बहुत शीघ्र विकसित होगी और आप से आप वह एक २ कर के धार्मिक सिद्धान्तों के सत्यों को समझने लगेगा। केवल इन्द्रियों अथवा मस्तिक ही द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के और भी रास्ते हैं। हमारे त्याग, हमारी अभिलाषायें, इत्यादि, भी अदृश्य रूप से ज्ञान प्रगट होने के भिन्न २ द्वारों को हमारे भीतर खोलती हैं। इस लिये इनका भी समुचित

प्रयोग करना चाहिये।

धर्म के तत्त्वों को समझ कर उनके अनुसार चलने से जीवन का बोझ बहुत हल्का हो जाता है: बल्कि जीवन एक सुन्दर खेल बन जाता है। मृत्यु का भय तो एक दम दूर हो जाता है। जिन आपत्तियों से मनुष्य बहुत दूर भागते हैं, उनके भीतर अपनी मुक्ति की कूंजी नज़र आने लगती है; और इस लिये मनुष्य आपत्तियों का सहर्ष आवाहन करते हैं और सामने आने पर उनका हृदय से स्वागत करते हैं। इस प्रकार झंझटों में सुख और आपत्तियों में आनन्द का प्रदर्शन होने लगता है। घबड़ाहट भी दूर हो जाती है, क्योंकि अनन्त जीवन सामने नज़र आता है; और पुनर्जन्म के साथ २ अवश्यम्भावी अचल न्याय पूर्ण कर्म का नियम भी लगा हुआ दीख पड़ता है, जिससे मनुष्य को अटल विश्वास हो जाता है, कि उसके साथ कभी कोई अन्याय नहीं हो सकता। साथ ही विकास का नियम उसको स्मरण दिलाता है, कि अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य उसके सामने वर्त्तमान है और एक न एक दिन प्रत्येक मनुष्य वहां अवश्य पहुंचेगा। इसी प्रकार विकास की भिन्न २ अवस्थाओं का ज्ञान होने से वह अपने मार्ग को अच्छी तरह से समझ लेता है, कि किस प्रकार उसको क्रमशः अपने जीवन को परिवर्तित करते जाना चाहिये। इस प्रकार सानन्द वह जीवन के क्रम पर आगे बढ़ता जाता है।

जो अभी धर्म के तत्त्वों को भली भांति नहीं समझ पाये हैं, उनको क्रमशः उनके समझने की कोशिश करनी चाहिये।

पूर्ण ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के भीतर वर्त्तमान है और कोशिश करने से प्रत्येक मनुष्य उसको प्रकाशित कर सकता है। पर इस बात के लिये बैठे नहीं रहना चाहिये कि जब पूर्ण ज्ञान होगा, तभी कार्य करेंगे। ऐसा करने से ज्ञान नहीं मिल सकता। जहां तक धर्म का उच्चतम रहस्य मालूम हो, वहां तक उसी के अनुकूल अपना जीवन बनाना चाहिये, और ऐसा करने से धर्म के अन्य सूक्ष्म रहस्य भी आप से आप प्रगट हो जायेंगे; इस लिये सदा छोटे २ कामों में, छोटी २ बातों में धर्म के नियमानुसार चलने की कोशिश करते रहनी चाहिये। दूसरों पर कभी अपनी इच्छा का दबाव नहीं डालना चाहिये। याद रखनी चाहिये कि भगवान के महान् विधान में प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तु का अपना २ नियत स्थान है। इस लिये किसी के साथ छेड़छाड़ न कर किसी को नीचा अथवा तुच्छ न समझ कर सब के साथ भ्रातृभाव अर्थात् प्रेम का संचार करते रहना चाहिये और यथा सम्भव निःस्वार्थ भाव से संसार की सेवा में लगे रहना चाहिये। यही धर्म का मूल तत्त्व है। इसी के अवलम्ब पर मनुष्य जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंचा जा सकता है।

॥ ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥

मुद्रक—
श्री रमेश प्रसाद, बी० एस्-सी०,
रमेश प्रिन्टिङ्ग वर्क्स, पटना।

पुस्तक मिलने का पता:—
सुपरिन्टेन्डेन्ट, थियोसौफ़िकल बिल्डिंग्स,
पो० बांकीपुर, पटना।